विश्व हिंदी पत्रिका
2019

प्रधान संपादक
प्रो. विनोद कुमार मिश्र

संपादक
डॉ. माधुरी रामधारी

विश्व हिंदी सचिवालय
इंडिपेंडेंस स्ट्रीट, फ़ेनिक्स 73423,
मॉरीशस

World Hindi Secretariat
Independance Street, Phoenix 73423,
Mauritius

info@vishwahindi.com
वेबसाइट / Website : www.vishwahindi.com
फ़ोन / Phone : +230-6600800, **फ़ैक्स** / Fax: 00-230-6064855

ISSN No. : 1694-2477

सहायक संपादक
श्रीमती श्रद्धांजलि हजगैबी-बिहारी

संपादन सहयोग
डॉ. वेद रमण पांडेय

टंकण टीम
श्रीमती विजया सरजु, श्रीमती त्रिशिला आपेगाडु,
श्रीमती जयश्री सिबालक-रामसर्न

निवेदन
विश्‍व हिंदी पत्रिका में प्रकाशित लेखों के विचार लेखकों के अपने हैं।
विश्‍व हिंदी सचिवालय और संपादक मंडल का उनके विचारों से सहमत होना आवश्यक नहीं है।

पृष्ठ सज्जा
आर. एस. प्रिंट्स

स्टार पब्लिकेशंस प्रा. लि., 4/5 बी, आसफ अली रोड,
नई दिल्ली-110002 (भारत) द्वारा प्रकाशित

अनुक्रम

हिंदी : उद्‌भव एवं विकास

1.	चीन में हिंदी : उद्‌भव और विकास	- श्री विकास कुमार सिंह	03
2.	पूर्वोत्तर के सीमांत प्रांतों में हिंदी की स्थिति	- श्री अमरेन्द्र त्रिपाठी	09
3.	महाराष्ट्र में हिंदी की स्थिति	- डॉ. अनीता गांगुली	19
4.	क्रोएशिया में भारत विद्या - विकास, स्वरूप एवं दृष्टि	- डॉ. विसेंजा ग्राबोवाक	24

हिंदी : लिपि, साहित्य और संस्कृति

5.	विलुप्तप्राय टांकरी लिपि को पुनर्जीवित करने के भगीरथ प्रयास	- डॉ. हरीश चंद्र लखेड़ा	29
6.	देवनागरी लिपि का वैज्ञानिक पक्ष	- डॉ. रश्मि वार्ष्णेय	35
7.	हिंदी का पहला उपन्यास	- श्री योगेश्वर तिवारी	38
8.	मॉरीशस में हिंदी का साहित्यिक क्षेत्र	- श्री इन्द्रदेव भोला इन्द्रनाथ	45
9.	हिंदी लघुकथा के शीर्षक पर विभिन्न अवयवों के प्रभाव का अध्ययन एवं विश्लेषण	- डॉ. चंद्रेश कुमार छतलानी	48
10.	प्रवासी हिंदी साहित्य की अपेक्षाएँ	- डॉ. विनय सितिजोरी	57
11.	वैश्विक हिंदी और भारतीय संस्कृति	- प्रो. सुशील कुमार शर्मा	61
12.	हिंदी एवं भारतीय संस्कृति	- डॉ. साकेत सहाय	65

हिंदी का ई-संसार और जन-माध्यम

13.	हिंदी, वेब और ऑनलाइन साहित्यिक पत्रकारिता	- श्री रोहित कुमार 'हैप्पी'	72
14.	ब्रिटेन में हिंदी मीडिया का इतिहास और वर्तमान	- डॉ. जवाहर कर्नावट	77
15.	गांधी की पत्रकारिता का भारतीय मॉडल	- डॉ. कमल किशोर गोयनका	82
16.	डॉ. कमल किशोर गोयनका का प्रवासी साहित्य एवं अन्य प्रवासी पत्रिकाएँ	- श्री कृष्ण वीर सिंह सिकरवार	88
17.	भाषाई विकास में लिप्यंतरण की भूमिका	- डॉ. राकेश शर्मा	97
18.	सिंगापुर : मीडिया में हिंदी	- डॉ. संध्या सिंह	100
19.	फ़िल्मों के माध्यम से भारतीय संस्कृति का संरक्षण	- डॉ. शशि दुकन	103

हिंदी-शिक्षण

20.	अहिंदी भाषियों में हिंदी-शिक्षा की चुनौतियाँ एवं प्रभावी प्रविधियाँ : एक अनुभव	- डॉ. रत्नाकर नराले	107
21.	अमेरिका में आधुनिक प्रौद्योगिकी द्वारा हिंदी भाषा-साहित्य का शिक्षण	- डॉ. नीलाक्षी फुकन	112
22.	विदेशी भाषा के रूप में हिंदी-शिक्षण का तकनीकी उपागम	- श्री अनुपम श्रीवास्तव	118
23.	रूस में हिंदी अध्ययन की स्थिति	- डॉ. मैक्सिम डेमचेंको	123

हिंदी : विविध आयाम

24.	राष्ट्र, राष्ट्रीयता और राष्ट्रभाषा हिंदी	- प्रो. कृष्ण कुमार गोस्वामी	126
25.	अस्मिता विमर्श और भारतीय डायस्पोरा	- डॉ. तनुजा रश्मि	134
26.	दक्षिण कोरिया और हिंदी : दो देशों का हार्दिक मिलन	- प्रो. दिविक रमेश	138
27.	यूरोपीय महाद्वीप में हिंदी	- डॉ. श्याम नारायण	145
28.	हिंदी की प्रथम वैश्विक प्रचारक संस्था : काशी नागरी प्रचारिणी सभा	- डॉ. राकेश कुमार दुबे	151
29.	औपनिवेशिक कालीन भारतीय प्रवास एवं उनसे जुड़े कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य : वर्तमान में प्रासंगिकता	- डॉ. एन. के. चतुर्वेदी	157
30.	स्वाधीनता आंदोलन में हिंदी	- श्री उमेश चतुर्वेदी	163

हिंदी : विशेष व्याख्यान

31.	भाषा और अधिगम की प्रक्रिया : स्वरूप और अंतर्संबंध पर एक दृष्टि	- डॉ. आनंद कुमार सिंह	168
32.	हिंदी में सृजनात्मक लेखन कार्यशाला के उपलक्ष्य में वक्तव्य	- डॉ. वेद रमण पांडेय	172

हिंदी : आज के प्रश्न

33.	विश्व हिंदी अभियान से भारतविदों को जोड़ने की आवश्यकता	- श्री सुरेश कुमार श्रीचंदानी	174
34.	कब सजेगी हिंद के माथे पर हिंदी की बिंदी?	- श्री गोवर्धन यादव	176

श्रद्धांजलि

35.	इस इतने बड़े शहर में एक कवि का होना	- डॉ. संजय कुमार	181
36.	श्रद्धांजलि 2019	विश्व हिंदी सचिवालय	186

MINISTER OF EDUCATION AND HUMAN RESOURCES,
TERTIARY EDUCATION AND SCIENTIFIC RESEARCH

संदेश

'विश्व हिंदी पत्रिका' ने अपनी यात्रा का एक दशक सम्पन्न किया है और अब उसका 11वाँ अंक प्रकाशित हो रहा है। इस उपलब्धि के लिए विश्व हिंदी सचिवालय को मैं हार्दिक बधाई प्रेषित करती हूँ। पत्रिका के साथ पुनः जुड़ना मेरे लिए प्रसन्नता की बात है।

हिंदी भाषा के संवर्धन में हिंदी–शिक्षण एक आधार–स्तंभ है और देश–विदेश में हिंदी–शिक्षण के क्षेत्र में नित्य नए प्रयोग हो रहे हैं। मॉरीशस में भाषा–शिक्षण की प्रविधियों पर किए गए विमर्श के परिणामस्वरूप हाल ही में प्राथमिक स्तर पर पूर्वी भाषाओं के पठन–पाठन की प्रणालियों में परिवर्तन लाया गया। एक ओर हिंदी में संप्रेषण–कौशल को विकसित करने पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है, तो दूसरी ओर हिंदी–अधिगम को अधिक रुचिकर बनाने के उद्देश्य टैब्लेट के प्रयोग की व्यवस्था की गयी है। जब भाषा के आधुनिकतम प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है तब हिंदी–शिक्षण में तदनुरूप नवीनता लाना भी स्वाभाविक हो जाता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि भाषा सिखाने की परंपरागत विधियाँ त्याज्य हैं। अब तक परंपरागत विधियाँ अपनी कारगरता सिद्ध करती आ रही हैं। आवश्यक है कि परंपरागत और अद्यतन प्रविधियों के बीच एक मधुर सामंजस्य स्थापित की जाए। इस विषय पर विश्व के अलग–अलग कोने के विद्वान निरंतर अनुसंधान के आधार पर विचारोत्तेजक लेख लिख रहे हैं, जिनका प्रकाशन 'विश्व हिंदी पत्रिका' के विभिन्न अंकों में होता आ रहा है। मुझे विश्वास है कि वैश्विक स्तर पर हिंदी के पठन–पाठन पर इन लेखों का सकारात्मक प्रभाव पड़ेगा।

जब किसी मंच से हिंदी के वैश्विक विस्तार का संकल्प लिया जाता है, तब अप्रत्यक्ष रूप से हिंदी–विषयक गतिविधियों में अभिवृद्धि का संदेश स्वतः निहित होता है। पत्रिकाओं का प्रकाशन, हिंदी में लेखन–प्रतियोगिताओं का आयोजन, संगोष्ठियों, कार्यशालाओं और सम्मेलनों का आयोजन, हिंदी नाटकों का मंचन आदि अनेक गतिविधियों से हिंदी के विकास की संभावनाएँ पुष्ट हो रही हैं। इसके अतिरिक्त जब हिंदी के प्रचार–प्रसार में कार्यरत संस्थाएँ एकजुट होकर कार्य करती हैं तब उन्हें हिंदी–प्रसार की चुनौतियों को पार करने की अद्भुत शक्ति प्राप्त होती है। विश्व की विभिन्न हिंदी प्रचारिणी संस्थाओं के साथ विश्व हिंदी सचिवालय का संपर्क जितना बढ़ता है, हिंदी की छवि में उतना ही निखार आता है। 11वें विश्व हिंदी सम्मेलन के दौरान विश्व हिंदी सचिवालय ने पूरे विश्व के प्रतिभागियों से संपर्क करते हुए उनके पंजीकरण, मॉरीशस में उनका ठहराव एवं सम्मेलन में उनकी प्रतिभागिता की सफलता निश्चित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर हिंदी का उन्नयन करने में भी विश्व हिंदी सचिवालय के संपर्क उपयोगी सिद्ध होंगे।

भाषा और संस्कृति के अखंड संबंध पर हमेशा विशेष बल दिया गया है। 'विश्व हिंदी पत्रिका' में हिंदी भाषा एवं भारतीय संस्कृति से संबंधित शोध–पत्रों को स्थान देने का ध्येय निश्चय ही इसी तथ्य की ओर विश्व का ध्यान आकृष्ट करना है कि यदि भारतीय संस्कृति को समझना है, तो हिंदी भाषा सीखना अनुमोदनीय है और जहाँ हिंदी भाषा उन्नत है, वहाँ भारतीय संस्कृति पर कोई आँच नहीं आ सकती। भाषा और संस्कृति के अभिन्न सम्बन्ध का सौंदर्य दर्शाने में 'विश्व हिंदी पत्रिका' कटिबद्ध है। इसके लिए पत्रिका के सम्पादक–मंडल के सभी सदस्य बधाई के पात्र हैं।

नूतन वर्ष अब द्वार पर दस्तक देने ही वाला है। आशा है कि हर नए वर्ष के साथ विश्व में हिंदी की व्यापकता अधिक प्रबल तरीके से अनुभूत हो और विश्व हिंदी सचिवालय का हर नया प्रयास सार्थक सिद्ध हो।

लीला दूकन लछमन

श्रीमती लीला देवी दकन–लछमन

भारतीय उच्चायुक्त
पोर्ट लुई, मॉरिशस

HIGH COMMISSIONER OF INDIA
PORT LOUIS, MAURITIUS

सत्यमेव जयते

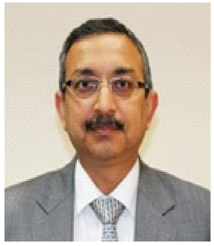

संदेश

विश्व हिंदी सचिवालय द्वारा अपनी वार्षिक 'विश्व हिंदी पत्रिका 2019' का प्रकाशन बड़ी प्रसन्नता का विषय है। इस पत्रिका का हर वर्ष 10 जनवरी को विश्व हिंदी दिवस के अवसर पर लोकार्पण किया जाता है। इस पत्रिका में हिंदी भाषा के विकास और प्रसार के विविध आयामों के विषय में आलेख सम्मिलित किये जाते हैं।

हिंदी आज केवल भारत, मॉरीशस अथवा कुछ अन्य देशों में ही सीमित नहीं है, बल्कि हिंदी भाषी लोग अब दुनिया के कई देशों में बसे हैं या कार्यरत हैं। ऐसा माना जाता है कि विश्व में लगभग 73 देशों व 300 संस्थानों में हिंदी पढ़ाने की व्यवस्था है। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा भी हिंदी के प्रयोग को बढ़ावा दिया जा रहा है। उनके द्वारा अपने सोशल मीडिया पर हिंदी में पोस्ट और हिंदी में समाचार बुलेटिन का प्रसारण गत वर्ष से आरम्भ हुआ है।

विश्व हिंदी सचिवालय द्वारा हिंदी भाषा के प्रसार की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य चल रहा है। हिंदी भाषा का अपना एक समृद्ध साहित्य है और हिंदी आलेख, कविता, उपन्यास, कहानी आदि की एक बड़ी धरोहर है। विश्व हिंदी सचिवालय को, हिंदी साहित्य की उत्कृष्टता को प्रोत्साहित करने के लिए विभिन्न तरीकों के बारे में ध्यान देना चाहिए। इस विषय में भारत एवं अन्य देशों के हिंदी में कार्यरत संस्थानों के सहयोग से कुछ क़दम उठाये जा सकते हैं।

विश्व के विभिन्न भागों में हिंदी की विभिन्न शैलियाँ और विचार हिंदी भाषा को और समृद्ध बनाते हैं। हिंदी की इस विविधता के प्रसार के विषय में भी विश्व हिंदी सचिवालय द्वारा और कार्य हो सकते हैं।

हिंदी भाषा को वैश्विक साहित्य में दर्जा प्राप्त कराने के विषय में भी विश्व हिंदी सचिवालय योगदान दे सकता है। विश्व भर से हिंदी साहित्य की चुनी हुई उत्कृष्ट कृतियों का अंग्रेज़ी में सुंदर अनुवाद कराने की व्यवस्था से हिंदी साहित्य के बारे में विश्व का ध्यान आकर्षित किया जा सकता है।

हिंदी के प्रयोग को बढ़ावा देने के लिए यह आवश्यक है कि हिंदी केवल साहित्य की पारंपरिक विधाओं में सिमट कर न रह जाए, बल्कि उसका प्रयोग हर विषय जैसे विज्ञान और टेक्नोलॉजी, मेडिसिन, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, वाणिज्य, प्रबंधन आदि में भी हो सके, इसकी ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। इसके लिए हिंदी की उपयुक्त शब्दावली पर भी काम करना होगा।

इन्हीं कुछ विचारों के साथ मैं विश्व हिंदी सचिवालय को विश्व हिंदी दिवस की शुभकामनाएँ देता हूँ और उनकी वार्षिक पत्रिका 2019 के प्रकाशन की सफलता की कामना करता हूँ।

तन्मय लाल

(तन्मय लाल)

6th Floor, LIC Building, John Kennedy Street, Port Louis, Mauritius
Tel: (230)208 3775/6 Fax: (230)2088891/2086859
hc.portlouis@mea.gov.in
www.hcimauritius.gov.in

प्रधान संपादकीय

हिंदी की काँपती प्रत्यंचा

विश्व हिंदी पत्रिका के 11वें अंक के साथ हिंदी जगत के सम्मुख विनयावनत भाव से समुपस्थित हूँ। इस पल ने प्रसन्नता व अवसाद के मुहाने पर ला खड़ा कर दिया है। प्रसन्नता की बात है कि सचिवालय की अकादमिक गतिविधियों में निरंतर बढ़ोत्तरी हो रही है, हिंदी की बढ़ती शक्ति से विश्व जन–मन की संकल्प शक्ति को उदग्रीव बनाने में सफलता भी प्राप्त हो रही है। दूसरी ओर आज़ादी के 70 वर्ष बाद भी देश में हिंदी की ठीक से प्राण–प्रतिष्ठा न की जा सकी। लोकतंत्र में फ़ैसले सर्वस्वीकार्यता से नहीं, बल्कि बहुमत से लिए जाते हैं। किंतु बहुमत से लिए गए निर्णयों की अस्वीकार्यता व उनके प्रति जनमानस की उदासीनता लोकतंत्र की असफलता की ओर संकेत करते हैं। फिर कमाल पाशा की याद आना स्वाभाविक है। लेकिन कमाल पाशा बनने का वक्त गुज़र चुका है। अब यह विचार किया जाना चाहिए कि हिंदी को विश्वभाषा बनाने में उसकी क्षमताओं का मूल्यांकन किस प्रकार किया जाए?

हम विश्व भाषा से यह उम्मीद करते हैं कि उसका भौगोलिक विस्तार कहाँ तक है, उसकी स्वीकार्यता व अभिव्यक्ति की ताकत कितनी है, उस भाषा में विश्व जन–मन की उपस्थिति कितनी है तथा उसके वैश्विक संवाद की संवाहिका बनने की क्षमता कितनी है? जहाँ तक भौगोलिक विस्तार का प्रश्न है, तो हिंदी की सार्थक उपस्थिति लगभग सभी महाद्वीपों में है। कमोबेश हिंदी बोलने, लिखने व समझने वालों की वैश्विक तादाद लगातार बढ़ रही है। अनुवाद के माध्यम से भी हिंदी अपनी वैश्विक स्थिति का भान कराती रही है।

हिंदी अपनी वैश्विक धमक कायम रखने में अग्रगामी रही है। संवाद के वैश्विक गवाक्ष खोलने में सतत् अग्रसर हिंदी की स्वीकार्यता स्वयं सिद्ध हुई है। साथ ही इसने अभिव्यक्ति की क्षमता, सर्वस्वीकृत मानक रूप, सम्प्रेषणीयता, जनपदीय बोलियों को अपने भीतर आत्मसात करते हुए अस्मिता को मज़बूती प्रदान करने में सतत् सन्नद्ध हो, भाषाई सम्प्रीति का अनुपम उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। अनुसंधान, चिंतन, दर्शन, मीडिया, अनुवाद, ज्ञान–विज्ञान, तकनीक एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में यह पूरी जीवंतता के साथ मौजूद है।

साहित्य पर विचार करने पर यह परिलक्षित होता है कि इसमें परंपरा और प्रयोग की प्रबल आकांक्षा रही है। सिद्ध–नाथ, जैन व भक्ति साहित्य से होते हुए यह आधुनिक काल में स्वाधीनता का स्वर मुखरित करने में अग्रसर रही है। भारतीय सीमाओं के परे एशिया सहित अन्य भूभाग तक अपनी उपस्थिति दर्ज कर अपने केन्द्रीय स्वर को सार्वभौमिकता प्रदान करने में भी हिंदी पीछे नहीं रही है। इसकी आधुनिकता न तो उधार की है और न ही आयातित है। इसमें विश्व मानव की सशक्त उपस्थिति, इसे और विशिष्ट बनाती है, किंतु सहजता का कहीं त्याग नहीं करती, बल्कि दूसरे को सहभागी बनाते हुए सामान्य से जुड़ने की ललक हिंदी में सर्वाधिक है। यह विग्रह नहीं संधि की भाषा है। संधि में विनम्रता का स्वर, 'स्व' में 'पर' और 'पर' में 'स्व' को पाने की ललक से विमर्श के गवाक्ष भी खुलते हैं। ये सारी क्षमताएँ इसे सहज रूप से विश्वभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त हैं। हिंदी अपने संख्या–बल के सहारे बाज़ार में अपनी उपस्थिति बनाए हुए है, वरना सूचना क्रांति की आँधी में साम्राज्यवादी शक्तियाँ अपने आधिपत्य से हिंदी की सांस्कृतिक विरासत को कब का बहा चुकी होतीं। हिंदी के माझी कब का उसे डुबो चुके होते किंतु बाज़ार और हिंदी की मैत्री के बंधन उसे आश्वस्ति प्रदान कर रहे हैं। निःसंदेह हिंदी मीडिया (प्रिंट/इलेक्ट्रोनिक), विज्ञापन, मनोरंजन, आदि की माध्यम भाषा बन चुकी है। प्रौद्योगिकी प्रदत्त यांत्रिकी के साथ सहज हो चुकी हिंदी बहुराष्ट्रीय कंपनियों को अपनी ओर आकर्षित कर रही है। हिंदी का भविष्य उज्ज्वल दिख रहा है। संचार क्रांति के पथ पर आरूढ़ हिंदी अपनी विजय पताका फहराने के लिए उद्यत है।

एक ओर हिंदी की ये उपलब्धियाँ खुश तो करती हैं, वहीं दूसरी ओर चिंता यह भी होती है कि राजनीतिक जुमलों और बाज़ार की

चमक–दमक में कहीं यह हमारे दैनिक जीवन से ओझल न हो जाए, हमारी अभिव्यक्ति का माध्यम बनने से इनकार न कर दे। बाज़ार, मीडिया, विज्ञापन की चकाचौंध में हमारे मूल्यों की रक्षा करने के दायित्व बोध से पीछे न हट जाए। धर्म, संस्कृति व सौहार्द को बाज़ार के हवाले न कर दे। लोकतांत्रिक मूल्यों को समय से पूर्व पतझड़ में न तब्दील कर दे। भाषा जब बाज़ार के अधीन होती है, तब सबसे पहले अभिव्यक्ति को खतरे की आहट सुनाई देती है। अभिव्यक्ति शून्यता को लोकतंत्र के 'इति' की घोषणा के रूप में स्वीकार करना समय की मजबूरी बन जाती है। जब बाज़ार निर्मित संसार लोभ और लाभ के फलसफ़े से संचालित होने लगता है, तब बाज़ार की साज़िशों का सीधा आक्रमण व्यक्ति की निजता और अस्मिता पर होता है, जिसे किसी भी प्रकार से तार्किक व उचित नहीं ठहराया जा सकता।

भाषा का आधार केवल भाषाई संप्रेषण और उसकी रचना की समसामयिकता से नहीं बनता। भाषा के सांस्कृतिक आधार की सुदीर्घ व गौरवशाली परंपरा रही है। संस्कृति की संरचना में भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। उसके पीछे सांस्कृतिक परम्परा की सर्जनात्मक शक्ति पूरी सक्रियता के साथ खड़ी रहती है। भाषिक व्याप्ति भाषा की शक्ति व सम्प्रेषण के व्यावहारिक विस्तार, भाषा को संसार में उच्च स्थान प्रदान करते हैं। जहाँ तक हिंदी का प्रश्न है, राजनीतिक विघ्न–बाधाओं के बावजूद हज़ार वर्षों की ऐतिहासिक यात्रा में इसने सम्प्रेषण से काव्य भाषा तक की यात्रा में उपलब्धियों के कई नए मानकों का निर्माण किया है, भारत सहित तमाम प्रवासी देशों में अपनी आन्दोलनधर्मी चेतना शक्ति के बलबूते यह सम्प्रेषण और संवाद की भाषा बनी। काव्य और काव्य संवेदना से होते हुए कथा और पत्रकारिता की ओर सरपट दौड़ने में यह अग्रगामी बन गई। यद्यपि पूरी दुनिया में बीसवीं सदी गद्य की सदी बनकर, नव उन्मेष के रूप में एक अद्भुत घटना बन 'काव्य संस्कृति' की केन्द्रीयता को चुनौती दे रही थी, किन्तु इसके विपरीत हिंदी कविता और गद्य दोनों सामान्य जन को अभिव्यक्ति प्रदान कर रहे थे। जीवन परम्परा का रचनात्मक और सांस्कृतिक आधार हिंदी के अर्थबोध को बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा था। हिंदी पश्चिमी भाषाओं की तरह नहीं है। यह अनेक भुजाओं वाली भाषिक संपदा से सम्पन्न भाषाओं का समुच्चय है, जिसकी सांस्कृतिक, आध्यात्मिक व दार्शनिक ताकत लोक की सामुदायिक जीवन परम्परा को पूर्णता प्रदान करते हुए जनपदीय संस्कृतियों को शक्ति पुंज बनाती है।

एक प्रश्न यह भी है कि क्या हिंदी रचना और विमर्श दोनों मोर्चों पर अपने लोक आधार से विच्छिन्न होती दिख रही है, लोक चेतना व देशज चिंतन में पीछे है? यदि ऐसा है तो इसे सांस्कृतिक अर्थबोध की भाषा बनने और स्वयं एक 'संस्कृति' बनने में थोड़ा समय तो लगेगा और उसे यह यात्रा पूरी भी करनी होगी।

एक ओर वर्षों से हिंदी समय के धनुष पर प्रत्यंचा की तरह तनकर बैठी है। संयुक्त राष्ट्र के लक्ष्य संधान के लिए बार–बार खींची जाती है, किंतु कंपन आड़े आ जाता है। तमाम कोशिशों के बावजूद यथास्थिति बनी हुई है। स्वयं के आवश्यक संतुलन में साधे जाने की महनीय कामना के साथ वह धनुर्धर का निरंतर साथ भी देती रही है। दूसरी ओर समूचा जन–मानस टंकार का जयघोष सुनने को आकुल है। इस अकुलाहट में हम यहाँ भूल जाते हैं कि टंकार की गूँज धनुष से नहीं प्रत्यंचा से होकर निकलती है। समय का धनुष प्रत्यंचा को कान तक खींचने से पूर्व ही कंपन दे जाता है। फिर न तो लक्ष्य भेदन और न ही प्रत्यंचा से टंकार का जयघोष सुनना संभव हो पाता है। जब तक हम आँकड़ों की जादूगरी व सरकारी आदेश और प्रोत्साहन की कागज़ी आकांक्षा से हिंदी को मुक्त नहीं करेंगे, न तो निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति संभव है और न ही प्रत्यंचा का कंपन दूर हो सकेगा। हाँ, व्यापार की भाषा के रूप में मीडिया की मंडी में इसे ताकतवर बनाकर पेश अवश्य किया जाता रहेगा क्योंकि विश्व बाज़ार में तथाकथित विश्व भाषा की चौधराहट कायम है, किन्तु भारतीय बाज़ार में वर्चस्व बनाए रखने के लिए उस भाषा का सहारा लेना ही पड़ेगा, जो देश की अस्मिता हो। हिंदी ने उनके भाषाई साम्राज्यवाद के मंसूबों पर पानी फेर दिया है। इस बचाव की प्रक्रिया को हिंदी के विकास से जोड़ना कहाँ तक जायज़ है? इसे हिंदी को बाज़ारू बनाना कहेंगे। बदली हुई परिस्थिति में भाषा में संस्कृति और संस्कृति में भाषा की तलाश करना टेढ़ी खीर है। सम्पादकीय अनुशासन ध्वस्त हो चुका है। मीडिया ने भी भाषा को सही और गलत के द्वंद्व में लाकर खड़ा कर दिया है। वे हिंदी में कार्यक्रम देने के दायित्व को स्वीकार तो करते हैं, किन्तु कार्यक्रमों की हिंदी कैसी हो, इस पर चुप्पी साध लेते हैं। ये बाज़ार केन्द्रित हिंदी को नया चोला पहनाकर युगानुरूप विकास व हिंदी की राह सुगम बनाने के नाम पर शुचिता और संस्कृत गर्भित भाषा के प्रति दुराग्रह को न्यायसंगत बनाने की हरसंभव कोशिश करते हैं। भाषा में ग्रहण और त्याग की प्रवृत्ति का होना तो जायज़ है, किन्तु सरलीकरण और बाज़ार की ज़रूरतों की आड़ में भाषाई अराजकता को बढ़ावा नहीं दिया जा सकता। किसी भाषा विशेष की तथाकथित सम्पन्नता की बैसाखी से हिंदी के अंगद के पावों को डिगाने की असफल कोशिश करना, हिकारत की नज़र से देखना और उसको परमुखापेक्षी बनाना बड़े खतरे का आगाज़ है। इस तरह की कोशिश भाषा और भाव दोनों की स्वाभाविक गरिमा की हत्या की साज़िश के सिवाय कुछ नहीं हो सकती। आयातित मुहावरों से आमजन का गूंगापन बढ़ेगा। सांस्कृतिक अस्मिता के लिए यह बड़े खतरे का संकेत है। तथाकथित उन्नत भाषा व वैश्विक जीवन मूल्यों के नाम पर भाषा और संस्कृति के कृत्रिम मायाजाल में हमारी सभ्यता को फाँसने की कोशिश अवश्य की जा

रही है। इस व्यूह रचना को तोड़ने तथा पराजित मनोवृत्ति से बाहर निकलकर उपस्थित चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए हिंदी के धनुर्धर को इसकी कांपती प्रत्यंचा को स्थिरता प्रदान करते हुए इस निर्णायक युद्ध में टंकार का जयघोष करना ही होगा। उत्कृष्ट सांस्कृतिक विरासत के आलोक में भाषा और संस्कृति के नाभि नाल सम्बन्ध को सुदृढ़ बनाकर राष्ट्रीय वैशिष्ट्य की अर्थवत्ता को विस्तार की अनंत संभावनाओं तक ले जाने का समय आ गया है। इस बात का हमेशा ध्यान रखा जाना चाहिए कि मानवीय संस्कृति की उपलब्धि भाषा है और बदली हुई परिस्थिति में, नए व्यावसायिक परिधान की आड़ में इसकी मूल आत्मा के परिधान का ह्रास न हो तथा उसकी व्यापक गरिमा धूमिल न हो। बाज़ार के गणित और अर्थ शास्त्र की तुला पर इसे कभी न चढ़ाया जाए, अन्यथा इसके आहत स्वाभिमान को वापस लाने के सारे प्रयास व्यर्थ चले जाएँगे।

– प्रो. विनोद कुमार मिश्र
महासचिव

संपादकीय

नए भाव की उत्पत्ति

विश्व में हिन्दू समुदाय जितना बड़ा है, हिंदी के प्रति हिन्दुओं के भाव भी उतने ही विविध हैं। कुछ हिन्दू इस सोच से घर पर अपने बच्चों से हिंदी में वार्तालाप करते हैं कि बच्चे स्कूल जाएँगे, तो अन्य भाषाएँ सीख ही लेंगे और अन्य भाषाओं का वर्चस्व होने के कारण वे स्वाभाविक रूप से घर के बाहर उन्हीं भाषाओं का प्रयोग करेंगे। कम–से–कम अपने घर में अपनी भाषा हिंदी का राज होना समीचीन है। कुछ हिन्दू अपने बच्चों को स्कूल के अतिरिक्त सायंकालीन अथवा रविवारीय हिंदी पाठशालाओं में भेजते हैं, ताकि हिंदी की उनकी पकड़ गहरी हो। कुछ हिन्दू यद्यपि विज्ञान, अभियांत्रिकी, प्रौद्योगिकी, अर्थशास्त्र, गणित, नृत्य, संगीत, चित्रकारी आदि भिन्न क्षेत्रों में विशेषज्ञता प्राप्त कर रहे हैं, तथापि इस विचार से हिंदी भी सीख रहे हैं कि भविष्य में यह भाषा भी काम आ सकती है। अपनी संस्कृति पर गर्व होने के कारण कहीं हिंदी को महत्त्व दिया जा रहा है, तो कहीं भारत के प्रति सघन आत्मीयता के कारण भारतीय प्रवासी हिंदी से जुड़े हुए हैं।

विश्व के हिन्दू समुदाय में यह भी दृष्टिगोचर होता है कि कहीं घर पर बच्चों के साथ इस सोच से अंग्रेज़ी, फ्रेंच आदि विदेशी भाषाओं में व्यवहार किया जा रहा है कि स्कूल में बच्चे इन तथाकथित महत्त्वपूर्ण भाषाओं को आसानी से समझ सकेंगे और परीक्षा में उन्हें अच्छे अंक प्राप्त होंगे। घर में हिंदी को स्थान न देने के अतिरिक्त कुछ हिन्दू अभिभावक पत्र लिखकर मुख्य अध्यापक को सूचित करते हैं कि उनके बच्चे स्कूल में हिंदी नहीं पढ़ेंगे। अर्थात् वे न घर के भीतर और न ही घर के बाहर हिंदी से अपने बच्चों का संपर्क होने देते हैं। हिन्दू समुदाय के कतिपय सदस्य यह मानकर चलते हैं कि हिंदी से जब रोज़गार और प्रतिष्ठा प्राप्त करने की संभावनाएँ कम हैं और हिंदी द्वारा अधिक धन कमाया नहीं जा सकता, तब इस भाषा को सीखने से क्या लाभ? अपनी संस्कृति की अपेक्षा विदेशी संस्कृति पर ज़्यादा गर्व होने के कारण हिंदी को ठुकराने में कुछ हिन्दुओं में झिझक दिखाई नहीं देती है।

हिंदी से रोज़ी रोटी कमाने वाले शिक्षकों के मन में भी अलग प्रकार के भाव दृष्टिगोचर होते हैं। एक वर्ग के हिंदी शिक्षक अपने विद्यार्थियों को श्रद्धा और समर्पण भाव से हिंदी पढ़ाते हैं। वे बैठकाओं में भी न्यूनतम वेतन में बड़े चाव से हिंदी का अध्यापन करते हैं। उनका प्रयास रहता है कि हिंदी की कक्षा में विद्यार्थियों की संख्या न घटे। ऐसे कर्मठ शिक्षकों से प्रेरित होकर छात्र हिंदी के क्षेत्र में भावी अध्ययन के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। ये शिक्षक अपनी व्यक्तिगत व्यस्तताओं के बावजूद समय निकालकर हिंदी के कई कार्यक्रमों का आयोजन करते हैं अथवा हिंदी संबंधी गतिविधियों में व्यापक उत्साह से भाग लेते हैं। जब पाठशाला के बाहर किसी हिंदी विद्यार्थी से उनकी भेंट होती है, तब वे हिंदी में ही संवाद करते हैं। हिंदी–सृजन के क्षेत्र में भी अपनी कलम आज़माने का प्रयत्न करते हैं। रेडियो तथा टेलीविजन के हिंदी कार्यक्रमों में इन शिक्षकों की आवाज़ गूँजती है। हिंदी के उन्नयन हेतु वे नाना प्रकार के संघर्ष करने के लिए तैयार रहते हैं।

शिक्षकों का एक दूसरा वर्ग भी है, जिसमें हिंदी के माध्यम से शिक्षक आजीविका तो कमाते हैं, किन्तु हिंदी पढ़ाने में उनका मन नहीं लगता है। कुछ अध्यापक हिंदी–शिक्षण संबंधी विविध उलझनों या व्यक्तिगत समस्याओं से कुण्ठित हैं, तो कुछ खुलकर कहते हैं कि अपनी पसंद की नौकरी न मिलने के कारण उन्हें विवश होकर हिंदी शिक्षक बनना पड़ा है। शिक्षण के प्रति उनकी गंभीरता की कमी के परिणामस्वरूप कई विद्यार्थी हिंदी की कक्षा में उपस्थिति देना बंद कर देते हैं। जब विद्यार्थियों की संख्या घटने लगती है, तब शिक्षक खुश होते हैं कि उन्हें बहुत थकना नहीं पड़ेगा। बैठकाओं में कम पगार में हिंदी पढ़ाने के लिए वे प्रस्तुत नहीं होते हैं। हिंदी के विद्यार्थियों से हिंदी की अपेक्षा किसी अन्य भाषा में बात करते हैं। हिंदी में सृजन करना तो दूर, कक्षा में भी बिना तैयारी के पहुँच जाते हैं। वे किसी भी मंच से हिंदी में बोलते हुए सुनाई नहीं देते हैं और हिंदी की गतिविधियों में भाग न लेने के लिए उनके पास हज़ारों बहाने होते हैं।

हिन्दू समुदाय में हिंदी के प्रति भावों की विविधता के कारण हिंदी कभी प्रगति के पथ पर अग्रसरित होती है, तो कभी उसके विकास की गति मंद पड़ जाती है। जिनके मन में हिंदी के प्रति स्नेह है, उन्हें इस भाव का इतना विस्तार करना होगा कि अपने ही समुदाय के बंधुओं की बिगड़ी हुई मानसिकता के आघात से वे हिंदी की बेहतर सुरक्षा कर सकें। किसी व्यक्ति की सोच को बदलना भले ही टेढ़ी खीर है, परन्तु असंभव नहीं है। हिंदी साधकों के हिंदी प्रेम में इतनी शक्ति आ जाए कि वे अपनी सांस्कृतिक धरोहर पर गर्व न करने वाले और हिंदी को अपनी अस्मिता का परिचायक न मानने वाले हिन्दुओं की मानसिकता में समूल परिवर्तन करने में समर्थ होवें।

अब तक विश्व में हिंदी के पुरोधा वही कहलाये हैं, जो प्रतिकूल परिस्थितियों में भी हिंदी के प्रति अपने विस्तृत भाव के कारण इस भाषा का ध्वज ऊँचा करने में सफल हुए हैं। भारत में हिंदी का नया ऐतिहासिक दौर आरम्भ करने वाले भारतेंदु हरिश्चंद्र हों या मॉरीशस में सांस्कृतिक व भाषिक जागरण हेतु सभाओं का भव्य आयोजन करने वाले वासुदेव विष्णुदयाल हों, फ़िजी में हिंदी–शिक्षण को सुव्यवस्थित करने वाले पं. अमीचंद विद्यालंकार हों या सूरीनाम में अपनी समूची पूँजी लगाकर हिंदी के अध्यापन को नियमितता प्रदान करने वाले श्री लक्ष्मण सिंह हों, दक्षिण अफ़्रीका में 'हिंदी शिक्षा संघ' की स्थापना करके हिंदी का भाग्य पलटने वाले पं. नरदेव वेदालंकार हों या गयाना में सभी आर्य समाज मंदिरों में हिंदी शिक्षा प्रारम्भ करने वाले भाई परमानंद हों; इन सभी विभूतियों ने विपरीत हवा के चलते कभी हार नहीं मानी। अपने देशकाल के लोगों में हिंदी का प्रेम जगाया और उसका विस्तार करने का भरसक प्रयत्न किया। आज के हिंदी सेवक यदि हिंदी के उपर्युक्त पुरोधाओं के कद का बनना चाहें, तो उन्हें जहाँ भी हिन्दूओं का खून पतला होता हुआ नज़र आ रहा है, वहाँ सुविचारित ढंग से हिंदी के प्रति नए भाव की उत्पत्ति करने में मनसा, वाचा और कर्मणा डट जाना है।

विसंस्कृतीकरण के बहाव में आने वाले हिन्दुओं को अब उन विदेशियों के हिंदी अनुराग से भी प्रेरणा लेनी होगी, जो अपनी सांस्कृतिक भाषा न होने पर भी हिंदी को सीखने और इसका प्रसार करने में निरंतर साधनारत हैं। चीन में हिंदी की मशाल को जलाए रखने वाले प्रो. यीन हूंय्वैन या जापान के प्रसिद्ध हिंदी साधक श्री क्युया दोई या फ़्रांस में इनालको के हिंदी विभाग की प्रमुख श्रीमती आनी मोंतो या जर्मनी में बौन विश्वविद्यालय के हिंदी प्राध्यापक डॉ. हेन्ज़ वर्नर वैस्लर या इटली के रोम विश्वविद्यालय में हिंदी से इटालियन में अनुवाद–कार्य में संलग्न प्रो. मिलानेत्ती या बल्गारिया के सोफ़िया विश्वविद्यालय की प्रतिबद्ध हिंदी अध्यापिका श्रीमती वाल्या मारिनोवा ने हिंदी में क्या देखा और पाया, जो हिन्दू देख और महसूस नहीं कर पाते हैं?

अगर हिन्दुओं की मानसिकता में आवश्यक सुधार न आए, तो निकट भविष्य में उन्हें अपनी ही भाषा के प्रति अपनी उदासीनता के कारण विदेशियों की हिंदी–सेवा के सामने लज्जित होकर सिर झुकाना पड़ेगा। इस शर्मनाक स्थिति से हिन्दू समुदाय को बचाने और भाषिक चलन को नयी दिशा प्रदान करने के लिए हिंदी संबंधी नए भाव की उत्पत्ति करने में अतिशीघ्रता दर्शानी होगी।

डॉ. माधुरी रामधारी
उपमहासचिव

हिंदी : उद्भव एवं विकास

1. चीन में हिंदी : उद्भव और विकास - श्री विकास कुमार सिंह

2. पूर्वोत्तर के सीमांत प्रांतों में हिंदी की स्थिति - श्री अमरेन्द्र त्रिपाठी

3. महाराष्ट्र में हिंदी की स्थिति - डॉ. अनीता गांगुली

4. क्रोएशिया में भारत विद्या - विकास, स्वरूप एवं दृष्टि - डॉ. विसेंजा ग्राबोवाक

चीन में हिंदी : उद्‌भव और विकास

– श्री विकास कुमार सिंह
पेइचिंग, चीन

भाषा किसी भी राष्ट्र की आत्मा होती है तथा उस राष्ट्र की संस्कृति की परिचायक होती है। चीन में भारत के बारे में जिज्ञासा प्राचीन काल से ही व्याप्त है, उसी के फलस्वरूप चीन के कई यात्री और बौद्ध धर्मावलंबी भारत की यात्रा पर आये तथा यहाँ के प्राचीन ग्रंथों को चीनी भाषा में अनुवाद कर चीनी नागरिकों की जिज्ञासा का शमन किया। प्राचीन काल में चीनी लोग भारत को जानने और समझने के लिए जिस भाषा का प्रयोग करते थे, वह मुख्य रूप से संस्कृत और पालि थी। पालि का प्रयोग मुख्य रूप से बौद्ध ग्रंथों के अनुवाद के रूप में किया जाता था। चीनी विद्वानों ने संस्कृत के कई विशाल ग्रंथों को चीनी भाषा में अनुवाद कर उसका चीन में प्रचार–प्रसार किया। किसी हद तक कहा जा सकता है कि चीनी लोगों को भारतीय सभ्यता और संस्कृति के बारे में जो भी जानकारी मिली वह इन संस्कृत और पालि में लिखे हुए ग्रंथों की ही देन थी। आधुनिक चीन में हिंदी के प्रादुर्भाव को संयोग नहीं माना जा सकता है। बल्कि कहा जा सकता है कि प्राचीन कालीन भाषाओं की क्लिष्टता और आधुनिक समाज में हुए परिवर्तन ने हिंदी को चीन में प्रवेश करने के लिए बाध्य कर दिया। 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिंदी भाषा को चीन में प्रवेश मिला और तब से हिंदी इस देश में अनुवाद की भाषा से लेकर सांस्कृतिक आदान–प्रदान की भाषा बनने की राह पर अग्रसर है।

चीन में हिंदी का श्रीगणेश

चीन में हिंदी का उद्‌भव अकस्मात किसी कारणवश नहीं हुआ। चीन और भारत दोनों देशों के बीच पारंपरिक संबंधों के जिस सेतु का निर्माण संस्कृत या पालि भाषा ने किया था, उसी के आधार पर दोनों देशों के बीच बढ़ती पारस्परिक आवाजाही को ध्यान में रखते हुए हिंदी ने चीन में प्रवेश किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय भारतीय जनता जब अंग्रेज़ी शासन से त्रस्त थी तथा चीनी जनमानस जापानी क्रूरता के शिकार हो रहे थे, उस समय भी दोनों देशों के बीच पारस्परिक आवाजाही जारी थी, लेकिन यह किसी हद तक सीमित ही थी। दोनों देशों के नागरिकों में एक–दूसरे के प्रति संवेदना थी और आशा थी कि दोनों ही देश साम्राज्यवाद की कठोर ज़ंजीर से जितनी जल्दी हो सके मुक्त हो जाएँ। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जहाँ भारत गुलामी की ज़ंजीर को उखाड़ फेंकने की कोशिश कर रहा था, वहीं इस लड़ाई के विरुद्ध पड़ोसी देशों की सहायता के लिए भी हमेशा तत्पर रहता था। इसी परिप्रेक्ष्य में, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की सलाह पर भारतीय नागरिकों ने चंदा इकट्‌ठा कर चीनी सैनिकों की सहायता के लिए एक चिकित्सा दल चीन भेजा। सन् 1939 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेता जवाहरलाल नेहरू ने चीन का दौरा किया, सन् 1942 में चीन के राष्ट्रपति और सेनाध्यक्ष जनरल सिमों च्यांग खाई शेक और उनकी पत्नी मैडम सुंग मेई लिंग ने भी भारत का दौरा किया तथा गांधी, नेहरू, अब्दुल कलाम, आज़ाद सहित कई नेताओं से मिले। सन् 1942 के आसपास द्वितीय विश्वयुद्ध अपने चरम पर था तथा इस त्रासदी का प्रसार चीन के पड़ोसी देशों भारत, बर्मा, थाईलैंड आदि में भी हो चुका था। चीन और भारत के बीच भी इस युद्ध में आपसी सहयोग के लिए प्रयत्न के पुल बाँधने की कोशिश की जा रही थी। सन् 1942 में तत्कालीन चीन सरकार ने यूनान प्रांत के खुनमिंग शहर के छंग कुंग काउंटी में राष्ट्रीय प्राच्य महाविद्यालय की स्थापना की। इस महाविद्यालय का मुख्य उद्देश्य युद्ध में सैनिकों की सहायता के लिए अनुवादक को प्रशिक्षण देना था। उसी समय युद्ध में सहयोग की आवश्यकता को देखते हुए, इस महाविद्यालय[1] में हिंदी के साथ–साथ थाई, बर्मी और वियतनामी भाषा की भी शुरुआत की गई।[2] इस तरह चीन में हिंदी भाषा के अध्ययन–अध्यापन का श्रीगणेश हुआ।

यूनान प्रांत के राष्ट्रीय प्राच्य महाविद्यालय में हिंदी भाषा की शिक्षा तो शुरू हो गई, पर मूल हिंदी भाषी अध्यापक की कमी खल रही थी। इस आवश्यकता को महसूस करते हुए पश्चिम बंगाल

1. http://cg.km.gov.cn/c/2018-09-04/2998951.shtml
2. https://sfl.pku.edu.cn/xssz/54432.htm

में शांति निकेतन में चीनी भाषा के विशेषज्ञ प्रो. थान युन सान ने इस कमी को पूरा करने का बीड़ा उठाया। शांति निकेतन में चीनी भाषा की शुरुआत बहुत पहले हो चुकी थी। 1935 में ही गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के आमंत्रण पर प्रो. थान युन सान ने शांति निकेतन में चीन भवन की स्थापना की और उनके नेतृत्व में चीनी भाषा तथा चीन से संबंधित शोध कार्य शुरू हो चुका था। शांति निकेतन में ही कृष्ण किंकर सिंह चीनी भाषा के रिसर्च स्कॉलर के तौर पर काम कर रहे थे।[3] इस दौरान कई बार उनकी मुलाकात प्रो. थान युन सान से भी होती रहती थी। कृष्ण किंकर सिंह उन दिनों चीन के प्रसिद्ध नेता सन यात सेन की पुस्तक 'सान मिन चु–ई (三民主义)' 'जनता के तीन सिद्धांत' के हिंदी अनुवाद के बारे में सोच रहे थे। इस पुस्तक का हिंदी में अनुवाद करने के लिए प्रो. थान युन सान ने उन्हें काफ़ी प्रोत्साहित किया तथा आवश्यक मदद भी पहुँचायी। समय के साथ प्रो. थान युन सान और कृष्ण किंकर सिंह के बीच प्रगाढ़ संबंध स्थापित हो गया। 1944 में प्रो. थान युन सान के सहयोग से कृष्ण किंकर सिंह को चीन के यूनान प्रांत में स्थित राष्ट्रीय प्राच्य महाविद्यालय में बतौर हिंदी अध्यापक भेजा गया।[4] कृष्ण किंकर सिंह भारत के प्रथम अध्यापक थे, जिन्हें हिंदी पढ़ाने के लिए चीन भेजा गया था। किसी हद तक कहा जा सकता है कि चीन में हिंदी भाषा के शिक्षण में कृष्ण किंकर सिंह और प्रो. थान युन सान का बहुत बड़ा योगदान रहा। इन्हीं के कठिन परिश्रम के फलस्वरूप खुन मिंग के राष्ट्रीय प्राच्य महाविद्यालय में हिंदी भाषा का श्रीगणेश हो सका।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान, जब चीनी जनता जापानी आक्रमण के विरुद्ध जी–जान से अपनी रक्षा हेतु संघर्ष में जुटी थी, उस हालात में भी राष्ट्रीय प्राच्य महाविद्यालय ने नई भाषा हिंदी का शिक्षण प्रारंभ किया, जो बहुत सराहनीय रहा है। उसी के फलस्वरूप चीन में हिंदी–शिक्षण तथा हिंदी–साहित्य का बीजारोपण किया गया। कृष्ण किंकर सिंह इस महाविद्यालय में दो वर्षों तक कार्यरत रहे तथा इस दौरान उन्होंने चीनी महान नेता सन यात सेन की किताब 'सान मिन चु–ई' का हिंदी अनुवाद भी पूरा किया। 1946 में कृष्ण किंकर सिंह वापस शांति निकेतन आ गए और उन्होंने उक्त पुस्तक का हिंदी अनुवाद प्रकाशित करवाया। कालांतर में यह पुस्तक भारतीयों को चीन के बारे में समझने में बहुत मददगार साबित हुई।

1942 में खुनमिंग का राष्ट्रीय प्राच्य महाविद्यालय भी जापानी आक्रमण की विभीषिका से बच नहीं सका। इसके फलस्वरूप विश्वविद्यालय को 1945 में छुंगछिंग स्थानांतरित कर दिया गया तथा 1946 में छुंगछिंग से नानचिंग स्थानांतरित कर दिया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त होने के बाद, चीन में गृहयुद्ध की शुरुआत हो गई, जो कि 1949 में चीनी लोक गणराज्य की स्थापना के साथ समाप्त हुआ। चीनी लोक गणराज्य की स्थापना के बाद, राष्ट्रीय प्राच्य महाविद्यालय का बीजिंग स्थित पेकिंग विश्वविद्यालय के पूर्वी भाषा कॉलिज में विलय कर दिया गया। उस समय पेकिंग विश्वविद्यालय में फंग छंग तु, यिन हुंग युवान और चिन ख मु हिंदी भाषा सिखाने का काम कर रहे थे। फंग छंग तु और यिन हुंग युवान पहले राष्ट्रीय प्राच्य महाविद्यालय के अध्यापक थे। इस महाविद्यालय का पेकिंग विश्वविद्यालय में विलयन होने के बाद उन्हें पेकिंग विश्वविद्यालय में स्थानांतरित कर दिया गया।

हिंदी–शिक्षण का विकास

हिंदी भाषा शिक्षण की शुरुआत चीन में भले ही 1942 में हो चुकी थी, लेकिन 1949 से पहले द्वितीय विश्वयुद्ध तथा चीनी गृहयुद्ध के कारण हिंदी शिक्षण बहुत प्रभावित हुआ। 1949 में चीन लोक गणराज्य की स्थापना के बाद ही, पेकिंग विश्वविद्यालय में हिंदी का अध्ययन–अध्यापन सुचारु रूप से चालू हो सका। इस दौरान पेकिंग विश्वविद्यालय के पूर्वी भाषा अध्ययन केंद्र में कार्यरत प्रसिद्ध विद्वान ची श्येन लीन और चिन ख मु के मार्गदर्शन में हिंदी अध्ययन–अध्यापन का कार्य शुरू हुआ। सन् 1949 से लेकर वर्तमान समय तक, लगभग अस्सी से ज़्यादा वर्षों के अंतराल में, हिंदी भाषा और साहित्य के विकास को मुख्य रूप से तीन कालों में बाँटा जा सकता है– प्रारंभिक काल 1949–1976, मध्य काल 1976–2003 तथा वर्तमान काल 2003 से अब तक।

प्रारंभिक काल (1949–1976)

सन् 1949 में चीन लोक गणराज्य की स्थापना से लेकर 1976 में महान चीनी सांस्कृतिक आंदोलन की समाप्ति तक

3. जनता के तीन सिद्धांत, सन यात सेन, अनुवादक कृष्ण किंकर सिंह, दीक्षित्त प्रेस, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या 9
4. जनता के तीन सिद्धांत, सन यात सेन, अनुवादक कृष्ण किंकर सिंह, दीक्षित्त प्रेस, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या 10.

का काल चीन में हिंदी भाषा शिक्षण का प्रारंभिक काल माना जा सकता है। 1949 में चीनी लोक गणराज्य की स्थापना के बाद, भारत पहला गैर–समाजवादी देश था, जिसने चीन लोक गणराज्य को मान्यता दी और राजनयिक संबंध की स्थापना की। भारत की इस मैत्रीपूर्ण पहल से दोनों देशों के बीच मधुर संबंध की शुरुआत हुई। इस दौरान चीन और भारत के बीच सांस्कृतिक आदान–प्रदान पर मुख्य रूप से ज़ोर दिया गया। इस परिप्रेक्ष्य में, हिंदी भाषा के अध्ययन–अध्यापन पर भी मुख्य रूप से ध्यान दिया गया। राष्ट्रीय प्राच्य महाविद्यालय और नानचिंग पूर्वी भाषा अध्ययन केंद्र का विलय पेकिंग विश्वविद्यालय के पूर्वी भाषा अध्ययन केंद्र में होने के बाद, यिन हुंग युवान जो कि राष्ट्रीय प्राच्य महाविद्यालय में कार्यरत थे और फंग चंग तु जो कि नानचिंग पूर्वी भाषा अध्ययन केंद्र में कार्यरत थे, को पेकिंग विश्वविद्यालय में ही बुला लिया गया। चूँकि, इन दोनों विशेषज्ञों की भाषा पर पकड़ ज़्यादा मज़बूत नहीं थी, इसलिए इन्हें पढ़ाने के साथ–साथ पढ़ना भी पड़ता था। हिंदी पढ़ाने का काम मुख्य रूप से चिन ख मु करते थे और यिन हुंग युवान तथा फंग छंग तु उनकी सहायता करते थे। उस समय पेकिंग विश्वविद्यालय में चार भारतीय अध्यापक भी थे, जो चीनी विद्यार्थियों को हिंदी पढ़ाते थे। उस दौर में पाठ्य–पुस्तक मुख्य रूप से अंग्रेज़ी माध्यम वाली ही अपनाई गई थी। कुछ पाठ्य सामग्री चुनिंदा लेख हुआ करती थी। वर्ष 1951 में हिंदी भाषा पढ़ने वालों में प्रसिद्ध विद्वान दिवंगत प्रोफ़ेसर लियु आन वू ने दाखिला लिया। प्रोफ़ेसर लियु के अनुसार, उस समय राजनीतिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए छात्रें को विभिन्न भाषाओं को सीखने के लिए विशेष तौर पर दाखिला दिया जाता था। लियु आन वू को भी इसी के तहत पेकिंग विश्वविद्यालय में दाखिला मिला था। 1954 के अक्तूबर में भारतीय प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने जब चीन का दौरा किया, तो दोनों देशों के बीच सांस्कृतिक आदान–प्रदान के क्षेत्र में कई समझौतों पर हस्ताक्षर किए गए, जिसमें छात्रों का आदान–प्रदान भी शामिल था। इस समझौते के फलस्वरूप, उसी साल नवंबर माह में आनन–फानन में लियु आन वू और लियु कुओ नान, दो छात्रों को हिंदी सीखने के लिए भारत भेजा गया था। लियु आन वू भारत में तीन साल सात महीने गुज़ारने के बाद 1958 में वापस आकर पेकिंग विश्वविद्यालय में नियुक्त हो गए। 1958 के बाद, चीन–भारत संबंध में धीरे–धीरे खटास आने लगी, जो कि 1962 में युद्ध के रूप में परिवर्तित हो गई। इसका हिंदी के पठन–पाठन पर बहुत गंभीर प्रभाव पड़ा। कई छात्रों को हिंदी पढ़ने में रुचि नहीं रही, तो कई छात्रों ने विषय बदल लिया। चीन–भारत सीमा युद्ध की समाप्ति के कुछ साल बाद ही, समूचा चीन राजनीतिक उथल–पुथल में घिसटने लगा। 1966 में महान चीनी सांस्कृतिक आंदोलन की शुरुआत होने से विश्वविद्यालयों में कक्षाएँ स्थगित हो गईं। पूरे चीन में शिक्षा व्यवस्था चौपट हो गई। इसका नकारात्मक प्रभाव हिंदी के अध्ययन पर भी पड़ा।

हालाँकि, इस दौरान हिंदी के क्षेत्र में कोई खास उपलब्धि प्राप्त नहीं हो पाई थी, लेकिन इतना अवश्य था कि हिंदी ने चीन की राजधानी में स्थित पेकिंग विश्वविद्यालय में पाँव ज़रूर जमा लिया था। इस दौरान कई ऐसे विशेषज्ञ ज़रूर हिंदी से रूबरू हो चुके थे, जिन्होंने आगे चलकर हिंदी को मुख्य स्थान दिलाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

मध्य काल (1976–2003)

1976 में महान चीनी सांस्कृतिक आंदोलन की समाप्ति के साथ ही चीन में जनजीवन फिर से पटरी पर लौटने लगा। चीनी सांस्कृतिक आंदोलन के दौरान समूचे चीन में विश्वविद्यालय प्रवेश परीक्षा को स्थगित कर दिया गया था। इसका परिणाम हिंदी भाषा में प्रवेश लेने वाले विद्यार्थियों पर भी पड़ा। हालाँकि इस दौर में भी कुछ विद्यार्थियों को विश्वविद्यालयों में प्रवेश दिया गया था, लेकिन उनकी शैक्षिक पृष्ठभूमि बहुत कमज़ोर थी। उस दौरान विश्वविद्यालय में प्रवेश का मापदंड विद्यार्थियों की कम्युनिस्ट पार्टी के प्रति कृतज्ञता से मापी जाती थी। इसलिए इस दौरान जिन्होंने हिंदी शिक्षण के लिए प्रवेश लिया, उन्होंने स्नातक होने के बाद हिंदी से ऐसे नाता जोड़ा जैसे धोखे से इस क्षेत्र में घुस गए हों। वर्ष 1977 में विश्वविद्यालय प्रवेश परीक्षा समूचे चीन में फिर से बहाल हुई और हिंदी भाषा में भी विद्यार्थियों को प्रवेश मिलने लगा।

प्रारंभिक काल में जिन छात्रों ने हिंदी भाषा में प्रवेश लिया था और हिंदी के अध्ययन–अध्यापन से जुड़े रहे, उनके लिए महान सांस्कृतिक आंदोलन का दस साल किसी हद तक फ़ायदेमंद भी रहा। इन दस सालों में उन्हें हिंदी पर अपनी पकड़ मज़बूत बनाने

के लिए काफ़ी समय मिला। महान सांस्कृतिक आंदोलन की समाप्ति के बाद इन हिंदी विशेषज्ञों ने अपनी उपलब्धि का प्रमाण देना शुरू किया। इस क्षेत्र में पहली उपलब्धि यिन हुंग युवान ने हासिल की, जिन्होंने 1983 में हिंदी पाठ्यपुस्तक प्रकाशित किया। इनकी पुस्तक प्रकाशित होने से पहले पेकिंग विश्वविद्यालय में मुख्य तौर पर अंग्रेज़ी में प्रकाशित पाठ्यपुस्तकों के द्वारा ही हिंदी की शिक्षा दी जाती थी। दूसरी उपलब्धि भी उन्हें दो साल बाद 1985 में मिली, जब उन्होंने अमेरिकी भाषाविद् की लिखी हिंदी व्याकरण की पुस्तक का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद हिंदी व्याकरण की कठिनाइयों को समझने में आसानी होने लगी। परंतु वे इस काम से संतुष्ट नहीं हुए, वर्ष 1993 में उन्होंने चीनी भाषा में हिंदी व्याकरण की पुस्तक लिखी। यह पुस्तक आज भी चीनी विश्वविद्यालयों में हिंदी व्याकरण को समझने के लिए मानक पुस्तक के रूप में प्रयोग की जाती है। यिन हुंग युवान के प्रयास का परिणाम यह हुआ कि अन्य हिंदी विशेषज्ञ भी इस क्षेत्र में जी–जान से जुट गए। परिणामस्वरूप, वर्ष 1988 में चिन तिंग हान का हिंदी–चीनी मुहावरा कोश प्रकाशित हुआ। यह पुस्तक हिंदी मुहावरों को चीनी भाषा में समझाने में अत्यंत सहायक सिद्ध हुई। वर्ष 1992 में चिन तिंग हान ने चीनी विद्यार्थियों के लिए हिंदी पाठ्यपुस्तक चार भागों में प्रकाशित किया। यह पुस्तक वर्तमान समय में भी कई विश्वविद्यालयों में मानक हिंदी पाठ्यपुस्तक के रूप में प्रयोग में लाई जा रही है।

इस दौर में यिन हुंग युवान और चिन तिंग हान के प्रयास से हिंदी पाठ्यपुस्तक और व्याकरण संबंधित पुस्तक की कठिनाइयों को किसी हद तक पूरा कर लिया गया था, तो चीनी लोगों में भारतीय साहित्य अथवा हिंदी साहित्य के बारे में जानने की जिज्ञासा भी हो रही थी। इसी दौर में वर्ष 1980 में लियु आन वू ने आधुनिक भारतीय साहित्य अनुसंधान नामक पुस्तक प्रकाशित किया। यह पुस्तक आधुनिक काल में भारतीय साहित्य में हो रहे परिवर्तन की एक झलक मात्र थी, लेकिन चीनी लोगों की भारतीय साहित्य से संबंधित ज्ञान–पिपासा को पूरा करने के लिए पर्याप्त थी। वर्ष 1984 में लियु आन वू ने प्रेमचंद की कई कहानियों का अनुवाद कर प्रेमचंद की चुनिंदा कहानियों को प्रकाशित किया। हालाँकि, इससे पहले भी भारतीय साहित्य की कई रचनाओं का अनुवाद कई लेखकों द्वारा किया जा चुका था, लेकिन प्रेमचंद की कहानियों के अनुवाद ने चीनी पाठकों को हिंदी साहित्य की सृजनात्मकता से परिचय करवाया। वर्ष 1987 में थांग रेन हू और लिय आन वू ने मिलकर प्रेमचंद से संबंधित 'अनुसंधान' नामक पुस्तक का चीनी भाषा में अनुवाद प्रकाशित किया। इस पुस्तक के प्रकाशन से चीनी पाठकों के सामने प्रेमचंद की लेखनी का विविध रूप सामने आया। इस दौर में वर्ष 1992 और 1999 में लियु आन वू ने चीनी पाठकों के सामने प्रेमचंद और उनका उपन्यास तथा प्रेमचंद की जीवनी प्रस्तुत की। वहीं लियु कुओ नान और श्वी ख छियाओ ने फ़नीश्वरनाथ रेणु की रचना 'मैला आँचल' का चीनी अनुवाद चीनी पाठकों को समर्पित किया।

मध्य काल को चीन में हिंदी भाषा और साहित्य के विकास का परिपक्व काल माना जा सकता है। प्रारंभिक काल के हिंदी विशेषज्ञों की रचना अनुवाद और मौलिक पठन–पाठन सामग्री के रूप में चीनी पाठकों और विद्यार्थियों के समक्ष उपस्थित हो रहा था। इसका परिणाम यह हुआ कि हिंदी के माध्यम से भारत को जानने–समझने की प्रेरणा चीनी लोगों के मन में घर करने लगी, अधिक से अधिक विद्यार्थी हिंदी भाषा को जानने और समझने के लिए लालायित होने लगे। लेकिन वर्ष 2003 तक चीन में पेकिंग विश्वविद्यालय ही एकमात्र ऐसा विश्वविद्यालय था, जहाँ हिंदी की पढ़ाई हो रही थी। चीन–भारत संबंध में आई प्रगाढ़ता ने भी भारत और चीन सरकार को हिंदी के क्षेत्र में विशेष ध्यान देने के लिए बाध्य कर दिया।

वर्तमान काल (2003–अब तक)

वर्ष 2003 में तत्कालीन भारतीय प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी की चीन यात्रा ने भारत–चीन संबंध में एक नए अध्याय की शुरुआत की। दोनों देशों के बीच आपसी सहयोग के कई समझौतों पर हस्ताक्षर किए गए। इनमें एक महत्त्वपूर्ण समझौता पेकिंग विश्वविद्यालय में भारतीय अध्ययन संस्थान की स्थापना थी, जिसके लिए भारत सरकार ने पाँच सालों तक दस लाख रुपये देने का वायदा किया था। पेकिंग विश्वविद्यालय में भारतीय अध्ययन केंद्र की स्थापना ने हिंदी पढ़ने–पढ़ाने वालों में एक नई स्फूर्ति डाल दी। इस समझौते के तहत यह भी प्रावधान किया गया कि दो हिंदी और चीनी पढ़ाने वाले शिक्षकों का आदान–प्रदान किया जाएगा। यह पहली बार था जब भारत सरकार ने हिंदी भाषा के प्रोत्साहन के लिए किसी चीनी

विश्वविद्यालय को अनुदान दिया था। तत्कालीन प्रधानमंत्री स्व. अटल बिहारी वाजपेयी की चीन यात्रा के एक साल बाद ही वर्ष 2005 में चीनी प्रधानमंत्री वन च्या पाओ ने भारत की यात्रा की। उनकी यात्रा के दौरान चीन और भारत के बीच कई समझौतों पर हस्ताक्षर किए गए, जिनमें शिक्षा के क्षेत्र में आदान–प्रदान भी एक महत्त्वपूर्ण समझौता था। 2006 में तत्कालीन चीनी राष्ट्रपति शी चिन फ़िंग ने भी भारत की यात्रा की। दोनों देशों के राजनयिकों के उच्च स्तरीय आदान–प्रदान से आपसी संबंधों में मज़बूती आने के साथ–साथ दोनों देशों के बीच विश्वास और प्रगाढ़ हो गया। इसका सीधा प्रभाव दोनों देशों के बीच शैक्षणिक आदान–प्रदान पर पड़ा। वर्ष 2003 से चीन में हिंदी–शिक्षण ने एक नया रूप ले लिया। द्विपक्षीय संबंधों के सकारात्मक विकास तथा भारत का एक बड़ा अंतरराष्ट्रीय बाज़ार के रूप में उभरने के महत्त्व को देखते हुए, कई चीनी विश्वविद्यालयों ने चीन में हिंदी भाषा के अध्ययन–अध्यापन की आवश्यकता को महसूस किया। परिणामस्वरूप, कई विश्वविद्यालयों ने हिंदी भाषा संकाय की स्थापना की, जैसे पेइचिंग विदेशी अध्ययन विश्वविद्यालय (2006), शीआन अंतरराष्ट्रीय अध्ययन विश्वविद्यालय (2006), चीनी कम्युनिकेशन विश्वविद्यालय (2008), यूनान अल्पसंख्यक विश्वविद्यालय (2011), शंघाई अंतरराष्ट्रीय अध्ययन विश्वविद्यालय (2011) और क्वांगतुंग विदेशी अध्ययन विश्वविद्यालय (2012)। सन् 2013 में चीनी राष्ट्रपति शी चिन फ़िंग ने वन बेल्ट वन रोड रणनीति की घोषणा की, जो शीघ्र ही चीन की घरेलू रणनीति और पड़ोसी देशों के साथ संबंध को विकसित करने का महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शक बन गया। इस रणनीति के अंतर्गत, चीन के कई अन्य विश्वविद्यालयों ने भी हिंदी विषय की शुरुआत की, जैसे तिब्बत अल्पसंख्यक विश्वविद्यालय (2015), पेइचिंग अंतरराष्ट्रीय अध्ययन विश्वविद्यालय (2017), थ्येनचिन विदेशी अध्ययन विश्वविद्यालय (2017) और यूनान विश्वविद्यालय (2018)। चीन के अलग–अलग प्रांतों के विश्वविद्यालयों में हिंदी भाषा की पढ़ाई शुरू होने से हिंदी पढ़ने वाले छात्रों की संख्या में भी बहुत तेज़ी से वृद्धि हुई। विद्यार्थियों की संख्या में हुई बेतहाशा वृद्धि और स्नातक होने के बाद रोज़गार की गारंटी को देखते हुए, कुछ विश्वविद्यालयों ने चार साल में एक बार या दो साल में एक बार छात्रों को प्रवेश देने की योजना पेश की। पेइचिंग विदेशी अध्ययन विश्वविद्यालय चार साल में एक बार दाखिला देता है तथा चीनी कम्युनिकेशन विश्वविद्यालय हिंदी विषय में दो साल में एक बार नामांकन देता है। वर्तमान में चीन में लगभग सोलह विश्वविद्यालयों में हिंदी भाषा की पढ़ाई हो रही है। प्रत्येक वर्ष लगभग 400 से 500 विद्यार्थी इन विश्वविद्यालयों में नामांकन लेते हैं और हिंदी के क्षेत्र में अपना भविष्य संवारने की शुरुआत करते हैं।

वर्ष 2003 से जहाँ कई विश्वविद्यालयों ने हिंदी भाषा के शिक्षण की आवश्यकता को महसूस किया और हिंदी भाषा का अध्यापन शुरू किया, वहीं इस दौर में हिंदी के कई ग्रंथों का भी अनुवाद किया गया, जिसने हिंदी भाषा साहित्य को समझने में चीनी पाठकों को एक नया आयाम प्रदान किया। इस क्षेत्र में पेकिंग विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के प्रोफ़ेसर च्यांग चिंगख्वी का नाम सबसे प्रथम आता है। प्रोफ़ेसर च्यांग चिंगख्वी महान चीनी सांस्कृतिक आंदोलन की समाप्ति के बाद पहली पीढ़ी के हिंदी विशेषज्ञ हैं। उन्होंने अपने अथक प्रयास से न केवल हिंदी भाषा क्षेत्र में अलग पहचान बनाई है, बल्कि कई विश्वविद्यालयों में हिंदी भाषा के शिक्षण के श्रीगणेश में उन्होंने अहम योगदान दिया है। प्रोफ़ेसर च्यांग चिंगख्वी की महत्त्वपूर्ण रचनाओं में भारतीय साहित्य और सिद्धांत, हिंदी नाट्य साहित्य, सूरसागर का चीनी अनुवाद, चीनी–हिंदी बृहत शब्दकोश की रचना आदि हैं। हिंदी भाषा के क्षेत्र में उनके अहम योगदान को देखते हुए भारत सरकार ने वर्ष 2015 में उन्हें आनंद कुमार स्वामी मानद फ़ेलोशिप तथा वर्ष 2018 में जॉर्ज ग्रियर्सन पुरस्कार से सम्मानित किया। समय–समय पर भारत सरकार द्वारा सम्मानित किए जाने से अन्य हिंदी विशेषज्ञों को भी इस क्षेत्र में काम करने की प्रेरणा मिलती है। प्रोफ़ेसर च्यांग चिंगख्वी के बाद वाली पीढ़ी के विशेषज्ञ जैसे – रान पिंग, कुओ थिंग, च्यांग युंगहोंग, ली यालान आदि भी इस क्षेत्र में अपना योगदान दे रहे हैं और हिंदी भाषा के विद्यार्थियों का मार्गदर्शन कर रहे हैं।

हिंदी के विकास की चुनौतियाँ तथा अवसर

चीन में हिंदी भाषा के विकास के सामने उपस्थित चुनौती या अवसर की बात करें, तो सबसे बड़ी चुनौती भारत और चीन के बीच रिश्तों में उतार–चढ़ाव है । वर्ष 1950 में भारत और चीन के बीच राजनयिक संबंध की स्थापना के बाद, चीन में हिंदी भाषा के अध्ययन–अध्यापन के लिए न केवल चीन सरकार ने ज़ोरदार पहल की, बल्कि भारत सरकार ने भी इस पहल में बखूबी उनका

साथ निभाया। 1950 से 1959 के दौरान चीन और भारत के बीच 'हिंदी चीनी भाई–भाई' का नारा ने हिंदी के विकास पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला। 1959 के बाद दोनों देशों के बीच संबंधों में आई खटास 1962 में सीमा युद्ध के रूप में तब्दील हो गई। 1962 के बाद दोनों देशों के बीच राजनयिक संबंध टूटने के बाद और चीन में आंतरिक उथल–पुथल ने भी हिंदी के विकास पर नकारात्मक प्रभाव डाला। इस नकारात्मक प्रभाव की काली परछाईं बहुत हद तक 2003 में पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी की चीन यात्रा के बाद ही छंट सकी। 2003 से दोनों देशों के बीच संबंध प्रगाढ़ होने का सीधा प्रभाव हिंदी भाषा के विकास पर भी पड़ा।

वर्ष 2014 में जब भारत में भारतीय जनता पार्टी की सरकार सत्ता में आई, तब विदेश में हिंदी के विकास के लिए उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण प्रयास किए। इसी संदर्भ में 2018 में जब भारतीय विदेश मंत्री सुषमा स्वराज चीन के दौरे पर थीं, तो चीनी विद्यार्थियों की हिंदी वाकपटुता ने उन्हें काफ़ी प्रभावित किया और उन्होंने हिंदी भाषा पढ़ने वाले बीस चीनी छात्रों को भारत भ्रमण का निमंत्रण दिया। वर्ष 2019 में बीस चीनी छात्रों ने भारत की यात्रा की तथा भारत के बारे में अपनी जिज्ञासा को और परिपक्व किया। इस तरह की गतिविधियाँ न केवल छात्रों को हिंदी भाषा पढ़ने के लिए प्रेरित करती हैं, बल्कि उन्हें हिंदी पढ़ने के उद्देश्य से भी अवगत कराती हैं।

विगत कई वर्षों में भारत और चीन के बीच व्यापारिक संबंध भी सुदृढ़ हुआ है। वर्तमान में, चीन भारत का सबसे बड़ा व्यापारिक साझेदार देश है। भारत और चीन के बीच व्यापारिक संबंध में उत्तरोत्तर वृद्धि ने चीन में हिंदी भाषा सीखने वाले छात्रों के लिए एक नया अवसर प्रदान किया है। पहले विश्वविद्यालय से स्नातक होने वाले छात्रों के लिए रोज़गार ढूँढना एक बहुत बड़ी समस्या थी। उनके लिए कुछ सरकारी विभाग, विश्वविद्यालय, रेडियो स्टेशन जैसे कुछ सीमित अवसर ही होते थे। लेकिन विगत कुछ वर्षों में चीनी कंपनियों के भारतीय बाज़ार में निवेश ने हिंदी सीखने वाले छात्रों के लिए बहुमूल्य अवसर का नया द्वार खोल दिया है। वर्तमान में, हिंदी सीखने वाले छात्रों को विभिन्न चीनी कंपनियों और भारतीय कंपनियों में सहजता से रोज़गार मुहैया हो जाता है। इसलिए छात्रों में हिंदी सीखने के प्रति जागरूकता बढ़ रही है।

चीन में हिंदी भाषा के विकास का अवलोकन किया जाए, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत–चीन संबंध में उतार–चढ़ाव का चीन में हिंदी के विकास से सीधा संबंध है। जब भारत और चीन के बीच संबंध मधुर होता है, तब हिंदी भी अपने विकास के उच्चतम शिखर पर होती है। लेकिन इस संबंध में जैसे ही तनाव उपस्थित होता है, हिंदी भी ह्रास की तरफ़ अग्रसर हो जाती है। अतः यह कहा जा सकता है कि चीन में हिंदी के विकास के लिए भारत–चीन संबंध महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। यह संबंध सिर्फ़ राजनीतिक स्तर तक ही सीमित नहीं होता है, बल्कि सांस्कृतिक और आर्थिक संबंध भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वर्तमान में भारत–चीन संबंध और भारत सरकार की हिंदी के प्रति रणनीति से चीन में हिंदी भाषा का पठन–पाठन और अनुसंधान अवश्य ही फलेगा–फूलेगा।

vikash@pku.edu.cn

हिंदी किसी के मिटाने से मिट नहीं सकती।

– चन्द्रबली पांडेय

पूर्वोत्तर के सीमांत प्रांतों में हिंदी की स्थिति

— श्री अमरेन्द्र त्रिपाठी
इलाहाबाद, भारत

''हिंदी के लिए सब द्वार खुले हैं, हिंदी के लिए प्रत्येक प्रांतीय भाषा के साथ अपनेपन का नाता जोड़ना है। देहातों के उमड़ते हुए शब्द और नए–नए प्रत्यय हिंदी के भंडार को बढ़ाएँगे। इसी तरह प्रत्येक प्रांतीय भाषा की शब्दावली, उसके मुहावरे, कहावतें और विशेष–विशेष परिभाषात्मक शब्द हिंदी के प्रांगण में स्वागत प्राप्त करेंगे। हिंदी भाषा अपने चारों ओर सीमा की रेखाएँ खींचकर नहीं बैठ सकती, उसे अपने भंडार को प्रत्येक प्रान्तीय साहित्य और भाषा से भरना होगा।''

— वासुदेव शरण अग्रवाल

भारत का पूर्वोत्तर हिस्सा आज़ादी के बहुत पहले से ही काफ़ी संवेदनशील रहा है। भारतीय समाज की सर्वाधिक खास विशेषता–विविधता अपने सर्वाधिक उर्वर रूप में यहाँ विद्यमान है। भाषा, धर्म, जातीयता और भूगोल के स्तर पर जितनी 'भिन्नता', जिसे हम चाहें तो अलगाव भी कह सकते हैं, यहाँ विद्यमान है, उतना भारत के किसी भी हिस्से में नहीं है। भारत का पूर्वोत्तर प्रांत आठ राज्यों से मिलकर बना है। इसमें असम जनसंख्या और ऐतिहासिक भूमिका की दृष्टि से सर्वाधिक प्रभावशाली राज्य है। स्वतंत्रता पूर्व पूर्वोत्तर भारत का अधिकांश असम के अंतर्गत ही आता था — मणिपुर, सिक्किम और त्रिपुरा को छोड़कर। असम मुख्यतया हिन्दू आबादी वाला राज्य है, जबकि नागालैंड, मिज़ोरम और मेघालय की नब्बे प्रतिशत से अधिक आबादी जनजातीय ईसाइयों की है। सर्वाधिक क्षेत्रफल वाले अरुणाचल में लगभग पचास प्रतिशत लोग स्थानीय धर्मों को मानते हैं, तो लगभग पचास प्रतिशत ने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया है। मणिपुर की पचास प्रतिशत से अधिक जनसंख्या जनजातीय वैष्णवों की है, जो स्वयं को हिन्दू तो मानते हैं, लेकिन असम और भारत के अन्य प्रांत के हिन्दुओं के साथ सांस्कृतिक निकटता महसूस नहीं करते हैं। त्रिपुरा और सिक्किम हिन्दू बहुलता वाले राज्य हैं।

पूर्वोत्तर के सीमांत प्रांतों में हिंदी की पहुँच का कोई निश्चित दिन तो नहीं है, पर इतना तय है कि वहाँ इसकी व्यवस्थित उपस्थिति आज़ादी के बाद ही देखने को मिलती है। यहाँ की अधिकांश आबादी जनजातीय है। इस कारण यहाँ विकास को असली रफ़्तार आज़ादी के बाद ही मिली। आज़ादी के पहले यहाँ ईसाई संगठनों की पहुँच तो थी, लेकिन उनका मूल उद्देश्य अपने धर्म का प्रचार–प्रसार था। परंतु इस क्रम में पहली बार जनजातीय समाज आधुनिक दुनिया के सीधे संपर्क में आया। पूर्वोत्तर की जनजातीय भाषाओं में जागरण का स्वर ईसाई संगठनों के प्रभाव से आया। गारो, खासी, जयंतिया, नागा आदि तमाम भाषाओं के शब्दकोश ईसाई धर्म प्रचारकों ने बनाए। इन भाषाओं में आधुनिक साहित्य का लेखन इसी दौर में शुरू हुआ। लेकिन, इसके साथ ही इन भाषाओं के आधुनिक लेखकों के भीतर अंग्रेज़ी के प्रति एक खास किस्म का आग्रह भी विकसित होने लगा। धीरे–धीरे इस आग्रह ने हिंदी विरोध का रूप ग्रहण कर लिया। यह केवल पूर्वोत्तर ही नहीं, बल्कि संपूर्ण भारत का सच है कि पढ़े–लिखे वर्ग का अंग्रेज़ी प्रेम हिंदी विद्वेष की ज़मीन पर तैयार होता है। भाषा के मामले में ज़्यादा सही बात तो यह है कि इनको अधिक–से–अधिक संख्या में सीखा जाए। हम जितनी भाषा सीखेंगे उतनी ज्ञान परंपरा से परिचित होंगे। भाषा भू–भाग की तरह नहीं होती कि यदि आप एक भू–भाग के निवासी हैं, तो दूसरे के नहीं हो सकते। बहुभाषिकता मनुष्य का स्वाभाविक गुण है, और उसके सामर्थ्य का प्रमाण भी है। भाषायी आधार पर किया जाने वाला भेदभाव मनुष्यता के प्रति किया जाने वाला भयानक अपराध है। पूर्वोत्तर का जनजातीय समाज हिंदी प्रदेश की तरह मूलतः बहुभाषी समाज है और वहाँ के लोगों में नयी–नयी भाषाओं को सीखने की अद्भुत क्षमता है। तब ऐसे में वहाँ का हिंदी विरोध सामाजिक विरोध की जगह विभाजनकारी शक्तियों का षडयंत्र ही लगता है।

पूर्वोत्तर के सीमांत प्रांतों मणिपुर, त्रिपुरा और सिक्किम में

साहित्य के विकास की गति पूर्वोत्तर के शेष राज्यों से अलग है। इन राज्यों का काफ़ी प्राचीन लिखित इतिहास है। ये तीनों राज्य हिन्दू बहुल हैं, अतः होना तो यह चाहिए था कि इन राज्यों में हिंदी की स्थिति बेहतर हो, पर यहाँ के हालात इनसे भिन्न हैं। पूर्वोत्तर के अन्य सीमांत राज्यों की तुलना में मणिपुर और त्रिपुरा साहित्यिक विरासत के मामले में काफ़ी समृद्ध हैं। मणिपुर की प्रधान भाषा मणिपुरी है, जिसमें पहली शताब्दी से ही लोक साहित्य का लेखन हो रहा है। असमिया के अलावा पूर्वोत्तर में मणिपुरी भाषा की ही अपनी लिपि है, जिसे 'मीतै मयेक' कहा जाता है। बाद में वैष्णव प्रभाव के कारण मणिपुरी लोगों ने बांग्ला लिपि को स्वीकार कर लिया। मणिपुरी के अलावा भी यहाँ कई अन्य भाषाएँ बोली जाती हैं। सन् 2001 की जनगणना के अनुसार मणिपुर में दस हज़ार से अधिक लोगों द्वारा बोली जाने वाली कुल तेरह भाषाएँ हैं। इनमें से कई भाषाएँ ऐसी हैं, जिनमें केवल लोक साहित्य उपलब्ध है, जबकि कई भाषाओं में आधुनिक साहित्य की भी रचना हो रही है। तांखुल, हमर और थादो में बहुत सारा साहित्य लिखा जा रहा है।

मणिपुर की समृद्ध साहित्यिक परंपरा ने जहाँ इस राज्य में हिंदी साहित्य लेखन के लिए मज़बूत आधार तैयार किया, वहीं मणिपुरी के प्रति गहरे लगाव ने हिंदी विरोध का माहौल भी बनाया। वैष्णव धर्म का अनुयायी होने के कारण होना तो यह चाहिये था कि यहाँ हिंदी का विरोध न होता, लेकिन केंद्रीय सत्ता के उपेक्षापूर्ण बर्ताव की वजह से पूर्वोत्तर के सीमांत प्रांतों में हिंदी विरोध का प्रत्यक्ष आन्दोलन केवल इसी राज्य में जन्मा। आज भी पूर्वोत्तर में हिंदी का सर्वाधिक विरोध मणिपुर में ही है, लेकिन वास्तव में यह विरोध हिंदी भाषा से ज़्यादा केंद्रीय सत्ता की राजभाषा हिंदी का विरोध है। इन सब के बावजूद हिंदी का सर्वाधिक श्रेष्ठ रचनात्मक साहित्य इसी राज्य में लिखा गया। यह बात दूसरी है कि मणिपुर में हिंदी–शिक्षण एवं हिंदी के सहज प्रयोग की स्थिति बहुत अच्छी नहीं है।

मणिपुर और हिंदी का नाता बहुत पुराना है। 11वीं शताब्दी के आसपास भारत के उत्तरी भू–भाग पर हो रहे मुसलमानों के आक्रमण और बलात धर्मान्तरण से त्रस्त होकर लाखों की तादाद में लोगों ने पूर्व की ओर प्रवर्जन प्रारंभ किया। इसमें से कई दल मणिपुर भी आए और बस गए। इनमें अधिकांशतः ब्राह्मण थे, जिनके धार्मिक कार्यों की भाषा हिंदी की जननी संस्कृत थी। मणिपुर में हिंदी का बीज यहीं से पड़ा। मणिपुर में हिंदी का विकास भारतीय भक्ति आन्दोलन के समय ज़्यादा बड़े पैमाने पर हुआ। 18वीं शताब्दी में चैतन्य महाप्रभु वैष्णव धर्म के प्रचार हेतु मणिपुर आए और यहाँ के राजा को दीक्षित किया। राज्याश्रय में वैष्णव धर्म का फैलाव बेहद तीव्रता से हुआ और उसके साथ ही ब्रजबुलि भाषा में रचित वैष्णव पदावलियों का प्रसार भी हुआ। ब्रजबुलि हिंदी का आरंभिक रूप है। उन्नीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में मणिपुर पर अंग्रेज़ी सत्ता के स्थापित हो जाने के बाद हिंदीभाषी लोगों की बड़ी आबादी मणिपुर आयी और इसी के साथ यहाँ हिंदी के विकास को गति मिली। स्वाधीनता आंदोलन के दौरान गांधी के प्रभाव में हिंदी प्रचार की बहुत सारी संस्थाओं ने इस राज्य में प्रवेश कर हिंदी के प्रसार को नया मोड़ दिया। 'हिंदी साहित्य सम्मेलन', प्रयाग; 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा', चेन्नै; 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति', वर्धा; 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति', गुवाहाटी आदि संस्थाओं ने पूर्वोत्तर के अन्य राज्यों के साथ–साथ मणिपुर में भी हिंदी प्रचार का भार उठाया। इस तरह से हिंदी प्रचार आन्दोलन ने मणिपुर में भी अपना कदम बढ़ाया।

मणिपुर में हिंदी के व्यवस्थित प्रचार का कार्य सन् 1927-28 में 'हिंदी साहित्य सम्मेलन', प्रयाग द्वारा प्रारंभ किया गया। इसी के प्रभाव से 1933 ई. में इम्फाल के व्यापारी समाज के विशेष प्रयास से बीकानेरवासी सेठ भैरोदान मेहता के नाम पर 'भैरोदान हिंदी स्कूल' की स्थापना हुई। 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा' के अन्तर्गत सन् 1939-40 में 'मणिपुर राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' की स्थापना हुई। स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् 7 जून 1953 ई. को 'मणिपुर हिंदी परिषद्, इम्फाल' अस्तित्व में आया। हिंदी शिक्षण एवं हिंदी साहित्य लेखन के विकास में इन संस्थाओं का योगदान बहुत ज़्यादा है। इन संस्थाओं ने तमाम विपरीत हालातों का सामना करते हुए भी इस राज्य में हिंदी की लौ जलाए रखी है।

सन् 1951 ई. में पं. अतोम बापू शर्मा की पुस्तक 'मणिपुर का सनातन धर्म' छपी, जो मणिपुर की पहली हिंदी पुस्तक है। उसके बाद 1963 ई. में कालाचन्द सिंह द्वारा रचित 'खाम्बा

थोइबी' उपन्यास प्रकाशित हुआ, जो मणिपुर ही नहीं, बल्कि पूर्वोत्तर का पहला हिंदी उपन्यास है। उसके पश्चात् छत्र ध्वज शर्मा के 'कविश्रीमाला' का प्रकाशन हुआ। मणिपुरी रचनाकारों में प्रमुख नाम हैं – हज़ारीमयुम गोकुलानन्द शर्मा, आचार्य राधागोविन्द थोङाम, प्रो. इबोहल सिंह काङजम, प्रो. हज़ारीमयुम सुवदनी देवी, डॉ. लनचेनबा मीतै, डॉ. विजय लक्ष्मी, डॉ. राजकुमार मोबी सिंह आदि। मणिपुर में हिंदी साहित्य की साधना करने वाले साधकों की संख्या कम है, लेकिन जितने भी लोग हैं वे तमाम विरोधी शक्तियों की परवाह न करते हुए तन–मन–धन से हिंदी सेवा में लगे हुए हैं। जिस राज्य में हिंदी सिनेमा के सार्वजनिक प्रदर्शन पर रोक हो, वहाँ हिंदी में लिखना और उसका प्रकाशन करना कितना खतरनाक है, इसका महज अनुमान ही लगाया जा सकता है।

तीन ओर से बांग्लादेश से घिरा हुआ त्रिपुरा पूर्वोत्तर भारत के दक्षिण–पश्चिम में स्थित एक छोटा–सा राज्य है। पूर्वोत्तर के अन्य सीमांत प्रांतों की तरह यह भी मूलतः एक जनजातीय राज्य है, लेकिन आज इस राज्य में जनजातीय समाज अल्पसंख्यक है। भारत–पाकिस्तान का बँटवारा, सन् 71 का युद्ध, बहुसंख्यक मुस्लिम आबादी द्वारा निरंतर हो रहे अत्याचार और बंगलादेश में विद्यमान राजनीतिक अस्थिरता एवं गरीबी की वजह से आज़ादी के समय से ही बड़ी संख्या में बांगलाभाषी हिन्दू पलायन कर इस राज्य में आते रहे हैं। इस कारण त्रिपुरा की बहुसंख्यक आबादी बांगलाभाषी हो गयी। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार बंगालियों की आबादी यहाँ की कुल आबादी का 70 प्रतिशत थी। त्रिपुरा लगभग बीस जनजातियों का घर है, जिनमें तिपरा, जमातिया, त्रिपुरी, नौआतिया, रियांग, चाकमा, उचोई आदि प्रमुख हैं। इनमें से तिपरा और रियांग जनजाति की आबादी अधिक है। पूर्वोत्तर के अन्य इलाकों से भिन्न इस राज्य की अधिकांश जनजातियाँ हिन्दू देवताओं की पूजा करती हैं। कुछ जनजातियाँ स्थानीय देवताओं को भी मानती हैं। ईसाई धर्म प्रचारकों का प्रभाव यहाँ भी बढ़ रहा है। त्रिपुरा का एक बड़ा इलाका पर्वतीय है, मुख्य रूप से इन जनजातियों का निवास इन्हीं पर्वतीय प्रदेशों में है।

त्रिपुरा में बांगला, कॉकबरक, अंग्रेज़ी तथा हिंदी बोली जाती है। दफ़्तरों में बांगला तथा अंग्रेज़ी के साथ कॉकबरक भाषा का प्रयोग होता है। बांग्लाभाषी समुदाय की बहुलता के कारण बाज़ार की भाषा बांग्ला है, लेकिन यहाँ का जनजातीय समाज त्रिपुरी या कॉकबरक भाषा का प्रयोग कर गौरव का अनुभव करता है। त्रिपुरा में कॉकबरक, बांग्ला, अंग्रेज़ी तथा हिंदी इन चार भाषाओं में साहित्य लेखन हो रहा है। मणिपुर की तरह ही इस राज्य में भी स्थानीय भाषाओं का समृद्ध साहित्यिक इतिहास है। बांग्ला साहित्य के इतिहास में त्रिपुरा राज्य की विशिष्ट पहचान है। रवीन्द्र नाथ टैगोर का त्रिपुरा से घनिष्ठ संबंध रहा है। त्रिपुरा के राजाओं के जीवन पर आधारित इतिहास 'राजमाला' मूल रूप से कॉकबरक में ही 19वीं शताब्दी में लिखा गया था। आधुनिक काल में भी कॉकबरक तथा बांग्ला में साहित्य–लेखन की गति तीव्र है। सन् 1979 में राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित होने के बाद कॉकबरक में साहित्य लेखन में तेज़ी आई।

बांग्ला और कॉकबरक के प्रभुत्व के नीचे त्रिपुरा में हिंदी भाषा का प्रसार बहुत ही कम हुआ। यहाँ हिंदी बोलने–समझने वाले लोगों की संख्या न के बराबर है। इसके कई कारण हैं। बहुसंख्यक बांग्लाभाषी समुदाय की वजह से इस राज्य में स्वाभाविक रूप से बांग्ला संपर्क भाषा के रूप में विकसित हुई। जनजातीय समुदायों के बीच 'कॉकबरक' संपर्क भाषा की भूमिका निभाती रही है। ऐसे में हिंदी की कोई ज़रूरत यहाँ के लोगों को महसूस नहीं हुई। लम्बे समय तक चलने वाले हिंदी विरोध ने भी यहाँ हिंदी के विकास में बाधा पहुँचायी। राज्य सरकार की शिक्षा नीति भी हिंदी के अनुकूल नहीं है। एक समय था जब त्रिपुरा के तमाम स्कूलों में हिंदी की पढ़ाई होती थी, जबकि आज कुछ ही विद्यालयों में इसकी पढ़ाई होती है और वह भी द्वितीय भाषा के रूप में। त्रिपुरा के प्रख्यात हिंदी सेवी रमेन्द्र कुमार पाल लिखते हैं – ''सन् 1961 की बात है, त्रिपुरा के हर विद्यालय में हिंदी शिक्षक की नियुक्ति, हर महकमे में हिंदी प्रचार केन्द्र, राजधानी अगरतला में हिंदी निदेशालय के साथ हिंदी शिक्षक कॉलिज, छात्रावास आदि की स्थापना हो गई थी। सब कुछ स्वप्न–सा लग रहा था। लाखों की संख्या में विद्यार्थियों की भीड़ बढ़ने लगी।'' स्पष्ट है कि आज़ादी के तुरंत बाद पूर्वोत्तर के अन्य हिस्से की तरह ही त्रिपुरा में भी हिंदी प्रसार की ज़मीन तैयार हुई थी, लेकिन सत्तर के अंतिम दशक में आरंभ हुए अलगाववादी आन्दोलन ने इसे बंजर कर दिया। वास्तव में, त्रिपुरा में हिंदी की दुर्दशा के मूल में वे राष्ट्रविरोधी ताकतें रही हैं, जिन्होंने केंद्रीय सत्ता के खिलाफ़ वहाँ

की भोली–भाली जनता को बहकाया। लेकिन अब इस हालात में तेज़ी से सुधार हो रहा है। अब यहाँ के स्कूलों में हिंदी की पढ़ाई एक वैकल्पिक विषय के रूप में हो रही है। केन्द्रीय विद्यालय, नवोदय विद्यालय तथा कई निजी विद्यालयों में प्राथमिक से लेकर दसवीं कक्षा तक मुख्य विषय के रूप में हिंदी पढ़ाई जाती है। अगरतला स्थित दो महाविद्यालयों में हिंदी विषय लेकर विद्यार्थी पढ़ रहे हैं। त्रिपुरा विश्वविद्यालय में सन् 2006 में ही हिंदी विभाग की स्थापना हो गई है। यहाँ से सैकड़ों विद्यार्थियों ने हिंदी साहित्य में स्नातक, स्नातकोत्तर और पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की है और अब राज्य के अलग–अलग हिस्सों में हिंदी का प्रचार–प्रसार कर रहे हैं।

त्रिपुरा में हिंदी भाषा की स्थिति जब इतनी खराब है, तब यहाँ हिंदी साहित्य लेखन की उम्मीद करना बेकार ही है। व्यक्तिगत प्रेरणा से संचालित निजी प्रयासों के अलावा हिंदी की रचनाओं का लेखन यहाँ नहीं हुआ है। हिंदी के सेवक एवं हिंदी–प्रेमी श्री रमेन्द्र पाल त्रिपुरा के सर्वाधिक प्रतिष्ठित हिंदी लेखक हैं। उन्होंने कुल मिलाकर चार महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की रचना की है – 'देवी माँ' (उपन्यास, अप्रैल, 2000), 'जानवरों की क्रान्ति' (बाल एकांकी, अप्रैल 2005), 'वर्षा वन्दना' (एकांकी, अप्रैल, 2005) तथा 'प्राथमिक कोक बोरक भारती'। इन रचनाओं के अलावा रमेन्द्र पाल जी के कई आलेख विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। त्रिपुरा विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में सहायक प्रोफ़ेसर के पद पर कार्यरत मिलन रानी जमातिया ने 'त्रिपुरा की लोककथाएँ' पुस्तक का सम्पादन और 'कॉकबरक–हिंदी' शब्दकोश के निर्माण में सहायता प्रदान की है। त्रिपुरा जैसे समृद्ध साहित्यिक परिदृश्य वाले राज्य में हिंदी का यह स्तर बेहद असंतोषजनक है।

मणिपुर और त्रिपुरा के बाद पूर्वोत्तर की सीमाओं पर स्थित तीसरा गैर–ईसाई राज्य सिक्किम है। यह भौगोलिक स्तर पर पूर्वोत्तर भारत का हिस्सा नहीं लगता। पूर्वोत्तर भारत का प्रवेश द्वार गुवाहाटी है। इस इलाके के किसी भी प्रांत में जाने के लिए गुवाहाटी से होकर ही जाना पड़ता है, लेकिन सिक्किम का रास्ता गुवाहाटी से लगभग तीन सौ किलोमीटर पहले स्थित जलपाईगुड़ी नामक शहर से ही कट जाता है। इसी वजह से आज़ादी के बहुत बाद तक 'सेवेन सिस्टर्स' कहे जाने वाले पूर्वोत्तर भारत में सिक्किम शामिल नहीं था। सिक्किम पूर्वोत्तर भारत के आठ राज्यों में से सबसे छोटा राज्य है। इसका कुल क्षेत्रफल 7096 वर्ग कि.मी. है और आबादी सात लाख के आसपास है। यह राज्य तीन ओर से अंतरराष्ट्रीय सीमाओं से घिरा हुआ है। इसके उत्तर में तिब्बत तथा चीन है, पश्चिम में नेपाल तथा पूर्व में भूटान और दक्षिण में पश्चिम बंगाल है। विशाल पर्वतों, खूबसूरत नदियों और शांतिप्रिय नागरिकों वाला सिक्किम पर्यटन की दृष्टि से पूर्वोत्तर का सर्वाधिक समृद्ध राज्य है। इसे 'पूर्वोत्तर का गोवा' कहा जाए, तो गलत नहीं होगा।

सिक्किम में मुख्य रूप से लेप्चा, भूटिया, लिम्बू तथा सिक्किमी नेपाली समुदाय के लोग रहते हैं। इनमें से पहले तीन बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं, जबकि सिक्किमी नेपाली हिन्दू धर्म को मानते हैं। लेप्चा इस प्रांत के सर्वाधिक प्राचीन निवासी हैं। इस प्रांत की राज्य भाषा नेपाली है, जिसे संविधान की आठवीं अनुसूची में भी शामिल किया गया है, क्योंकि नेपाली सिक्किम का सबसे बड़ा समुदाय है। नेपाली सिक्किम की संपर्क भाषा भी है। वैसे आम लोगों को हिंदी बोलने में न तो कोई परेशानी है, न ही कोई परहेज़। नेपाली के अलावा भूटिया और लेप्चा भाषाएँ भी यहाँ बोली जाती हैं। सिक्किम के भाषायी परिदृश्य पर मिज़ोरम की हिंदी लेखिका सी.ई. जीनी ने लिखा है – ''सिक्किम की प्रमुख भाषा नेपाली है। लेकिन भोटिया समाज में भोटिया और लेप्चा समाज में लेप्चा बोली जाती है। इन समाजों के अधिकांश लोग बौद्ध हैं। इस कारण से इनके धार्मिक ग्रंथ तिब्बती लिपि में उपलब्ध हैं। ये दोनो भाषाएँ प्राथमिक स्तर पर पढ़ायी जाती हैं। पाठ्यपुस्तकें तिब्बती लिपि में प्रकाशित की जाती हैं।'' फ़िलहाल राज्य सरकार की ओर से सिक्किम की ग्यारह भाषाओं को राजकीय संरक्षण प्राप्त है। द्वितीय भाषा के रूप में सिक्किम के विद्यालयों में नेपाली के अतिरिक्त लेप्चा, भोटिया और लिम्बू भाषाओं की पढ़ाई होती है।

राज्याश्रय और बहुसंख्यक आबादी द्वारा बोले जाने के कारण नेपाली सिक्किम की सर्वाधिक प्रभावशाली भाषा है। विद्यालयों में यह शिक्षा का माध्यम है और इस भाषा में अनेक स्थानीय समाचार–पत्र भी निकलते हैं। लेकिन आठवीं अनुसूची में शामिल नेपाली में साहित्य लेखन की स्थिति यह है कि कई बार इस भाषा की किसी रचना को साहित्य अकादमी के पुरस्कार के योग्य ही नहीं पाया गया। नेपाली की इस त्रासद स्थिति के आईने में राज्य की अन्य भाषाओं की स्थिति का अंदाज़ा सहज ही लगाया जा सकता है। सिक्किम की अधिकांश भाषाओं का भंडार

लोक साहित्य से भरा पड़ा है, लेकिन आधुनिक साहित्य का लेखन नेपाली के अलावा लेप्चा, लिम्बू और भुटिया में ही होता है और यह मात्रा और गुणवत्ता दोनों दृष्टियों से बहुत कमज़ोर है।

आज़ादी के पहले ईसाई धर्म प्रचारकों ने पूर्वोत्तर के अन्य हिस्सों में अपने धर्म के प्रचार का माध्यम अंग्रेज़ी या स्थानीय भाषाओं को बनाया, लेकिन सिक्किम में उन्हें हिंदी का सहारा लेने के लिए मजबूर होना पड़ा। इससे पता चलता है कि बीसवीं सदी के आरंभिक दशकों में ही सिक्किम में हिंदी की स्थिति मज़बूत हो चुकी थी। शायद यही वजह है कि सिक्किम के विद्यालयों में हिंदी की पढ़ाई आरंभ से ही होती है। सन् 1925 में स्थापित सिक्किम के पहले हाई स्कूल में हिंदी एक विषय के रूप में पढ़ाया जाता था। आज सिक्किम के सभी 780 विद्यालयों में हिंदी तीसरी से आठवीं कक्षा तक अनिवार्य विषय के रूप में और नवीं एवं दसवीं में ऐच्छिक विषय के रूप में पढ़ायी जाती है। सन् 1978 में सिक्किम का पहला महाविद्यालय स्थापित हुआ और इसके साथ ही उसमें हिंदी विभाग की स्थापना हो गयी। बिहार के लम्बोदर झा हिंदी के पहले व्याख्याता नियुक्त हुए। लेकिन विद्यार्थियों के अभाव के कारण चार–पाँच वर्षों में ही उसे बंद करना पड़ा। अभी राज्य के संस्कृत विश्वविद्यालय और सिक्किम केंद्रीय विश्वविद्यालय में हिंदी विभागों की स्थापना हो गयी है और वहाँ पर्याप्त संख्या में विद्यार्थी हिंदी साहित्य का अध्ययन कर रहे हैं। एक स्थानीय विद्यार्थी चुकी लेप्चा की नियुक्ति सिक्किम विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में होना भी हर्ष का विषय है।

पूर्वोत्तर के अन्य प्रांतों की तुलना में सिक्किम में हिंदी व्यवहार के स्तर पर ज़्यादा प्रभावी और व्यापक है, लेकिन हिंदी–शिक्षण एवं साहित्य–लेखन के मामले में यह काफ़ी पीछे है। इसकी मूल वजह आम जनता में विद्यमान हिंदी भाषा में अध्ययन और साहित्य मात्र के प्रति उपेक्षा का भाव है। वैसे तो आज दुनिया भर में साहित्य और साहित्यकार चिंताजनक स्थितियों में हैं, लेकिन जनजातीय समाजों में तो उनके हालात भयावह मोड़ तक पहुँच गये हैं। मातृभाषाओं से अलगाव और अचानक अजनबी भाषिक परिवेश में धकेले जाने से पैदा भटकाव के कारण जनजातीय समाज साहित्यिक संवेदना से शून्य हो गया है। असम और मणिपुर में हिंदी का व्यापक विरोध है, लेकिन वहाँ रचनात्मक माहौल है, परिणामतः व्यक्तिगत प्रयासों के कारण कुछ श्रेष्ठ हिंदी रचनाएँ देखने को मिल जाती हैं। पूर्वोत्तर के अन्य प्रांतों में जब स्थानीय भाषाओं में ही साहित्य लेखन संकट के दौर से गुज़र रहा है, तब हिंदी साहित्य का क्या कहना। सिक्किम में हिंदी भाषा की उपस्थिति चाहे जिस स्तर की हो, लेकिन यहाँ हिंदी साहित्य का लेखन न के बराबर है। इसकी सबसे बड़ी वजह देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली नेपाली भाषा की मज़बूत उपस्थिति है। भारत की आठवीं अनुसूची में शामिल यह भाषा स्थानीय रचनाकारों की समस्त साहित्यिक आकांक्षाओं को पूर्ण करने में सक्षम है, इसलिए स्थानीय आबादी बेहतर हिंदी जानने के बाद भी उसमें साहित्य लेखन की ओर प्रवृत नहीं होती। पूर्वोत्तर के अन्य राज्यों में बड़े पैमाने पर हिंदी विरोध के बावजूद हिंदी साहित्य लेखन में प्रगति की एक वजह यह भी है कि यह भाषा स्थानीय रचनाकारों को राष्ट्रीय प्रतिष्ठा दिला पाने में सक्षम है।

सिक्किम में हिंदी साहित्य के लेखन का छिटपुट प्रयास बीसवीं सदी के पाँचवें दशक में आरंभ हुआ। उस समय सिक्किम के स्थानीय रचनाकार दार्जिलिंग और सिलीगुड़ी से निकलने वाले हिंदी अखबारों में अपनी रचनाएँ प्रकाशित कराते थे। 1957 में गंगटोक से 'कंचनजंघा' नामक एक पाक्षिक नेपाली पत्रिका निकलनी प्रारंभ हुई, जिसमें कभी–कभार हिंदी की रचनाएँ भी प्रकाशित होती थीं। बाद में गंगटोक स्थित भारतीय राजनीतिक अधिकारी के कार्यालय में स्थापित सार्वजनिक पुस्तकालय से निकलने वाली 'उषा' नामक पत्रिका में भी कुछ हिंदी की रचनाएँ निकलने लगीं। सिक्किम से हिंदी की पहली पुस्तक 1976 में प्रकाशित हुई। 'बीस बढ़ते कदम' नामक यह रचना एक गीतिनाटक था और उसके लेखक ध्रुव नारायण सिंह थे। सिक्किम में हिंदी साहित्य के विकास की कहानी एक व्यक्ति के समर्पण की गाथा है। सुवास दीपक सिक्किम में हिंदी के एकमात्र साहित्यकार हैं। उनकी पहली रचना 1972 ई. में 'सारिका' में छपी थी। 1973 में उनकी एक लघुकथा 'आवाज़ों के बीच' एक स्थानीय पत्रिका में प्रकाशित हुई और काफ़ी चर्चित हुई, लेकिन उनको असली प्रसिद्धि मिली 1977 के 'सारिका' के युवा कथाकार विशेषांक में प्रकाशित कहानी 'पड़ोसी' के कारण। 1985 में प्रकाशित इनके उपन्यास 'अरण्य रोदन' को सिक्किम का पहला हिंदी उपन्यास होने का गौरव प्राप्त है। 1995 में प्रकाशित इनके कविता–संग्रह 'खुला दरवाज़ा' और 2004 में प्रकाशित कहानी–संग्रह 'चक्रव्यूह तथा अन्य कहानियाँ' को भी अपनी–अपनी विधाओं में पहला होने का सम्मान प्राप्त है। सुवास दीपक ने हिंदी में मौलिक

रचनाएँ करके हिंदी साहित्य का विकास तो किया ही, इसके साथ ही हिंदी–नेपाली और नेपाली–हिंदी में अनुवाद कार्य करके भी उन्होंने हिंदी साहित्य की अभिवृद्धि की। उन्होंने गोपीचंद नारंग की चर्चित रचना 'संरचनावाद, उत्तर संरचनावाद एवं प्राच्य काव्यशास्त्र' और अटल बिहारी वाजपेयी की 'मेरी इक्यावन कविताएँ' का नेपाली में अनुवाद किया है। सुवास दीपक के अलावा सिक्किम में हिंदी का कोई बड़ा साहित्यकार नहीं दिखता लेकिन चन्द्रचूड़ नारायण शर्मा, के. एन. शर्मा, श्याम प्रधान, पद्म छेत्री जैसे कुछ नये रचनाकार इस क्षेत्र में सक्रिय हो रहे हैं, जिनसे हम उम्मीद कर सकते हैं।

पूर्वोत्तर के सीमांत प्रांतों में स्थित नागालैंड, मिज़ोरम और मेघालय की सामाजिक–सांस्कृतिक–साहित्यिक संरचना के साथ–साथ हिंदी के हालात भी लगभग एक समान हैं। इन राज्यों की लगभग शत–प्रतिशत आबादी ईसाई धर्म स्वीकार कर चुकी है और अपने स्थानीय धर्म से काफ़ी दूर जा चुकी है। नागालैण्ड अपने आक्रामक अलगाववादी नज़रिये के कारण पूर्वोत्तर का काफ़ी चर्चित राज्य रहा। यहाँ हिंदी की स्थिति पूर्वोत्तर में सर्वाधिक खराब है। यहाँ मणिपुर जैसा ही हिंदी विरोध है। आज़ादी के बाद 'असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति', गुवाहाटी, 'केंद्रीय हिंदी संस्थान', आगरा एवं 'हिंदी प्रचार सभा', वर्धा आदि संस्थाओं ने इस प्रदेश में हिंदी के प्रचार–प्रसार को बढ़ावा दिया। सन् 1963 को स्वतंत्र राज्य बनने के पहले तक नागालैंड असम का हिस्सा था, इसलिए यहाँ असमिया की पढ़ाई अनिवार्य थी। स्वतंत्र राज्य बनने के बाद केंद्र सरकार की योजना के अनुसार असमिया की जगह पर हिंदी का अध्ययन–अध्यापन ज़रूरी हो गया। इस क्रम में बड़ी संख्या में हिंदी के अध्यापक इस क्षेत्र में आए और उन्होंने अपने परिश्रम से इस प्रांत में हिंदी का व्यापक प्रचार–प्रसार किया। सन् 1990 में इन शिक्षकों ने 'हिंदी शिक्षक संघ' नाम से अपना संघ बनाया, जिसने हिंदी के प्रसार में केंद्रीय भूमिका निभाई। संघ के प्रयासों से सन् 1998 में नागालैण्ड के विद्यालयों में आठवीं तक हिंदी को अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ाया जाने लगा। संघ ने स्थानीय भाषाओं और हिंदी के बीच की दूरी को समाप्त करने का भी प्रयास किया। अब धीरे–धीरे लोग अलगाववादियों की धमकियों को दरकिनार करते हुए हिंदी के विकास का प्रयास कर रहे हैं।

नागालैंड में हिंदी में कुछ ज़्यादा लिखा नहीं गया है, नागालैंड पर भी हिंदी में बहुत कम मिलेगा। इस प्रदेश की भाषाओं के कुछ शब्दकोश अवश्य निर्मित हुए हैं। बी.आर. कुमार ने नागा–हिंदी शब्दकोश तैयार किया है। सन् 1995-96 में के. फ़योखामो लोथा ने 'हिंदी अंग्रेज़ी लोथा शब्दकोश तथा शब्दावली' का निर्माण किया। अभी हाल ही में 'केंद्रीय हिंदी संस्थान' ने यहाँ की भाषा जेलियांग को केंद्र में रखकर हिंदी–जेलियांग अध्येता कोश का निर्माण किया है। यहाँ हिंदी में जो कुछ भी लिखा गया है वह लोथा जी द्वारा ही लिखा गया है। 'नागालैंड में हिंदी की स्थिति का आकलन', 'नागालैंड में हिंदी का विकास परम आवश्यक', 'नागा जनजातियों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्य : एक धरोहर' जैसे लेख हिंदी के प्रति उनकी प्रतिबद्धता को प्रदर्शित करते हैं।

मिज़ोरम में हिंदी की स्थिति बेहद खराब है। इस राज्य की सीमाएँ असम और त्रिपुरा से मिलती हैं। यहाँ मुख्य रूप से मिज़ो भाषा बोली जाती है। राज्य की संपर्क भाषा भी यही है। बाहरी लोगों से संपर्क अंग्रेज़ी के द्वारा होता है। यह राज्य भी काफ़ी लंबे समय तक आतंकवाद से प्रभावित रहा और उन दिनों केंद्रीय सत्ता के विरोध को प्रभावी बनाने के लिए राजभाषा हिंदी का विरोध भी किया जाता था। पूर्वोत्तर के अन्य राज्यों की तरह मिज़ोरम में भी लुशाई, मारा, म्हार, पाइते, राल्ते आदि कई जनजातियाँ रहती हैं, लेकिन अब इन जनजातियों ने अपनी क्षेत्रीय पहचानों को दबाकर खुद को 'मिज़ो' के रूप में स्थापित कर लिया है। पूर्वोत्तर का एक सत्य यह भी है कि जिन राज्यों में क्षेत्रीय अस्मिता जितनी मज़बूत है, राजभाषा हिंदी सहित किसी भी अन्य भाषा का विस्तार वहाँ उतना ही कम है। नागालैंड, मणिपुर, मेघालय सहित मिज़ोरम इसकी मिसाल है।

सन् 2001 की जनगणना के अनुसार मिज़ोरम में महज़ तीन भाषाएँ–लुसाई या मिज़ो, लाखेर और पावी ही दस हज़ार से अधिक लोगों के द्वारा बोली जाती हैं। इसके साथ ही यहाँ चकमा, रियाङ और नेपाली भाषाएँ भी बोली जाती हैं। यहाँ कार्यालय की भाषा अंग्रेज़ी एवं बाज़ार की भाषा मिज़ो है, जबकि घरों में स्थानीय भाषाओं का प्रयोग होता है। मिज़ोरम में हिंदी अंग्रेज़ों के साथ आई और 'असम राष्ट्रभाषा परिषद्' के प्रयासों से विस्तार पाई। 3 जून, 1968 ई. को 'मिज़ोरम हिंदी प्रचार सभा' की स्थापना हुई और उसने 4 फ़रवरी, 1994 ई. को अपनी कार्यकारिणी समिति की बैठक में मिज़ोरम के उच्च माध्यमिक विद्यालयों में

हिंदी को एक अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ाने का प्रस्ताव पारित कर दिया। 1 फ़रवरी, 1980 को हुए सभा के छठे वार्षिक अधिवेशन में प्राथमिक विद्यालयों में हिंदी को अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ाने का प्रस्ताव भी सर्वसम्मति से पास हुआ। लेकिन यह आज तक लागू नहीं हो सका। सन् 2000 में मिज़ोरम के प्रसिद्ध कॉलिज आइजोल कॉलिज में पहली बार हिंदी विभाग खोला गया। इसके साथ ही हाल ही में यानी 2010 ई. में मिज़ोरम विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग की स्थापना हुई। सन् 1977 में यहाँ 'मिज़ोरम हिंदी प्रचार समिति' का गठन हुआ था। इसके पहले ही 1975 में ही 'हिंदी प्रशिक्षण संस्थान' और 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' (वर्धा) की शाखा भी खोली गई थी। इन संस्थानों ने हिंदी के शिक्षकों के प्रशिक्षण के माध्यम से जमीनी स्तर पर हिंदी के प्रचार में बड़ी भूमिका निभायी। इसका परिणाम यह हुआ है कि आज मिज़ोरम में हिंदी की स्थिति में थोड़ा सुधार हुआ है। इस विषय में दिनेश कुमार द्विवेदी अपने लेख 'मिज़ोरम और हिंदी' में लिखते हैं — ''वर्तमान स्थिति का अध्ययन करने से पता चलता है कि मिज़ोरम प्रदेश में तीस प्रतिशत लोग हिंदी बोलने, समझने तथा पढ़ने में रुचि रखते हैं। अगर स्कूली स्तर पर देखा जाए तो अभी तक *500* हिंदी अध्यापकों की नियुक्ति प्राइमरी स्कूल स्तर पर, लगभग *826* मिडल स्कूल स्तर पर तथा लगभग *401* हाई स्कूल स्तर पर हो चुकी है और हिंदी अध्यापकों की नियुक्ति की प्रक्रिया चल रही है।''

मिज़ोरम में हिंदी साहित्य लेखन निजी प्रयासों तक सीमित है। डॉ. सी. ई. जीनी, सी. कामलोवा, वी. एल. ङाहका और सेलेत थङा जैसे स्थानीय लेखकों ने हिंदी में साहित्य रचने का छिटपुट प्रयास किया है। डॉ. सी. ई. जीनी मिज़ोरम हिंदी के रचनाकारों में अग्रगण्य हैं। मूलतः भाषाविद और शिक्षाविद श्रीमती जीनी ने अपने शोध–ग्रंथ 'पूर्वांचल प्रदेश में हिंदी भाषा और साहित्य' को पुस्तकाकार रूप दिया है। इसके साथ ही वे देश की अनेक पत्र–पत्रिकाओं में आलेख, लोककथा, कविता आदि भी लिखती रहती हैं। सन् 1998-2000 के दौरान चीन के पेकिंग विश्वविद्यालय में रहते हुए इन्होंने हिंदी का अध्यापन कार्य किया और 'चीन का इतिहास' नामक एक पुस्तक लिखी। इनकी अन्य पुस्तकें हैं — 'हिंदी–अंग्रेज़ी–मिज़ो शब्दकोश', 'हिंदी रीडर', 'सुमन भारती', 'मिज़ो लोककथाएँ', 'विश्व के देशों में हिंदी के अध्ययन–अध्यापन केन्द्र'। सी. कामलोवा की अधिकांश पढ़ाई हिंदीभाषी इलाकों में ही हुई है, जहाँ से उन्हें हिंदी का संस्कार मिला। वे मूलतः कवि हैं। सी. ई. जीनी ने 'हारा हुआ पुरुषार्थ', 'नारा', 'समझौता' और 'उलझन' नामक इनकी चार कविताएँ प्रकाशित की हैं, लेकिन अब तक इनकी कोई स्वतंत्र पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई है। ये 'मिज़ोरम हिंदी प्रचार सभा' के अध्यक्ष भी रहे हैं। वी. एल. ङाहका ने 'हिंदी–मिज़ो शब्दकोश' का निर्माण किया, जो असम प्रकाशन समिति, गुवाहाटी से प्रकाशित है। इन्होंने एक 'हिंदी–मिज़ो व्याकरण' का निर्माण भी किया है, जो जूनियर स्तर के हिंदी के छात्रों को ध्यान में रखकर बनाया गया है। श्री सेलेत थङा ने हिंदी सीखने की पुस्तक–एक (हिंदी जिरना बू–1) तथा हिंदी सीखने की पुस्तक–दो (हिंदी जिरना बू–2) जैसी दो पुस्तकों की रचना की है, जो अहिंदी भाषी विशेषकर मिज़ो लोगों को हिंदी सिखाने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं।

'मेघों के आलय' के नाम से प्रसिद्ध मेघालय की सीमाएँ तीन ओर से असम से और पश्चिम–दक्षिण दिशा में बंगलादेश से संबद्ध हैं। असम के गारो, खासी तथा जयंतिया पहाड़ियों को अलग करके 21 जनवरी 1972 ई. को 'मेघालय' को भारत का 21वाँ राज्य घोषित कर दिया गया। पूर्वोत्तर के किसी भी सीमांत प्रांत के पहले यहाँ 'नेहू' नामक एक केंद्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना हुई, लेकिन वहाँ का हिंदी विभाग लंबे समय तक असम और बाहरी छात्रों की बदौलत ही संचालित होता रहा।

मेघालय में हिंदी का स्वाभाविक विकास होना चाहिए था, क्योंकि पूर्वोत्तर के किसी भी सीमांत राज्य के बहुत पहले यह हिंदीभाषियों के संपर्क में आया। अंग्रेज़ों की सेना–प्रशासन में हिंदी बोलने वालों की बड़ी संख्या थी। पर इसका कोई खास असर मेघालय के समाज पर नहीं पड़ा। स्वाधीनता आंदोलन के दौरान 'असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' ने इस राज्य में भी पाँव पसारे, लेकिन बहुत दूर चल नहीं पाया। आजकल 'केंद्रीय हिंदी संस्थान' और 'मेघालय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' के प्रयासों से हिंदी में प्रशिक्षण के कार्यक्रम तो चल रहे हैं, लेकिन जनता के बीच हिंदी की पहुँच व्यापक पैमाने पर नहीं हो पा रही है।

पूर्वोत्तर के अन्य राज्यों की तरह मेघालय में भी हिंदी–शिक्षण को मज़बूत करने की ज़रूरत है। विद्यालयों–महाविद्यालयों में हिंदी के अध्यापन से हिंदी की एक ऐसी ज़मीन तैयार होती है, जिसपर हिंदी प्रसार के बहुत सारे वृक्ष तैयार हो जाते हैं। मेघालय

के विद्यालयों में हिंदी की स्थिति का परिचय देते हुए डॉ. प्रदीप कुमार शर्मा ने अपनी पुस्तक 'मेघालय में हिंदी की प्रगति' में लिखा है कि ''*राज्य सरकार की हिंदी की भाषागत नीति विषयक धारणाएँ स्पष्ट नहीं हैं, क्योंकि किन्हीं स्कूलों में कक्षा छः से हिंदी प्रारम्भ है, तो किन्हीं स्कूलों में कक्षा दो से कक्षा सात तक, कहीं कक्षा पाँच से कक्षा सात तक। साथ ही कुछ स्कूलों में तृतीय भाषा के रूप में ऐच्छिक भी है। इसके अतिरिक्त एक और कारण भी है, माध्यम भाषा के रूप में अंग्रेज़ी के साथ वैकल्पिक विषय के रूप में अन्य भारतीय भाषाओं के साथ वैकल्पिक अंग्रेज़ी को विकल्प रूप रखने के कारण विद्यार्थी वैकल्पिक विषय के रूप किसी भारतीय भाषा को न लेकर अंग्रेज़ी को लेता है। इससे न केवल हिंदी का विकास अवरुद्ध हो रहा है, वरन दूसरी भारतीय भाषाओं का भी।*' मेघालय के केवल दो महाविद्यालयों में हिंदी मुख्य विषय के रूप में पढ़ाई जाती है। यहाँ के एकमात्र विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में स्थानीय विद्यार्थियों की संख्या अपेक्षा के अनुरूप नहीं है।

मेघालय ही नहीं, बल्कि समस्त पूर्वोत्तर भारत में यदि हिंदी–शिक्षण को मज़बूत आधार प्रदान किया जाए, तो इस इलाके में हिंदी के विस्तार को कोई रोक नहीं सकता है। पूर्वोत्तर के केवल एक राज्य अरुणाचल में प्राथमिक स्तर से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक हिंदी–शिक्षण की मज़बूत व्यवस्था बनाई गई है। इसका परिणाम यह है कि वहाँ हिंदी विद्यालय से लेकर व्यवहार तक में फैल गई है। अरुणाचल में हिंदी नौकरी देने वाली भाषा है। स्थानीय फ़िल्म उद्योग से लेकर अखबारों और अध्यापन के क्षेत्र में हिंदी रोज़गार की भाषा बन गई है। अरुणाचल के विद्यार्थी अज्ञात भय से अपने राज्य के बाहर नौकरी की तलाश नहीं कर रहे हैं, वरना वह दिन दूर नहीं जब देश के अन्य विद्यालयों में अरुणाचली विद्यार्थी हिंदी पढ़ाते हुए मिल जाएँगे। पर पूर्वोत्तर के अन्य प्रांतों में हिंदी शिक्षण की स्थिति उतनी अच्छी नहीं है। सुचिता साङमा ने अपने लेख 'पूर्वोत्तर भारत और हिंदी' में मेघालय के विषय में इसकी जो वजह बताई है वह सारे पूर्वोत्तर भारत के लिए सही है – ''*हिंदी भाषा की अवहेलना करना, उच्चारण की ओर ध्यान न देना, योग्य शिक्षकों की कमी, किताबों का उपलब्ध न होना, हिंदी भाषा का कक्षा एक से न पढ़ाया जाना, शिक्षकों का अपने विद्यार्थी के प्रति अवहेलना दिखाना, पाठ्यक्रम कक्षा स्तर के अनुसार न होना आदि विद्यालयी स्तर की मुख्य समस्याएँ हैं। शायद इन्हीं सब कारणों से मेघालय राज्य के विद्यालयों में हिंदी शिक्षण में समस्याएँ हो रही हैं।*'

मेघालय में 'जागरण', 'आज का संसार', 'रूपांजलि', 'पूर्वांचल प्रदेश' जैसी हिंदी की कई पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं, लेकिन 'केंद्रीय हिंदी संस्थान' आगरा से सन् 2008 से प्रकाशित होने वाली 'समन्वय पूर्वोत्तर' ने हिंदी साहित्य के प्रसार में महती भूमिका निभाई है। हिंदी के विकास के लिए कई मोर्चों पर काम करने की ज़रूरत है। अहिंदीभाषियों के लिए हिंदी शिक्षण में सक्रिय सहयोग प्रदान करने से लेकर हिंदी साहित्य लेखन में उनकी व्यापक भूमिका निर्धारित करने तक। हिंदी के विकास के साथ पूर्वोत्तर भारत में बड़ी संख्या में हिंदी में सृजनात्मक लेखन करने वाले युवा तैयार होने लगे, लेकिन इन लेखकों को कोई साहित्यिक मंच नहीं मिल पाता था। 'समन्वय पूर्वोत्तर' ने पिछले दस वर्षों में यह कमी खत्म कर दी है। इसमें पूर्वोत्तर के लोक साहित्य को भी पर्याप्त मात्रा में प्रकाशित किया जाता है, इस वजह से पूर्वोत्तर के लोगों के मन में हिंदी के प्रति लगाव बढ़ रहा है।

अरुणाचल प्रदेश में हिंदी की स्थिति पूर्वोत्तर के सभी सीमांत प्रांतों में सबसे बेहतर है। यह राज्य लगभग हिंदीभाषी राज्य है। यहाँ की संपर्क भाषा हिंदी है। यह चमत्कार कैसे घटित हुआ, इसको ठीक–ठीक तो पहचान पाना कठिन है, लेकिन इसमें इसकी भौगोलिक संरचना की बड़ी भूमिका है। लगभग पच्चीस प्रमुख जनजातियों और सौ छोटी जनजातियों वाला यह राज्य दुर्गम पहाड़ों के बीच स्थित है। दीर्घकाल से इन जनजातियों का आपसी संपर्क न के बराबर था। अंग्रेज़ों के आने के बाद ये आपस में मिले और तब इनकी संपर्क भाषा असमिया बनी। अरुणाचल की अधिकांश आंतरिक सीमा असम से और अंतरराष्ट्रीय सीमा चीन से मिलती है। सन् 62 में हुए चीनी आक्रमण ने लगभग सोए हुए इस राज्य में हलचल ला दिया। तब यह राज्य भारतीय राजनीति का केंद्रबिंदु बन गया। भारतीय सेना के साथ–साथ उत्तर भारत के व्यापारियों की बड़ी संख्या यहाँ आई और उनके साथ आई हिंदी। सन् 66 में उत्तर भारत में भयानक अकाल पड़ा और 1972 में अरुणाचल केंद्र शासित प्रदेश बना। इस वजह से सरकारी कार्यालयों में कर्मचारियों सहित अरुणाचल के विद्यालयों में शिक्षकों की व्यापक पैमाने पर नियुक्ति हुई। इस नियुक्ति में उत्तर भारत के युवाओं ने बढ़–चढ़कर भाग लिया। उन्होंने

विद्यालयों के साथ–साथ पूरे अरुणाचल प्रदेश को हिंदीमय कर दिया। चीनी आक्रमण का सांस्कृतिक प्रतिवाद रचने के लिए भारत सरकार ने भी इस राज्य में हिंदी को बढ़ावा दिया। इस क्रम में यहाँ कक्षा एक से विश्वविद्यालय स्तर तक हिंदी की पढ़ाई होने लगी। आकाशवाणी और दूरदर्शन के अधिकांश कार्यक्रम हिंदी में प्रसारित होने लगे। सन् 80 तक आते–आते अरुणाचल में हिंदी का वर्चस्व इतना बढ़ गया कि प्रसिद्ध असमिया गीतकार भूपेन हज़ारिका पहला अरुणाचली फ़ीचर फ़िल्म 'मेरा धर्म मेरी माँ' हिंदी भाषा में बनाने को मजबूर हो गए।

आज अरुणाचल में हिंदी बाज़ार से लेकर विद्यालयों तक में सम्मान के साथ आसीन है। अरुणाचल पूर्वोत्तर का अकेला राज्य है, जहाँ प्राथमिक स्तर से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक हिंदी की पढ़ाई होती है। इसका प्रभाव इतना ज़ोरदार है कि हिंदी यहाँ सरकारी नौकरी दिलाने वाली भाषा है। विद्यालयों में हिंदी की अनिवार्यता के कारण यहाँ हिंदी शिक्षकों की बड़े पैमाने पर नियुक्ति होती है। साठ–सत्तर के दशक में आए हिंदी भाषी शिक्षक अब सेवानिवृत्त हो रहे हैं और उनकी जगह लेने के लिए अरुणाचल की युवा पीढ़ी तैयार है। अरुणाचल के पासीघाट में जब पहला महाविद्यालय खुला तब उसमें कुल पाँच विषयों की पढ़ाई होती थी और उसमें एक विषय हिंदी था। यहाँ के एकमात्र विश्वविद्यालय राजीव गांधी विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग ने तो सफलता का कीर्तिमान ही रच दिया है। पिछले लगभग बीस वर्षों के दौरान यहाँ के लगभग सौ से अधिक विद्यार्थी विद्यालयों में और तीस से अधिक विद्यार्थी महाविद्यालयों में नियुक्ति पा चुके हैं। नेट/ जे. आर. एफ़. की परीक्षा पास करने वाले विद्यार्थियों की संख्या पचास से अधिक है। और यह सब संभव हुआ हिंदी शिक्षण की स्थिति में जमीनी बदलाव की वजह से।

पूर्वोत्तर के अन्य राज्यों में स्थानीय रचनाकारों द्वारा हिंदी साहित्य लेखन की कोशिशें कम देखने को मिलती हैं। इन राज्यों में हिंदी लेखन व्यक्तिगत प्रयासों की वजह से संभव हो पाया है, लेकिन अरुणाचल में हिंदी लेखन का माहौल है। अन्य राज्यों का हिंदी लेखन जहाँ अनुवाद के द्वारा संभव हो पा रहा है, वहीं अरुणाचल का हिंदी लेखन स्वाभाविक है। इसका परिणाम यह हुआ है कि सन् 2017 में साहित्य अकादमी द्वारा हिंदी साहित्य का युवा पुरस्कार अरुणाचल के रचनाकार तारो सिंदिक को उनके पहले कविता–संग्रह 'अक्षरों की विनती' के लिए प्रदान किया गया है। यह समस्त पूर्वोत्तर के लिए एक गर्व का विषय है। अरुणाचल में हिंदी में मौलिक लेखन की शुरुआत जुमसी सिराम से होती है, जिन्होंने 'शिला का रहस्य', 'जाई बोने' और 'मेरी आवाज़ सुनो' जैसे चर्चित उपन्यासों की रचना कर इस राज्य में हिंदी लेखन की ज़मीन तैयार कर दी। जोराम यालम नाबाम के कहानी–संग्रह 'साक्षी है पीपल' की चर्चा राष्ट्रीय स्तर पर हुई है। इनकी कहानियाँ अरुणाचली संवेदना की वाहक हैं। ताई तुगुंग नामक युवक ने 'लाप्या' नामक स्वरचित नाटक का मंचन कर अरुणाचल में नाट्य–प्रदर्शनों की परंपरा शुरू कर दी। आज अरुणाचल में बड़े पैमाने पर हिंदी नाटक प्रदर्शित हो रहे हैं। ताई तुगुंग फ़िल्मों में भी काम करते हैं। हिंदी पढ़े–लिखे अनेक युवा अरुणाचल में बनने वाली फ़िल्मों का हिस्सा हैं। ऐसा ही एक प्रसिद्ध नाम है – तेची उपेन तारा का। जमुना बीनी, ताई तुगुंग, दोगे डोमदिर, वनश्री पर्टिन जैसे युवा रचनाकारों से अरुणाचल में हिंदी का भविष्य अवश्य समृद्ध होगा।

पूर्वोत्तर के भाषिक परिदृश्य पर इस विस्तृत विचार से स्पष्ट है कि जिन राज्यों की समृद्ध साहित्यिक विरासत है वहाँ हिंदी को अपना पाँव फैलाने में मुश्किल पैदा हुई। लेकिन यदि वहाँ हिंदी के प्रति प्रेम करने वाला छोटा समुदाय भी निर्मित हो गया है, तो तमाम विपरीत परिस्थितियों के कुछ बेहतर साहित्यिक रचनाओं ने आकार ग्रहण कर लिया है। मणिपुर इसका सशक्त प्रमाण है। हिंदी के विस्तार और उसके साहित्य लेखन का संबंध सीधा नहीं है। यदि किसी राज्य में हिंदी भाषा का व्यापक प्रचार–प्रसार है, तो इसका मतलब यह नहीं है कि वहाँ बेहतर साहित्य भी रचा जा रहा हो। अरुणाचल में हिंदी की स्थिति पूर्वोत्तर में सर्वाधिक बेहतर है, लेकिन वहाँ हिंदी साहित्य का लेखन कम हुआ है। भाषा और धर्म के रिश्ते को भी सरलीकृत तरीके से नहीं देखा जा सकता। हिन्दू बहुल मणिपुर और त्रिपुरा में हिंदी का प्रसार बहुत कम है। बंगलादेश से असम और पूर्वोत्तर के सीमांत प्रांतों में आने वाले बहुसंख्यक मुसलमान असमिया की जगह हिंदी बोलना अधिक पसंद करते हैं। संभवतः इससे वे अपनी बंगला पहचान को आसानी से छुपा पाते हों। जबकि उत्तर भारत के मुसलमान खुद को हिंदीभाषी की जगह उर्दूभाषी कहलाना ज़्यादा पसंद करते हैं। लेकिन इतना माना जाना चाहिए कि जिन इलाकों में ईसाई धर्म का वर्चस्व बढ़ा है, वहाँ हिंदी के प्रति उपेक्षा और

घृणा का भाव भी बढ़ा है। पूर्वोत्तर में हिंदी के प्रसार में हिंदी सिनेमा और टेलीविजन चैनलों की बड़ी भूमिका है। बॉलीवुड के मोहक प्रभाव में पूर्वोत्तर के युवाओं ने बंदूक को तजकर गिटार उठा लिया है। उन्हें न केंद्रीय सत्ता से अब ज्यादा शिकायत रह गई है और न ही किसी भाषा के विरोध की राजनीति में वह शामिल होना चाहता है। उसे जिस भी भाषा से रोटी मिलेगी, उस भाषा को वह सहजता से स्वीकार कर लेगा। अब जरुरत इस बात की है कि हिंदी को विद्यालय, बाज़ार और नौकरियों की भाषा बनाया जाए, फ़िर उसे पूर्वोत्तर ही नहीं, बल्कि दुनिया भर में फैलने से कोई रोक नहीं पाएगा। लेकिन, हिंदी का यह विस्तार लोकतांत्रिक तरीके से ही होना चाहिए।

संदर्भ ग्रंथ :

1. 'पूर्वोत्तर में हिंदी' उलुपी', अक्टूबर–2009, सं–रविशंकर रवि, पृ. सं 49–50
2. वही, पृ. सं. 72
3. 'पूर्वांचलीय राज्यों के साहित्यकारों का हिंदी को योगदान', हरेराम पाठक, पृ. स. 266
4. वही, पृ. सं 238
5. 'समन्वय पूर्वोत्तर', अप्रैल–जून–2010, पृ. सं. 110
6. 'मेघालय में हिंदी की प्रगति', प्रदीप कुमार शर्मा, पृ. स. 21
7. 'समन्वय पूर्वोत्तर', अंक–नौ, अक्टू–दिस.–2010, पृ. सं. 59

amarrgu@gmail.com

है भव्य भारत ही हमारी मातृभूमि हरि भरी।
हिंदी हमारी राष्ट्रभाषा और लिपि है नागरी?
– मैथिलिशरण गुप्त

महाराष्ट्र में हिंदी की स्थिति

– डॉ. अनीता गांगुली
हैदराबाद, भारत

राज्यों के विस्तार की दृष्टि से महाराष्ट्र तीसरे स्थान पर पाया जाता है। महाराष्ट्र का निर्माण 1960 में भाषा के आधार पर हुआ। मराठी और हिंदी की लिपि एक समान होने के कारण उनके लिए हिंदी समझना एवं पढ़ना बहुत आसान है। महाराष्ट्र के कुछ इलाके जैसे मराठवाड़ा निज़ाम के साम्राज्य में होने के कारण उर्दू मिश्रित हिंदी का प्रभाव दिखायी देता है। इसके अलावा महाराष्ट्र के जो क्षेत्र हिंदी भाषी प्रदेशों जैसे छत्तीसगढ़ एवं मध्यप्रदेश से लगे हुए हैं, वहाँ भी हिंदी अच्छी तरह बोली एवं समझी जाती है, जैसे नागपुर, गोंदिया, भंडारा, चंद्रपुर आदि।

शैक्षिक स्थिति :

महाराष्ट्र में पाँचवीं कक्षा से लेकर 10वीं तक द्वितीय भाषा के रूप में हिंदी पढ़ायी जाती है। यहाँ संयुक्त हिंदी भी प्रचलन में है अर्थात् आधी हिंदी और आधी संस्कृत ताकि संस्कृत पढ़ने वाले छात्र भी हिंदी समझ सके, जान सके, लिख सके। इसके साथ ही आधी हिंदी और आधी मराठी या उर्दू ली जा सकती है।

अंग्रेज़ी मिडल स्कूल में समाज शास्त्र हिंदी में पढ़ाया जाता है। सप्ताह में छह कक्षाएँ आयोजित की जाती हैं। वाद–विवाद, संभाषण आदि के द्वारा हिंदी को बढ़ावा देने का प्रयास किया जाता है। इंटर में हिंदी ऐच्छिक है। अधिकतर छात्रा मराठी या संस्कृत लेते हैं। छात्रों को हिंदी पढ़ने का मौका कम मिलता है। संख्या वाचक शब्दों के उच्चारण और लेखन में एकरूपता का अभाव दिखायी देता है। दोनों भाषाओं की लिपि देवनागरी होने के कारण ह्रस्व, दीर्घ की गलतियाँ होती हैं। मराठी में जो दीर्घ है हिंदी में ह्रस्व है। जैसे –

हिंदी	मराठी	हिंदी	मराठी
ठीक	ठिक	महीना	महिना
प्रकृति	प्रकृती	शनिवार	शनीवार
हाजिर	हाजीर	पीना	पिना
हाजिर	हाजीर	पीकर	पिकर
पुलिस	पुलीस	फिर	फीर
पूरा	पुरा	दूसरा	दुसरा
नीचे	निचे	कवि	कवी

ध्वन्यात्मक दृष्टि से भी अंग्रेज़ी शब्द में आए 'ज' को 'झ' लिखते हैं। जैसे :

रिजर्वेशन – रिझर्वेशन
रिजर्व बैंक – रिझर्व
जिरोक्स– झिरोक्स

कई स्कूलों में केवल सातवीं तक ही हिंदी अनिवार्य होती है, क्योंकि आठवीं कक्षा से वैकल्पिक विषय होने के कारण कई छात्र संस्कृत लेते हैं। हिंदी की पाठ्यपुस्तकें विद्यार्थी केंद्रित, रोचक और आनंदायक है। वे इस प्रकार हैं :

कुमार भारती	प्रथम भाषा
लोक भारती	द्वितीय भाषा (नवीं, दसवीं)
सुलभ भारती	संयुक्त हिंदी (पाँचवी से आठवीं)

जालना शहर में हिंदी माध्यम के लगभग 16 स्कूल हैं। इसका कारण यह है कि पैसा और व्यापार की दृष्टि से यहाँ पर बसे बाहरी लोग काफ़ी समृद्ध हैं। उन लोगों के अपने–अपने विद्यालय हैं, जो उनकी जाति, धर्म के नाम पर अल्पसंख्यक की दृष्टि से चलाये जाते हैं। उदाहरण :

1. सी.टी.एम. के गुजराती विद्यालय
2. राष्ट्रीय हिंदी विद्यालय
3. जैन विद्यालय
4. आर्य हिंदी विद्यालय (आर्य समाजी)
5. हिंदी सिंधी विद्यालय
6. मुस्लिमों के उर्दू स्कूल
7. सेंट मेरी हाईस्कूल, सेंट जॉन्स स्कूल, ऑक्सफ़ोर्ड स्कूल आदि।

सरकारी स्कूल ज़िला स्तर पर इक्के–दुक्के होते हैं। जालना

शहर में लड़कियों के लिए एक गवर्नमेंट गर्ल्स हाईस्कूल और लड़कों के लिए मल्टीपर्पोस बॉइज़ हाईस्कूल है। औरंगाबाद और हिंगोली में हिंदी माध्यम के स्कूल एवं कॉलिज हैं।

महाराष्ट्र के अनेक विश्वविद्यालयों में हिंदी विभाग हैं, जैसे – मुंबई विश्वविद्यालय, पुणे विश्वविद्यालय, राष्ट्र संत तुकड़ोजी महाराज विश्वविद्यालय नागपुर, कर्मयोगी संत गाडगेबाबा, अमरावती विश्वविद्यालय, डॉ. बाबा साहेब अंबेडकर मराठवाड़ा विश्वविद्यालय, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर, यशवंतराव चव्हाण मुक्त विश्वविद्यालय नाशिक। हिंदी के लिए विख्यात महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय तो वर्धा में है ही, जहाँ दुनिया भर के लोग हिंदी सीखने, पढ़ने आते हैं। पुणे विश्वविद्यालय की ख्याति दूर–दूर तक है। पुणे विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग को विभूषित करने वाले डॉ. भगीरथ मिश्र और डॉ. आनंद प्रकाश दीक्षित पुणे की शान हैं।

शिक्षण संस्थाएँ :

महाराष्ट्र में बहुत–सी शिक्षण संस्थाएँ हैं, जो स्कूल, कॉलिज चलाती हैं। सरकारी स्कूल न के बराबर है। जैसे –

1. रैयत शिक्षण प्रसारक मंडल, औरंगाबाद–विनायकराव पाटील
2. मराठवाड़ा शिक्षण प्रसारक मंडल, औरंगाबाद–विनायकराव पाटील
3. मत्सयोदरी शिक्षण संस्था जालना – अंकुराराव टोपे
4. लाल बहादुर शास्त्री शिक्षण संस्था परतूर–बाबा साहेब आकान
5. संजीवनी शिक्षण प्रसारक मंडल परभणी–शेषेराव भरोसे
6. वाल्मीकी शिक्षण प्रसारक मंडल परभणी–अनिल नखाते
7. एकात्मी आणी कृषि विकास संस्था परभणी–कवड़े यामा
8. बलीराज शिक्षण संस्था संजेजीत सोमेश्वर पाखम–गोजेगा वफर
9. सरस्वती शिक्षण मरूत्दण्ड पाउठ गंगाखेड–तापडीया
10. गंगा शिक्षण प्रसारक मंडल–परभणी–हनुमतराज बोबडे

इसके अलावा ज़िला परिषद् (सरकारी स्कूल) है, जहाँ दसवीं तक हिंदी पढ़ायी जाती है। ऐसे स्कूल तहसील स्तर पर एक और ज़िला स्तर पर दो होते हैं। प्राथमिक स्कूल ज़िला परिषद् की ओर से गाँवो में चलाए जाते हैं। शहर में म्यूनिसिपल कॉर्पोरेशन की ओर से चलते हैं। यह देखा गया है स्कूली स्तर पर प्रशिक्षित हिंदी अध्यापक कम होते हैं। हिंदी आसानी से बोल, लिख एवं समझ सकते हैं। इसीलिए छात्र भी इसे गंभीरता से नहीं लेते। आमतौर पर क्रीड़ा शिक्षक को या जिसे हिंदी बोलनी आती है, उसे पढ़ाने को कहा जाता है, जो अपने व्यक्तिगत रुचि एवं प्रयास से या दूसरे अध्यापकों की सहायता लेकर हिंदी शिक्षण करते हैं। यशवंत चव्हाण विकास प्रशासन अकादमी (यशादा) महाराष्ट्र शासन की सर्वोच्च प्रशिक्षण संस्था है। यहाँ विशेषज्ञ प्रशिक्षकों द्वारा प्रशिक्षण दिया जाता है। पुणे की सीडैक संस्था ने भारत में पहली बार हिंदी को कंप्यूटर में लाने का बहुत ही अच्छा प्रयास किया है।

प्रचार सभा :

हिंदी भाषा के प्रचार के लिए महाराष्ट्र में कुछ प्रचार संस्थाएँ काम कर रही हैं। उनमें पाँच नाम सबसे पहले आते हैं –

1. मुंबई हिंदी विद्यापीठ
2. राष्ट्र भाषा सभा पुणे
3. महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा प्रचार समिति पुणे
4. राष्ट्रभाषा प्रचार सभा वर्धा
5. महाराष्ट्र राज्य हिंदी साहित्य एकादमी, मुंबई

मुंबई हिंदी विद्यापीठ द्वारा हिंदी स्नातक तथा स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम चलाया जाता है एवं प्रचुर मात्रा में हिंदी का प्रचार–प्रसार किया जाता है। कोल्हापुर, औरंगाबाद, नांदेड़, नागपुर, अमरावती और सांगली में भी हिंदी राष्ट्रभाषा प्रचार समिति बनायी गयी है। वर्धा केंद्र के ज़रिए छात्र सुबोध से लेकर पंडित की परीक्षा दे सकता है। इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है, जो बहुत अच्छा कार्य करती है। शिक्षास्तर पर जगह–जगह हिंदी अध्यापक मंडल है, जिसका उद्देश्य हिंदी को बढ़ावा देना है। महाराष्ट्र राज्य हिंदी साहित्य एकादमी ने अभी हाल ही में 2018-19 के वार्षिक पुरस्कारों के लिए साहित्यकारों के नामों की घोषणा की है, जिनमें मुंबई के जानेमाने गज़लकार हस्तीमल हस्ती और औरंगाबाद के डॉ. बल भीमराज गोरे का चयन 'जीवन गौरव पुरस्कार' के लिए हुआ है।

कार्यालयी हिंदी :

महाराष्ट्र के हरेक कार्यालय में मराठी और अंग्रेज़ी भाषा का प्रयोग किया जाता है। केवल केंद्र सरकार के कार्यालयों, पोस्ट ऑफ़िस, रेलवे स्टेशन, पुलिस स्टेशन, हवाई अड्डे में थोड़ा बहुत कामकाज हिंदी में होता है, क्योंकि यहाँ दूसरे राज्यों के लोग भी काम करते हैं।

सामाजिक स्थिति :

समाज में हिंदी का प्रचलन काफ़ी कम है। बच्चे टूटी–फूटी हिंदी बोल लेते हैं। वैसे महाराष्ट्र में हिंदी की स्थिति बहुत बुरी नहीं है। इसका कारण है देवनागरी लिपि, जो हिंदी पठन में सहायता करती है। पुस्तकालय के माध्यम से भी हिंदी के प्रसिद्ध लेखकों तथा कवियों के साहित्य जनता को पढ़ने को मिलते हैं। मैंने यह अनुभव किया है कि अध्यापकगण 'प्रेमचंद' को पढ़ने में ज़्यादा रुचि रखते हैं।

होटल में काम करने वाले, सब्ज़ी वाले, टैक्सी/ऑटो चालक, ट्रक, जीप ड्राइवर, व्यवसायी लोग मराठी मिश्रित हिंदी भाषा का प्रयोग करते हैं। कई धार्मिक धर्मगुरु हिंदी में प्रवचन करते हैं। यहाँ का काफ़ी बड़ा समाज हिंदी के प्रवचन सुनते हैं। औद्योगिक एवं व्यावसायिक शहर होने के कारण इसकी राजधानी मुंबई में हर प्रांत के लोग व्यापार एवं रोज़गार की तलाश में आते हैं तथा हिंदी भाषा को संपर्क भाषा के रूप में प्रयोग करते हैं। क्षेत्रीय विशेषताओं के कारण इस प्रकार की हिंदी को 'मुंबईया हिंदी' का नाम दिया गया है।

साहित्य :

महाराष्ट्र को संतो की भूमि कहा जाता है। संत नामदेव वारकरी संप्रदाय के संतकवि थे। उन्होंने पंजाबी और हिंदी में काव्य रचनाएँ की हैं। सिक्खों के गुरू ग्रंथ साहिब में उनके द्वारा लिखे गए बासठ पद संकलित हैं। उन्हें वे नामदेव बाबा नाम से जानते हैं। संत नामदेव ने हिंदी में लगभग 125 पदों की रचनाएँ की हैं। पंजाब के धुमान गाँव में उनका मंदिर है। इसी गाँव में 88वाँ अखिल भारतीय मराठी साहित्य सम्मेलन सन् 2015 में संपन्न हुआ। इसके साथी ज्ञानेश्वर रामदास, तुकाराम देवनाथ आदि संतो ने महाराष्ट्र में रहकर हिंदी की सेवा की है।

हिंदी की पहली कहानी 'एक टोकरी भर मिट्टी' लिखने वाले मराठी भाषी श्री माधवराव सप्रे को हिंदी साहित्य जगत में विशिष्ट स्थान प्राप्त है। महाराष्ट्र ने हिंदी को विनोबा भावे, गजानन माधव मुक्तिबोध एवं तार सप्तक के प्रमुख कवि/लेखक प्रभाकर माचवे जैसे साहित्यकार दिए हैं। आचार्य काका साहब कालेलकर भी इसी श्रृंखला की एक महान कड़ी है। गांधीवादी विचारों से ओतप्रोत वे पर्यटन के शौकीन थे। देश–विदेश की यात्रा कर सफल यात्रावर्णन लिखने वाले मराठी और हिंदी साहित्यकार के रूप में वंदनीय हैं।

आज मराठी भाषी हिंदी कवि, कथाकार एवं अनुवादक डॉ. दामोदर खड़से को कौन नहीं जानता? उनको महात्मा गांधी अंतराष्ट्रीय हिंदी विद्यापीठ में राइटर इन रेज़ीडेंस के रूप में नियुक्त किया गया है। डॉ. खड़से ने लगभग बीस से अधिक मराठी पुस्तकों का हिंदी अनुवाद किया है। उनको 2015 में 'बारोमास' के हिंदी अनुवाद के लिए केंद्रीय साहित्य अकादमी पुरस्कार से नवाज़ा गया है। मराठीभाषी साहित्यकारों ने अनेक उत्तम साहित्यिक रचनाओं का निर्माण किया है। हिंदी कविता के क्षेत्र में कुछ नए कवियों ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है।

पुणे निवासी स्मिता दात्ये, हिंदीतर भाषी हिंदी साहित्यकार को 7 अगस्त 2016 को हैदराबाद में आनंद 'ऋषि साहित्य पुरस्कर' उनके सृजनात्मक लेखन के लिए प्रदान किया गया था। वे 21 पुस्तकों का मराठी से हिंदी में अनुवाद कर चुकी हैं। इससे पूर्व पुणे के ही श्रीपाद जोशी, डॉ. दामोदर खड़से एवं सुनील देवधर को भी यह पुरस्कार मिल चुका है। कैप्टन डॉ. श्री खंडे जी बहुत पहले ही तुलसीदास का रामचरितमानस एवं प्रसाद जी की कामायनी का अनुवाद कर चुके हैं।

आधुनिक काल में बाबूराव विष्णु पराड़कर, लक्ष्मण नारायण गर्दे, राहुल बारपुते, रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर, चंद्रकांत वांडिवडेकर, मनोहर खाडिलकर, पद्भाकर जोशी, अरुण नार्लीकर, गजानंद चव्हाण, लीना वांडिवडेकर, आनंद गोपाल शेवड़े, राजेंद्र धोपड़कर, जगदीश उपासने, अजित वडनेरकर, आलोक पराड़कर, मनोज खाडिलकर, आनंद देशमुख, डॉ. अर्जुन चव्हाण आदि हिंदी को समृद्ध करने में लगे हुए हैं।

प्रो. भालचंद्र निमाड़े जिनकी पुस्तक का हिंदी में अनुवाद हुआ है, अभी दिल्ली साहित्य अकादमी में दिनांक 13.07.2018 को उनसे मेरी मुलाकात हुई। उनका भाषण था 'उपन्यास कल

और आज'। वे अच्छी तरह हिंदी बोल सकते हैं। महाराष्ट्र के अनेक साहित्यकारों ने साहित्य की विविध विधाओं में हिंदी में साहित्य रचना कर हिंदी के विकास में बहुत बड़ा योगदान दिया है।

संचार माध्यम/प्रसार माध्यम :

देश के अन्य अहिंदी प्रदेशों के मुकाबले महाराष्ट्र में हिंदी का अधिक प्रचार एवं प्रसार हो रहा है। दूरसंचार क्रांति के कारण गाँवों में भी हिंदी बोली जा रही है। खासतौर पर हिंदी फ़िल्में, हिंदी गीत, हिंदी समाचार देखने वालों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। आज का युवा समाज दिवानों की तरह हिंदी गाना सुनता है। बॉलीवुड में बनी फ़िल्मों ने पूरे विश्व का ध्यान हिंदी भाषा की तरफ़ खींचा है, जिससे आम आदमी में भी हिंदी के प्रति रुचि बढ़ रही है।

फ़िल्म, दूरदर्शन, आकाशवाणी, इंटरनेट, मोबाइल (वाट्सएप) हिंदी के विकास में अहम् भूमिका निभाते हैं। फ़िल्मों के बड़े–बड़े अभिनेता महाराष्ट्र में ही हुए हैं, क्योंकि हिंदी फ़िल्मों की गंगोत्री महाराष्ट्र है। लोग सिनेमा के डायलॉग बड़े चाव से बोलते हैं। हिंदी सिनेमा ने हिंदी को घर से विश्व तक पहुँचाया। फ़िल्म और उसके गाने हिंदी के प्रचार में वरदान साबित हुए। भारत की कंठकोकिला, महाराष्ट्र गर्व लता मंगेशकर ने हिंदी को जन–जन तक पहुँचाने का कार्य किया। उनके गीत सभी बड़े चाव से सुनते हैं। विदेशों में हिंदी की सेवा करने वाले उनका प्रचार–प्रसार करने वाले अनेक कलाकार मराठी के ही है। जैसे माधुरी दीक्षित, शिल्पा शिरोडकर, दीपिका पादुकोण आदि। फ़िल्म प्रशिक्षण संस्थान पुणे में है। दादासाहेब फालके कोल्हापुर के हैं, जिनके नाम का पुरस्कार पूरे भारतवर्ष में दिया जाता है।

हिंदी भाषा के प्रति रुचि के कारण ही महाराष्ट्र के लोग टी. वी. में हिंदी धारावाहिक देखना पसंद करते हैं। जैसे – तारक मेहता का उलटा चश्मा, छोटी बहू, लड़की बड़े घर की, समय के साथ चले, तेनाली राम, अलादीन, सी.आई.डी., कौन बनेगा करोड़पति आदि। बच्चे भी टी.वी. पर महाभारत, रामायण, छोटा भीम, मोटू पतलू कार्टून बड़े चाव से देखते हैं।

यहाँ के प्रसारित होने वाले मराठी चैनलों पर हिंदी के शब्दों की भरमार होती है। जैसे – 'काहे दिया परदेश' मराठी धारावाहिक में हिंदी संवाद अधिक हैं। मनोरंजन क्षेत्र द्वारा हिंदी घर–घर पहुँच गयी है। जनभाषा बनने लगी है। मराठी भाषी होते हुए भी हिंदी के प्रति लगाव रखना अपने आप में गर्व की बात है। प्रधानमंत्री जी का 'मन की बात' आकाशवाणी द्वारा हिंदी में प्रसारित होता है, तत्पश्चात् स्थानीय भाषा में।

समाचार–पत्र :

किसी समय हिंदी की प्रसिद्ध पत्रिका 'धर्मयुग' मुंबई से ही प्रकाशित होती थी। महाराष्ट्र में हिंदी के कई समाचार–पत्र निकलते हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

1. लोकमत समाचार
2. नवभारत टाइम्स
3. औरंगाबाद टाइम्स
4. नवयुग
5. नवकाल
6. राष्ट्रभाषा
7. नवजागरण
8. आज का आनंद
9. महाराष्ट्र टाइम्स आदि।

इसके अलावा महाराष्ट्र के अनेक ज़िलों से हिंदी की पत्रिका निकलती है। सांगली से 'अमृतधारा' एवं सातारा सूर्यवंशी जी 'हिंदी अध्यापक मित्र' एवं महाराष्ट्र प्रचार समिति 'समिति संवाद' पत्रिका प्रकाशित करते हैं। हिंदी भाषी प्रदेशों को छोड़कर भारत में जितने भी अहिंदी भाषी प्रदेश हैं, उनमें महाराष्ट्र में हिंदी की स्थिति अच्छी है। हिंदी मराठी मन–मन में बसी है। महाराष्ट्र ने हिंदी को कई नेता, संत, लेखक, कवि, अनुवादक दिए हैं। हिंदी के विकास में यह गौरव की बात है।

मराठी हिंदी के कुछ नमूने :

परभणी ज़िले में टूटी–फूटी हिंदी को गुलाबी हिंदी कहते हैं। यहाँ पर मराठी हिंदी के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं –

1. हमने रेलगाड़ी की टिकट निकाली।
2. छत को सीर जाकर पटक गया।
3. सफ़र यात्री चायघर में नाश्ता पानी करने उतर गये।
4. बच्चों को खेलने को बाहर छोड़ा है।

5. गाड़ी सोलापुर के इलाके को पीछे छोड़ती हुई जा रही थी।
6. यह बात सुनकर मैं नाखुश हो गयी
7. हिंदी उन्हें समझती है।
8. बच्चे टी.वी. के ऊपर कार्टून देखते हैं।
9. उनके साथ उन्होंने अपनी भाषा भी लायी थी।
10. राधा बेटे के सिर पर हाथ रखकर नींद निकाल रही है।
11. बच्चों की 23 से छुट्टियाँ लग रही है।
12. मुझको काम करने का है।
13. मेरा गाँव नदी के किनारे बैठा हुआ है।
14. सरकार ने इस बात पर ध्यान देना ज़रूरी है।
15. इस नदी से गाँव में पानी लाया है।

बोलचाल की हिंदी में स्थानीय मराठी शब्दों का इस्तेमाल होता है। जैसे – बरोबर है (ठीक है), चलता चलता आदि। शब्द निर्माण में मराठी सबसे आगे है। जैसे – अवर्षा (सूखा), अमराठी (मराठी इतर), छात्रावासी (छात्रावास में रहने वाला), शालांत (हाईस्कूल), बड़ा बड़ा बारिश (ज़ोरदार वर्षा)।

anitaganguly1954@gmail.com

जिस भाषा में तुलसीदास जैसे कवि ने कविता की हो वह अवश्य पवित्र है और उसके सामने कोई भाषा नहीं ठहर सकती।

- महात्मा गांधी

क्रोएशिया में भारत विद्या - विकास, स्वरूप एवं दृष्टि

– डॉ. विसेंजा ग्राबोवाक
ज़ाग्रेब, क्रोएशिया

हमारा भारत विद्या और सुदूर पूर्वी अध्ययन विभाग ज़ाग्रेब विश्वविद्यालय के मानविकी और सामाजिक विज्ञान संकाय का भाग है। इस विवरण के माध्यम से हम क्रोएशियाई भारत विद्या का विकास तथा वर्तमान स्थिति को प्रस्तुत करना चाहते हैं। हमें यकीन है कि अगर विभिन्न देशों के भारत विद्या विभाग एक दूसरे से परिचित हो जाए, आपसी सहकारिता, ज्ञान का आदान–प्रदान तथा मित्रता बढ़ ही जाएगी।

फ़िलिप वेस्दिन से वर्तमान तक

क्रोएशिया के प्रथम संस्कृतविद फ़िलिप वेस्दिन थे, जिन्हें पाऊलीनुस आ सन्क्टो बर्होलोमेओ के नाम से भी जाना जाता है। उनका जन्म ऑस्ट्रिया के होफ़ अम लाईथागेबिर्गे में हुआ था। अपनी पढ़ाई उन्होंने यूरोप के लिन्त्स, प्राग और रोम में की। सन् 1776 में वे धर्म–प्रचारक के रूप में भारत चले गए। उन्होंने मालाबार सागर तट पर, तृश्शूर के ब्राह्मणों की सहायता से तेरह वर्षों तक संस्कृत सीखी। भारत से रोम वापस आने पर उन्होंने प्रथम यूरोपीय संस्कृत भाषा का व्याकरण Sidharubam seu grammatica Samscrdamica (1790) लिखकर प्रकाशित किया, जिसके माध्यम से उन्होंने विश्व में भारत विद्या अध्ययन के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान दिया।

सन् 1804 में उनका द्वितीय संस्कृत भाषा का व्याकरण Vyacaranam seu locupletissima Samscrdamicae linguae institutio प्रकाशित हुआ। प्रथम अंग्रेज़ी भाषाबद्ध संस्कृत व्याकरण को चार्ल्स व्हिल्किन्स ने लिखा और इसका प्रकाशन फ़िलिप वेस्दिन के चार वर्ष पश्चात्, सन् 1808 में हुआ। वेस्दिन की सबसे प्रसिद्ध रचना Viaggio alle Indie orientali (1796) मूल रूप से इतालवी भाषा में लिखी गई थी, लेकिन जल्द ही फ़्रांसीसी, अंग्रेज़ी और जर्मन भाषा में अनुदित हुई। इस यात्रा विवरण के विषय हैं – 'दक्षिण भारत की भूगोल विद्या और भारतीय संस्कृति का विस्तृत वर्णन'। वेस्दिन की द्वितीय रचना Systema Brahmanicum, Liturgicum, Mythologicum, Civile (1791) सम्पूर्ण रूप से भारतीय संस्कृति को समर्पित है। इस रचना में उन्होंने हिंदू धर्म की रीतियों, देवताओं तथा चार वर्णों की विशेषताओं का अवलोकन प्रस्तुत किया है। फ़िलिप वेस्दिन का शिलालेख प्रोफ़ेसर ज़्द्राव्का मातिशिच के प्रयासों से तिरुवनंतपुरम् के संग्रहालय में लगाया गया है।

ज़ाग्रेब के विश्वविद्यालय में संस्कृत भाषा सन् 1874 से आज तक पढ़ायी जाती है। प्रारम्भ में प्राध्यापक थे : लेओपोल्द गाईत्लेर, तोमो मरेतिच, योसिप फ़्लोर्शुत्स, जूरो श्कारिच, अन्तोन मायेर और रदोस्लाव कतिचिच, जिन्होंने ज़ाग्रेब के विश्वविद्यालय में सन् 1959 में भारत विद्या अध्ययन की स्थापना की। सन् 1962 में पाठ्यक्रम शुरू हुआ। संस्कृत भाषा से क्रोएशियाई भाषा में प्रथम अनुवादित किए गए मूलग्रंथ थे : कथा ग्रंथ वेतालपञ्चविंशति (दुब्रोवनिक 1867), कालिदास का नाटक शकुंतला (दुब्रोवनिक 1879) तथा नलोपख्यान (बेलग्रेड 1924)।

ज़ाग्रेब के मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान के विश्वविद्यालय में तीन प्राध्यापक थे, जो भारत विद्या को संचालित करने के लिए तैयार थे : राडोस्लव कतिचिच, चेदोमिर वेल्यचिच एवं स्वेतोज़र पेत्रोविच। स्वेतोज़र पेत्रोविच ने हिंदी भाषा इलाहाबाद में सीखी और स्वेतोज़र तोमिच के साथ आधुनिक भारतीय गद्य नामक पुस्तक लिखी।

चेदोमिर वेल्यचिच ने ज़ाग्रेब में दर्शनशास्त्र की पढ़ाई की। साथ ही उन्होंने रोम में भारत विद्या और बोन में संस्कृत और पालि भाषा–विज्ञान की शिक्षा प्राप्त की। उन्होंने अपनी रचना 'पूर्वी जनता का दर्शनशास्त्र' से जनता की भारत के प्रति रुचि बढ़ाई। उन्होंने संस्कृत भाषा से कालिदास के 'मेघदूतम्' का अनुवाद किया। सन् 1961 में वेल्यचिच ज़ाग्रेब के दर्शनशास्त्र विभाग में पढ़ाने लगे, लेकिन जल्द ही, सन् 1963 में वे भारत चले गये, जहाँ तीन साल बाद नौसिखिया बन गये। सन् 1968 में श्रीलंका में उन्होंने बौद्ध धर्म का भिक्षु बनकर अपना नाम भिक्खू नाणजीवको रख लिया। उन्होंने अपने जीवन के अंतिम दिन श्रीलंका में ही व्यतीत किए।

वेल्यचिच की सहयोगिनी रादा इवेकोविच ने बौद्ध धर्म के दर्शनशास्त्र के शोध–प्रबंध में अपनी विद्यावाचस्पति की उपाधि पायी। सन् 1998 से वे पेरिस में रहती हैं।

सन् 1959 में रदोस्लाव कातिचिच ने ज़ाग्रेब के विश्वविद्यालय में भारत विद्या का प्राध्यापक पीठ स्थापित किया। प्रो. रदोस्लाव कातिचिच की प्रमुख संदर्शिका 'संस्कृत, पालि एवं प्राकृत का पुरातन भारतीय साहित्य' (ज़ाग्रेब, 1973) क्रोएशिया के भारत विद्या विभाग के इतिहास में एक और महत्त्वपूर्ण कार्य है। सन् 1977 से रदोस्लाव कातिचिच विएना में रहने लगे और वहाँ के विश्वविद्यालय में कार्यरत थे। सन् 2019 में उनका देहान्त हो गया।

कातिचिच के विएना जाने के पश्चात् भारत विद्या के विभाग में डॉ. मिल्का याउक–पिन्हाक और प्रो. ज़्द्राव्का मातिशिच प्राध्यापक बन गए।

मिल्का याउक–पिन्हाक का शोध–कार्य था 'वैदिक एवं प्राकृत का भाषा–विज्ञान, पुराना भारतीय व्याकरण और पूर्वी अध्ययन का इतिहास'। उनके विद्यावाचस्पति की उपाधि के शोध–प्रबंध का विषय 'पुरानी भारतीय–आर्य शब्द संरचना' था। उन्होंने मिस्लव येजिच और क्लारा गन्त्स मोआचनिन के साथ 'व्यापक धर्म शब्दकोश' तथा 'पूर्वीय धर्मों के संक्षिप्त विवरण' लिखा है।

ज़्द्राव्का मातिशिच का शोध–क्षेत्र संस्कृत महाकाव्य, काव्य (विशेषतः पंचतंत्र), आधुनिक भारतीय भाषा–विज्ञान और भारतीय समाज–भाषाविज्ञान है। उनके विद्यावाचस्पति की उपाधि के शोध–प्रबंध का विषय 'आधुनिक भारतीय भाषाओं का मानकीकरण' था। उन्होंने भारतीय लघुकथा के साहित्य की सबसे प्रबल रचना 'पंचतंत्र' का संस्कृत से क्रोएशीय भाषा में अनुवाद किया है। उन्होंने 'साधारण हिंदी व्याकरण' (ज़ाग्रेब 1996) तथा भारत में क्रोएशीय धर्म प्रचारकों के बारे में दो पुस्तकें प्रकाशित की हैं।

क्लारा गन्त्स मोआचनिन का शोध–क्षेत्र था भारतीय नाटक, भारतीय काव्य तथा एशिया की अन्य संस्कृतियाँ। उन्होंने शूद्रक के 'मृच्छकटिकम' नाटक का क्रोएशीय भाषा में अनुवाद किया है। सन् 1978 से सन् 1979 तक वे क्रोएशीय निर्देशक म्लादेन शिकल्यान के साथ क्रोएशीय राष्ट्रीय नाट्यशाला में 'मृच्छकटिकम' नाटक की प्रस्तुति की तैयारी में भाग ले रही थीं। उन्होंने इस नाटक को क्रोएशीय राष्ट्रीय नाट्यशाला में सुंदर रूप से स्थापित किया। इस नाटक की प्रस्तुति को श्रेष्ठतम् नाट्य प्रस्तुति के रूप में पुरस्कृत किया गया। संस्कृत महाकाव्यों के क्षेत्र में उन्होंने मुख्यतः महाभारत के सभापर्व में और महाकाव्य की संरचना में जुए की भूमिका की जाँच की। उनके लेखन–कार्य अधिकतर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के काव्य, उपन्यास तथा उनके क्रोएशिया और पश्चिम में अनुमोदनों को समर्पित थे। क्लारा गन्त्स मोआचनिन ने दो पुस्तकें प्रकाशित कीं : शास्त्रीय नाटक के अभिलक्षण : यूनान का दुखान्त नाटक – भारतीय नाट्य – जापानी नो (ज़ाग्रेब 2002) एवं उल्लेख का संग्रह सहृदय – भारत में साहित्यिक यात्रा। उनका देहान्त सन् 2019 में हो गया।

क्रोएशीय भारत विद्या वर्तमान में

वर्तमान में भारत विद्या के विभाग में डॉ. ईवान आन्द्रियानिच, डॉ. गोरान कार्दश, वरिष्ठ प्रवक्ता क्रेशिमिर कृनित्स, प्रवक्ता विश्न्या ग्राबोवत्स एवं कनिष्ठ सहायिका कातारीना काताविच कार्यरत हैं। साथ ही प्रो. मिस्लाव येजिच विभाग में वर्षों कार्यरत रहे। प्रो. मिस्लाव येजिच 2017 में सेवानिवृत्त हो गए।

विभाग में वर्षों डॉ. सुनील भट्ट हिंदी भाषा पढ़ाते थे। ज़ाग्रेब के विश्वविद्यालय और आई.सी.सी.आर. के सहयोग से विभाग में भारत से आए अतिथि आचार्य भी हिंदी का अध्यापन करते हैं। भारत के हैदराबाद विश्वविद्यालय की प्रो. गरिमा श्रीवास्तव प्रथम अतिथि प्राध्यापिका थीं। उनके पश्चात् प्रो. भरत सिंह, जो वर्षों आगरा के केंद्रीय हिंदी संस्थान के प्रधान थे और प्रो. रवीन्द्रनाथ मिश्र गोवा विश्वविद्यालय से आए। वर्तमान में प्रो. ज्योति शर्मा दिल्ली विश्वविद्यालय से आई हैं और हमारे विभाग में कार्यरत हैं।

पहले भारत विद्या के अध्ययन में चालीस विद्यार्थी भर्ती होते थे, परंतु अध्ययन–अध्यापन की दुरूह होती स्थिति के कारण इस संख्या में कमी आई है। फिर भी, संस्कृत अध्ययन में बहुत विद्यार्थी भाग लेते हैं। भारत विद्या के आयोजन में वैदिक, लौकिक, शास्त्रीय एवं षड्दर्शन की संस्कृत, पालि, प्राकृत, हिंदी, पुरानी फ़ारसी भाषा, फिर भारतीय इतिहास, साहित्य, धर्म और दर्शनशास्त्र के विषयों का पठन–पाठन हो रहा है। यह अध्यापन–व्याख्यान, उपकक्षाओं तथा मौखिक अभ्यास की कक्षाओं के रूप में हो रहा है। पठन–पाठन में हिंदी भाषा की खास जगह है। भारत विद्या के सब विद्यार्थी चार वर्ष हिंदी सीखते हैं, जो मौखिकी अभ्यास और उपकक्षाओं के रूप में पढ़ायी जाती हैं। विद्यार्थियों को सी.

ई.एफ़.आर. (CEFR) की B1 या B2 स्तर की निपुणता हासिल करनी चाहिए।

भारत विद्या के विभागाध्यक्ष डॉ. ईवान अन्द्रियानिच हैं। उनका शोध–क्षेत्र 'भारतीय ब्राह्मणीय दर्शनशास्त्र : वेदांत का दर्शनशास्त्र और इसके भाष्य का साहित्य' है। उन्होंने सन् 2011 में अपनी विद्यावाचस्पति की उपाधि पायी। ज़ाग्रेब में सन् 2012 में उनकी वेदांत का दर्शनशास्त्र : शुक्ल यजुर्वेद के उपनिषद् के दार्शनिक भाष्य नामक पुस्तक का प्रकाशन हुआ।

प्रो. मिस्लाव येजिच चार वेदों, संस्कृत के महाकाव्य, भारत के धर्म, दर्शनशास्त्र एवं तुलनात्मक भाषा–शास्त्र में दक्ष हैं। उन्होंने ऐतरेय, कौषीतकि, ईशा, बृहदारण्यक जैसे शास्त्रीय उपनिषदों के मूल पाठों का अनुवाद किया और इनकी व्याख्या तथा ऐतिहासिक आलोचना की। उन्होंने ऋग्वेद के धर्म–स्तुति भारत संस्कृति का स्रोत एवं भारोपीय विरासत (ज़ाग्रेब, 1987) नामक प्रबंध लिखा है। उन्होंने ऋग्वेद के ऐतरेय, कौषीतकि तथा बाष्कल मंत्र (ज़ाग्रेब 1999) के मूलपाठों का अनुवाद भी किया। भारतीय पौराणिक साहित्य के क्षेत्र में, उन्होंने अमरुकशतक (ज़ाग्रेब 2011) नामक पुस्तक को प्रकाशित किया, जिसमें लंबी पौराणिक परंपरा और अमरूक की प्रस्तावना, मूल पाठ तथा इसका अनुवाद व स्पष्टीकरण दिया गया है। सन् 2012 में वे काव्य के उत्कृष्ट कोटि के अनुवाद के लिए श्रेष्ठतम पुरस्कार से सम्मानित हुए। साथ ही क्रोएशीय अनुवादक संघ ने उन्हें योसिप ताबाक पुरस्कार से पुरस्कृत किया।

क्रेषिमिर कृनित्स रामायण, भारतीय दर्शनशास्त्र एवं आधुनिक भारतीय और उर्दू साहित्य के प्रति लगाव रखते हैं। उन्होंने श्तेन्त्स्लेर के संस्कृत व्याकरण का क्रोएशीय भाषा में अनुवाद किया है। उनकी एक प्रकाशन संस्था भी है और वे हमारे विभाग के पाठों एवं अन्य रचनाओं के प्रकाशन में अपनी पूर्ण कुशलता से सहयोग देते हैं। उन्होंने सआदत हसन् मंटो की कहानियों का उर्दू भाषा से क्रोएशीय भाषा में अनुवाद करके अनुवाद संग्रह सीमाओं के पार के रूप में प्रकाशित की है। द्वितीय अनुवाद संग्रह की तैयारी हो रही है।

गोरान कार्दश की भारतीय दर्शनशास्त्र के प्रति गहरी निष्ठा है। उनकी पुस्तक भगवद्गीता का भाष्य (ज़ाग्रेब 2006) प्रकाशित हुई। उनके विद्यावाचस्पति की उपाधि के शोध–प्रबंध का विषय 'नागार्जुन के अभिधार्मिक दर्शनशास्त्र की प्रत्यालोचना' था। वर्तमान में वे पुराने बौद्ध धर्म में महायानिक धारणा के अंतर्गत सौत्रानिक की स्थिति का अध्ययन कर रहे हैं।

विश्न्या ग्राबोवत्स ने सन् 2008 में अपनी स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त की। सन् 2014 से ज़ाग्रेब विश्वविद्यालय के भारत विद्या विभाग में हिंदी मौखिकी अभ्यास की प्राध्यापिका के रूप में कार्यरत हैं। उनकी विद्यावाचस्पति की उपाधि के लिए शोध–प्रबंध का विषय है – पुराने बौद्ध धर्म के सम्प्रदायों में गौतम बुद्ध की जीवनी : क्रम–विकास व परिवर्तनशीलताएँ।

कातारीना काताविच जर्मनी विद्या एवं भारत विद्या के विभागों से स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त कर चुकी हैं। उन्होंने सन् 2015 में शोध–प्रबंध जर्मनी में भारत विद्या का अनुसंधान क्षेत्र एवं शैक्षिक लक्ष्यबिंदु विषय के साथ स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त की। उन्होंने सातवें MESIC सम्मेलन में हिंदी और उर्दू भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन विषय पर भाषण दिया। उन्होंने प्रो. मिस्लव येजिच के साथ क्रोएशीय कला एवं विज्ञान की अकादमी के वैज्ञानिक सम्मेलन में भाषण दिया। सन् 2012 से वे प्रो. भारत सिंह व प्रो. क्रेषिमिर कृनित्स के साथ प्रथम हिंदी–क्रोएशीय शब्दकोश का संकलन कर रही हैं।

परियोजनाओं का संक्षिप्त विवरण

विश्व के महत्त्वपूर्ण संस्कृतविदों के समूह के सहयोग से, मिस्लाव येजिच ने सन् 1994 में संस्कृत सम्मेलन दूब्रोवनिक इन्टर्नेशनल कॉन्फ़ेरेन्स ऑन द संस्कृत एपिक्स एण्ड पुराण्स (DICSEP) की स्थापना की। भारत विद्या विभाग, क्रोएशीय दार्शनिक संघ एवं अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन समिति के सहयोग से इस सम्मेलन को आयोजित करता है। यह सम्मेलन कई आधुनिक अनुसंधानों की दिशाओं को तथा संस्कृतविदों की अंतरराष्ट्रीय सहकारिता को प्रोत्साहन देते हुए इस क्षेत्र का मुख्य सम्मेलन बन गया, जिसके फलस्वरूप क्रोएशीय भारत विद्या विभाग विश्व में सुप्रतिष्ठित हो गया। 2012 में नई दिल्ली में विश्व संस्कृत सम्मेलन की पंद्रहवीं जयंती के दौरान मिस्लाव येजिच संस्कृत भाषा के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान देने के लिए अखिल भारतीय संस्कृत सम्मेलन द्वारा सम्मानित भी किए गए।

दिक्सेप (DICSEP) सन् 2017 तक आठ बार विश्व के सबसे मुख्य विशेषज्ञों को संगठित कर आयोजित किया गया। क्रोएशीय विज्ञान एवं कला की अकादमी सम्मेलन में दिए गए

भाषणों को अंग्रेज़ी भाषा में क्रोएशीय संक्षेप सहित प्रकाशित करती है। चार अंक प्रकाशित किए जा चुके हैं और पाँचवें अंक के प्रकाशन की तैयारी हो रही है।

सन् 2019 में दुब्रोवनिक में हमारे विभाग ने इन्टर्नेशनल वैदिक वर्कशॉप का स्वागत किया। यह सातवीं कार्यशाला संगठित करना हमारे विभाग के लिए बड़ी खुशी और गौरव की बात थी। इसका सफल आयोजन एक और सबूत है कि क्रोएशियाई भारत विद्या विभाग की विश्व में सुदृढ़ अस्तित्व है।

विद्यार्थियों का कार्य–विवरण

भारत विद्या के विद्यार्थियों का मंडल 'तरंगिणी' सन् 2007 में स्थापित किया गया। 'तरंगिणी' मंडल के सदस्य विभिन्न परियोजनाओं में भाग लेते हैं। उदाहरण के लिए विद्यार्थी जो हिंदी और संस्कृत में दक्ष हैं, वे अन्य विद्यार्थियों की सहायता करते हैं। इसी प्रकार विद्यार्थी न केवल पढ़ते–पढ़ाते हैं, बल्कि आपसी दोस्ती और आत्मीयता बढ़ाते हैं।

विद्यार्थियों का हिंदी कहानियों का क्रोएशीय भाषा में प्रथम तथा द्वितीय अनुवाद–संग्रह प्रकाशित किया गया। सन् 2018 में द्वितीय अनुवाद–संग्रह के लिए विद्यार्थी ज़ाग्रेब के विश्वविद्यालय के मुख्याधिष्ठाता के पुरस्कार से सम्मानित हुए। तृतीय संग्रह की तैयारियाँ हो रही हैं। ये संग्रह विद्यार्थियों के प्रयत्न और मेहनत का फल हैं।

सन् 2017 में प्रथम कोंकोरेल (KONKOREL) नामक सम्मेलन आयोजित किया गया, जिसका विषय था 'विश्व के विभिन्न धर्म'। इस सम्मेलन के विवरणों का प्रकाशन जल्दी होने वाला है।

सन् 2007 में हमारे विभाग के अध्यापकों तथा विद्यार्थियों ने प्रथम मध्य यूरोपीय भारत–विद्या सम्मेलन (MESIC) स्थापित किया। इस परियोजना को व्रोत्स्लाव और पोज़्नन विश्वविद्यालय के अध्यापकों और विद्यार्थियों ने भी सहयोग दिया। सन् 2007 से यह सम्मेलन प्रतिवर्ष यथाक्रम ज़ाग्रेब, व्रोत्स्लाव और पोज़्नन में आयोजित किया जाता है। सन् 2018 में ज़ाग्रेब ने पुनः MESIC सम्मेलन का स्वागत किया। यह दसवाँ सालाना सम्मेलन था और साथ ही 'तरंगिणी' मंडल की दसवीं जयन्ती। इस सम्मेलन के दौरान विद्यार्थियों ने सम्मेलन का प्रथम प्रकाशित विवरण प्रस्तुत किया। इस विवरण में हमारे और पोलैंड के विद्यार्थियों के लेख और निबंध शामिल हैं।

क्रोएशियाई भारत विद्या विभाग अपने लक्ष्य के प्रति स्पष्ट और प्रतिबद्ध है। क्रोएशियाई संस्कृति को इतर विश्व संस्कृति से जोड़ना – इस विभाग की शुरुआती दौर के भारत विद्याविदों से लेकर वर्तमान पीढ़ी के विभाग सदस्यों तक प्राथमिक ज़िम्मेदारी रही है। इस विभाग का दूसरा लक्ष्य है भारत की समृद्ध संस्कृति के साथ जुड़कर क्रोएशियाई संस्कृति को एक नया विस्तार और समृद्धि प्रदान करना। इस विभाग का तीसरा लक्ष्य है भारत के साथ, जो वर्तमान में विश्व में आबादी और क्षेत्र की दृष्टि से पाँचवाँ सबसे बड़ा देश है और जिसकी अर्थव्यवस्था तथा ज्ञान विश्व में फैलता रहा है, इस देश के साथ एक सांस्कृतिक स्वस्थ संबंधों के पुल का निर्माण करना। चौथा लक्ष्य वैज्ञानिक है। भारत की भाषाओं, साहित्य और संस्कृति के उन अनछुए पहलुओं को उद्घाटित करना, जो विश्व में वैज्ञानिक रूप से योगदान दे सकते हैं।

इन तमाम क्षेत्रों में सीमित संसाधनों के बावजूद क्रोएशिया के भारत विद्या विभाग ने विश्व में अपने वैज्ञानिक और महत्त्वपूर्ण योगदानों से भारत विद्या के क्षेत्र में मुखर रूप से योगदान रेखांकित किया है।

vgrabova@ffzg.hr

हिंदी : लिपि, साहित्य और संस्कृति

5. विलुप्तप्राय टांकरी लिपि को पुनर्जीवित करने के भगीरथ प्रयास - डॉ. हरीश चंद्र लखेड़ा

6. देवनागरी लिपि का वैज्ञानिक पक्ष - डॉ. रश्मि वार्ष्णेय

7. हिंदी का पहला उपन्यास - श्री योगेश्वर तिवारी

8. मॉरीशस में हिंदी का साहित्यिक क्षेत्र - श्री इन्द्रदेव भोला इन्द्रनाथ

9. हिंदी लघुकथा के शीर्षक पर विभिन्न अवयवों के प्रभाव का अध्ययन एवं विश्लेषण - डॉ. चंद्रेश कुमार छतलानी

10. प्रवासी हिंदी साहित्य की अपेक्षाएँ - डॉ. विनय सितिजोरी

11. वैश्विक हिंदी और भारतीय संस्कृति - प्रो. सुशील कुमार शर्मा

12. हिंदी एवं भारतीय संस्कृति - डॉ. साकेत सहाय

विलुप्तप्राय टांकरी लिपि को पुनर्जीवित करने के भगीरथ प्रयास

– डॉ. हरीश चंद्र लखेड़ा
नई दिल्ली, भारत

हिमालयी क्षेत्र की भाषा–बोलियों की लिपि रही टांकरी लिपि अब विलुप्त होने की कगार पर है। कश्मीर से नेपाल व भूटान तक के भूभाग में कभी प्रचलन में रही टांकरी लिपि से ही गुरुमुखी लिपि निकली है। यह हिमाचल प्रदेश के चंबा राज्य की राजभाषा की लिपि भी रही है। हिमालयी क्षेत्र के ब्राह्मण अपने पूजा–पाठ की पद्धति और तंत्र–मंत्र को लिखने के लिए इसी लिपि का प्रयोग करते रहे। आज हिमाचल प्रदेश और उत्तराखंड के जौनसार क्षेत्र में गिने–चुने परिवार ही ऐसे रह गए हैं, जो इस लिपि का प्रयोग आज भी करते हैं। बाकी हिमालयी भूभाग में इसे भुला दिया गया है। नई पीढ़ी यह भी नहीं जानती कि कभी टांकणी का उसी तरह प्रयोग होता था, जैसे कि आज देवनागरी लिपि का होता है। माना जाता है कि मुगलों और अंग्रेज़ों की नीतियों के कारण यह लिपि धीरे–धीरे प्रचलन से बाहर होती चली गई। इसे कहीं टाकड़ी अथवा टांकरी के नाम से भी पुकारा जाता रहा है। मान्यता है कि टांकर ऋषि ने टांकरी लिपि का आविष्कार किया, इसलिए उनके नाम पर ही इस लिपि का नाम पड़ा। इस लिपि को कुछ विद्वान हिमालयी क्षेत्र की शासक रही खस जाति से भी जोड़ते हैं। क्योंकि खसों की तरह टांकरी भी कश्मीर से लेकर पूर्वोत्तर के राज्यों तक प्रचलन में रही है। जहाँ भी खस गए, वहाँ टांकणी का प्रयोग होता रहा।

हालांकि अब इस प्राचीन लिपि को पुनर्जीवित करने की कोशिशें शुरू हो गई हैं। इस लिपि को साइबर दुनिया में लाने के लिए अब फ़ोंट बनाने के भी भगीरथ प्रयास शुरू हो गए हैं, लेकिन इन प्रयासों को सरकारी संरक्षण नहीं मिलने से मामला कछुआ चाल से ही आगे बढ़ पा रहा है। इस बात के ठोस प्रमाण हैं कि हिमालय क्षेत्र की अधिकतर भाषाएँ टांकरी लिपि में लिखी जाती रही हैं। समय–समय पर मिले रिकॉर्ड बताते हैं कि 16वीं शताब्दी में टांकरी लिपि पूरी तरह से प्रचलन में थी। भारत विशेष तौर पर हिमालयी राज्यों में इस लिपि में धार्मिक शास्त्रों, तंत्र, मंत्र, आयुर्वेद, योग समेत हर विधा को लिपिबद्ध किया जाता रहा। इस बात के भी प्रमाण हैं कि कभी कुल्लू से लेकर रावलपिंडी तक शिक्षा व लिखने–पढ़ने का लगभग हर कार्य टांकरी लिपि में ही होता रहा है। हिमाचल प्रदेश के पुराने राजस्व रिकॉर्ड, पुराने मंदिरों की घंटियों, शिलालेख, दस्तावेज़ों से लेकर पुराने बर्तनों में टांकरी में लिखे शब्द और वाक्य मिल जाते हैं।

टांकरी लिपि भारत की प्रमुख लिपि ब्राह्मी परिवार का ही हिस्सा है। यह कश्मीर में प्रयोग होने वाली शारदा लिपि से निकली है। खास बात यह है कि पंजाबी की लिपि गुरमुखी लिपि भी टांकरी लिपि से निकली है। एक समय ऐसा भी था जब जम्मू कश्मीर की डोगरी, हिमाचल प्रदेश की चम्बियाली, कुल्लुवी और उत्तराखंड की गढ़वाली, जौनसारी व कुमाउंनी इसी लिपि में लिखी जाती रही हैं। यहाँ तक कि नेपाल की नेपाली से लेकर भूटान में भी इस लिपि के प्रयोग के सबूत मिले हैं।

'माना जाता है कि कौलान्तक पीठ की अनेक लिपियों का प्रयोग विशेष साधनाओं को गोपनीय रखने के लिए होता रहा है। इनमें से कुछ भाषाएँ और लिपियाँ साधकों को अनिवार्य रूप से सिखाई जाती रही है। टांकरी लिपि भी इनमें शामिल है। यह भी माना जाता है कि इसको बिना जाने कोई 'कौल साधक' नहीं हो सकता था।' (http://himalayilog.com)

अब यह शोचनीय विषय है कि हिमालयी क्षेत्र की यह प्रमुख लिपि अब क्यों लगभग विलुप्त हो गई। 'पहाड़ी भाषाओं की लिपि टांकरी रही है। राज्यों के अभिलेख इसी टांकरी लिपि में थे और व्यापारी लोग भी लंबे समय तक अपने हिसाब की बहियाँ लिखने में इसी का प्रयोग करते रहे हैं। परंतु अब टांकरी स्थान नागरी लिपि ने ले लिया है और पहाड़ी साहित्य का सृजन इसी लिपि में हो रहा है।' (https://www.divyahimachal.com)

अब इसे पुनर्जीवित करने के प्रयास चल रहे हैं। हालांकि यह भागीरथ प्रयास जैसा ही है। हिमालयी राज्यों में अंग्रेज़ी और हिंदी के प्रचलन के साथ ही यह लिपि प्रचलन से बाहर होती चली गई। जबकि इसी लिपि से निकली गुरमुखी लिपि में ही आज पंजाब की राजभाषा पंजाबी लिखी जाती है। 'हिमाचल प्रदेश में मनाली समेत घाटी के कई मंदिरों के द्वार पर टांकरी

लिपि में उनके इतिहास तथा संबंधित देव स्थल के महत्त्व के बारे में लिखा गया है। लेकिन महाभारत जैसे ग्रंथों के रचनाकार महर्षि वेद व्यास की तपोभूमि रही देवभूमि कुल्लू में इस लिपि को पढ़ने वालों की गिनती न के बराबर रह गई है।' (https://www.amarujala.com)

दरअसल, लिपियों का इतिहास भी मानव सभ्यता जितना ही पुराना है। कई लिपियाँ मानव सभ्यता के विकास के साथ विलुप्त होती रही हैं। कई गुफ़ाओं की चित्रलिपि व शिलालेख, मुद्रा, और स्तंभों पर खुदी भाषा को आज भी भाषाविद नहीं पढ़ पाए हैं। आज भी गुहा चित्रों, भग्नावशेषों, समाधियों, मंदिरों, मृदाभांडों, मुद्राओं, शिलालेखों, चट्टान लेखों, ताम्रलेखों, भित्ति चित्रों, ताड़पत्रों, भोजपत्रों, कागज़ों एवं कपड़ों पर ऐसी लिपियों में लिखा गया है, जिन्हें पढ़ने के प्रयास जारी हैं। सम्राट अशोक ने धर्म के प्रचार–प्रसार के लिए प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि का प्रयोग किया था। इसे ही भारत की पहली लिपि माना जाता है। संस्कृत, हिंदी से लेकर अधिकतर भारतीय भाषाओं की लिपियाँ इसी से निकली हैं।

यह सच है कि समय बदलने के साथ भाषाएँ भी बदलती रही हैं और विलुप्त भी होती रही हैं, लेकिन आज अत्याधुनिक प्रौद्योगिकी के कालखंड में लिपियों का विलुप्त होना चिंता का विषय है। टांकरी लिपि के पूरी तरह से विलुप्त हो जाने से हिमालयी क्षेत्र के प्राचीन दस्तावेज़ों को भविष्य में पढ़ना–समझना मुश्किल हो जाएगा।

शारदा लिपि से हुआ टांकरी लिपि का उद्‌भव

टांकरी लिपि ब्राह्मी परिवार की लिपि है। यह लिपि कश्मीरी में प्रयोग होने वाली शारदा लिपि से निकली है। शारदा लिपि 9वीं सदी में अस्तित्व में आई। हालांकि आज शारदा लिपि भी प्रचलन से लगभग बाहर हो गई है। कश्मीर में अब कश्मीरी भाषा की बजाए उर्दू का प्रचलन है, जो कि नस्तालीक लिपि में लिखी जाती है,। यह फ़ारसी–अरबी लिपि का एक रूप है। इस्लाम के कश्मीर में आने के बाद से ही कश्मीरी भी शारदा की बजाए नस्तालीक लिपि में लिखी जाने लगी। हिमाचल प्रदेश में शारदा लिपि 13वीं सदी तक प्रचलन में रही। बाद में इसकी जगह नागरी, गुरमुखी या टांकरी ने ले लिया था। अब कश्मीर को छोड़कर बाकी अधिकतर उत्तर पश्चिमी हिमालयी क्षेत्र की भाषाओं को देवनागरी लिपि में लिखा जाता है। 'देवनागरी ही संस्कृत, पालि, हिंदी, मराठी, कोंकणी, सिंधी, कश्मीरी, डोगरी, खस, नेपाली समेत सभी भाषाएँ, तामांग भाषा, गढ़वाली, कुमाउंनी, जौनसारी, बोडो, अंगिका, मगही, भोजपुरी, नागपुरी, मैथिली, संथाली, राजस्थानी आदि भाषाएँ और बोलियाँ लिखी जाती हैं।' (https://hi.wikipedia.org/)

लिपियों का उद्‌भव

आदि मानव ने अपने भावों को व्यक्त करने के लिए संकेतों को अपनाया। प्राचीन गुफ़ाओं में उस काल के बनाए चित्र व संकेत उनकी अभिव्यक्ति ही थी। मान्यता है कि आदिम काल में जब भाषा और लिपि–चिह्नों का विकास नहीं हुआ था, तब रेखाओं के संकेत से ही मानव खुद को अभिव्यक्त करता था। 'किसी भी भाषा–बोली को अभिव्यक्त करने के लिए लिपि की आवश्यकता होती है। लिपि ऐसे प्रतीक–चिह्नों का संयोजन है, जिनसे श्रव्य भाषा को दृष्टिगोचर बनाया जाता है। सुनी या कही हुई बात केवल उसी समय और उसी स्थान पर उपयोगी होती है। किंतु लिपिबद्ध कथन या विचार दिक् और काल की सीमाओं को लांघ सकते हैं।' (https://bharatdiscovery.org/)

भारत की सबसे प्राचीन लिपि ब्राह्मी को माना जाता है। यह ईसा से लगभग छः शताब्दी पहले अस्तित्व में आई थी। भारत में अरबी–फ़ारसी लिपि को छोड़कर बाकी सभी लिपियाँ ब्राह्मी से ही विकसित हुई हैं। यहाँ तक कि तिब्बती, सिंहली तथा दक्षिण–पूर्व एशिया के देशों की बहुत–सी लिपियाँ ब्राह्मी से ही निकली हैं। 'पूरी दुनिया में आज लगभग *400* विभिन्न लिपियों का प्रयोग होता है। इनमें से अधिकतर लिपियों का विकास प्राचीन काल की कुछ प्रमुख लिपियों से ही हुआ है। मसलन, एशिया के पश्चिमी तट पर ईसा पूर्व दूसरी सदी में सेमेटिक (सामी) भाषा–परिवार के लिए एक अक्षर मालात्मक लिपि अस्तित्व में आई। इसे बाद में उत्तरी सेमेटिक, कनानी या फ़िनीशियन आदि नामों से पुकारा गया। यूनानी लिपि स्पष्टतः फ़िनीशियन लिपि के आधार पर ही बनी थी। आज यूरोप, अमेरिका और संसार के कई अन्य देशों में प्रचलित लिपियाँ यूनानी लिपि और इससे निर्मित लैटिन या रोमन लिपि से ही निकली हैं। इसी तरह उत्तरी सेमेटिक लिपि से आरमेई, खरोष्ठी, पहलवी और अरबी जैसी लिपियाँ अस्तित्व में आईं।' (https://bharatdiscovery.org/)

विलुप्त होती लिपियाँ

देश में अकेली टांकरी लिपि ही नहीं है, जो विलुप्ति की कगार पर है। प्राचीन भारत की दो लिपियाँ खरोष्ठी और ब्राह्मी आज प्रचलन से बाहर हो गई हैं। जबकि कभी देश के पश्चिमोत्तर सीमांत प्रदेशों पंजाब व कश्मीर में खरोष्ठी प्रचलन में थी, जबकि ब्राह्मी तो और भी व्यापक क्षेत्र में प्रचलन में थीं। सम्राट अशोक ने शाहबाज़गढ़ी और मनसेहरा के अभिलेख खरोष्ठी लिपि में ही लिखवाए। आज इनका कहीं भी प्रयोग नहीं होता है। देश के विभिन्न क्षेत्रों में कभी प्रचलन में रही लिपियाँ भी आज टांकरी की तरह विलुप्त हो चुकी हैं अथवा विलुप्ति की कगार पर हैं। इसी तरह लगभग डेढ़ सौ साल पहले समूचे अवध में वाणिज्य के कार्यों में प्रयोग की जाने वाली मुड़िया लिपि भी विलुप्त हो चुकी है। इसमें लिखी पांडुलिपियों को पढ़ने और समझने वाले लोग नहीं हैं।

इसी तरह मिथिलाक्षर लिपि का प्रयोग कभी उत्तर बिहार एवं नेपाल के तराई क्षेत्र की मैथिली भाषा को लिखने के लिए किया जाता रहा है। इस लिपि को मैथिली लिपि और तिरहुता भी कहा जाता है। 11वीं सदी से लेकर आज तक जितने भी अभिलेख हैं, ज़्यादातर में मिथिलाक्षर का ही प्रयोग किया गया है। इसी तरह कैथी लिपि मध्यकालीन भारत में प्रमुख रूप से उत्तर–पूर्व और उत्तर भारत में काफ़ी क्षेत्रों में प्रचलन में थी। 'इस लिपि को कैथी या कायस्थी के नाम से भी जाना जाता है। पूर्ववर्ती उत्तर–पश्चिम प्रांत, मिथिला, बंगाल, उड़ीसा और अवध में इसका प्रयोग होता था। इस लिपि का प्रयोग विशेष रूप से न्यायिक, प्रशासनिक एवं निजी आंकड़ों को सहेज कर रखने के लिए किया जाता था। बिहार समेत देश के कई उत्तर पूर्वी राज्यों में इस लिपि में लिखे हज़ारों अभिलेख सामने आते रहे हैं।' (https://www.prabhat-khabar.com)

इनकी तरह आदिवासियों की लिपियों पर भी संकट है। यही स्थिति रही तो एक समय ऐसा भी आएगा कि इन लिपियों में लिखी पांडुलिपियों को पढ़ने वाले भी नहीं मिलेंगे। खास बात यह है कि विलुप्ति के कगार पर खड़ी टांकणी से निकली गुरमुखी आज देश के साथ विदेशों में भी फल–फूल रही है। 'पंजाब की यह उत्तम भाषा 'गुरमुखी' लिपि में लिखी जाती है। पंजाबी भाषा की वर्णमाला जो शारदा और टांकरी से निकली है, इसमें गुरुओं के मुख–वाक्य गुरमुखों ने लिखे, जिस कारण नाम 'गुरमुखी' प्रसिद्ध हुआ।' (https://desharyana.in/)

अंग्रेज़ों और मुगलों पर उठती है उंगली

इस प्राचीन लिपि को लेकर हुए विभिन्न शोध अध्ययनों में यह बात सामने आई है कि मुगलों और अंग्रेज़ों के शासन में इस लिपि की उपेक्षा हुई। मुगलों के समय फ़ारसी–अरबी और अंग्रेज़ों के शासन में अंग्रेज़ी का प्रचलन बढ़ने से टांकरी लिपि हाशिए पर जाने लगी। 'टांकरी पर लंबे समय से चले शोध के बाद यह खुलासा हुआ है कि इस लिपि का दमन मुगलों व अंग्रेज़ों ने किया था। मुगलों ने यहाँ पर उर्दू भाषा को तरजीह दी और अंग्रेज़ों ने भी उर्दू भाषा पढ़ने वाले लोगों को ही अपने शासन में नौकरी दी। जिस कारण अध्यात्मिक एवं मंत्रोच्चारण में प्रयोग होने वाली टांकरी भाषा का धीरे–धीरे पतन हुआ।' (http://aapkafaisla.co/)

मुगलों के समय उर्दू नई भाषा के तौर पर उभरी और उसका ज़्यादा इस्तेमाल हुआ। बाद में अंग्रेज़ों ने भी अंग्रेज़ी अथवा उर्दू भाषा जानने वालों को ही अपने शासन में नौकरी दी। इससे टांकरी प्रचलन से बाहर होती चली गई। बाद में हिंदी के प्रयोग से इस क्षेत्र में भी देवनागरी का प्रचलन बढ़ गया। 'यह हिमालयी क्षेत्र के ब्राह्मणों की पूजा की भाषा भी रही है। लेकिन क्रूर मुगलों और अंग्रेज़ों की नीतियों के कारण यह लिपि अब प्रचलन से लगभग बाहर हो गई है। अधिकतर पहाड़ी भाषाएँ टांकरी लिपि में ही लिखी गई है।' (http://himalayilog.com)

'कुल्लू में टांकरी लिपि पर डॉक्यूमेंटेरी फ़िल्म टंकरी बनाई गई थी। फ़िल्म में टांकरी लिपि की संपूर्ण जानकारी के साथ यह बताया गया था कि किस प्रकार अंग्रेज़ों ने राजनीति कर उर्दू को महत्त्व देते हुए टांकर ऋषि द्वारा वर्षों के शोध से निर्मित इस लिपि को खत्म कर ऋषि–मुनियों द्वारा टांकरी लिपि में लिखे गए अमूल्य ज्ञान से हमें वंचित कर दिया।' (http://aapkafaisla.co/)

हिमालयी भाषाएँ और उनकी लिपियाँ

जॉर्ज ग्रियर्सन ने भारतीय भाषाई सर्वेक्षण में आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का वर्गीकरण करते समय पहाड़ी भाषाओं को तीन समूहों में बाँटा है। पश्चिमी, मध्य और पूर्वी पहाड़ी भाषाएँ। पूर्वी पहाड़ी भाषा समूह में नेपाली, पाल्पा, जुम्ली,

डोटेली और बैतडेली भाषाएँ शामिल हैं, ये नेपाल में बोली जाती हैं। मध्य पहाड़ी समूह में दो भाषाएँ हैं – कुमाउंनी तथा गढ़वाली जो वस्तुतः स्वयं अनेक बोलियों के समूह हैं। ये भाषाएँ उत्तराखंड में यमुना नदी और नेपाल की पूर्वी सीमा के बीच में प्रचलित हैं। पश्चिमी पहाड़ी भाषाएँ हिमालय में चिनाब नदी और यमुना नदी के बीच में हिमाचल प्रदेश, उत्तराखंड तथा जम्मू और कश्मीर में बोली जाती हैं। पूर्वी पहाड़ी भाषा के तहत नेपाली है, जिसे खसकुरा भी कहते हैं। आज ये सभी देवनागरी में लिखी जा रही हैं। कश्मीर में शारदा लिपि का प्रचलन अब बंद हो गया है।

'नागरी लिपि' का उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि प्राचीन काल में वह ब्राह्मी ही कहलाती थी, उसका कोई अलग नाम नहीं था। यदि नगर या नागर ब्राह्मणों से नागरी का संबंध मान लिया जाए, तो अधिक से अधिक यही कहना पड़ेगा कि यह नाम गुजरात में जाकर पड़ गया और कुछ दिनों तक उधर ही प्रसिद्ध रहा। 'बौद्धों के प्राचीन ग्रंथ 'ललित. विस्तर' में उन 64 लिपियों के नाम गिनाए गए हैं, जो बुद्ध को सिखाई गई, उनमें 'नागरी लिपि' नाम नहीं है, 'ब्राह्मी लिपि' नाम है। जैनों के 'पन्नवणा' सूत्र और 'समवायांग सूत्र' में 18 लिपियों के नाम दिए गए हैं, जिनमें पहला नाम बंभी (ब्राह्मी) है।' **(https://hi.wikipedia.org/)**

टांकरी को पुनर्जीवित करने के लिए प्रयास

उत्तराखंड के जौनसार क्षेत्र के मूल निवासी व भारतीय सूचना सेवा के अधिकारी व केंद्र सरकार के प्रेस सूचना ब्यूरो में अतिरिक्त महानिदेशक रमेश जोशी टांकरी लिपि में जौनसारी को लिखने का सफल प्रयोग कर चुके हैं। (http://himalay-ilog.com/)

रमेश जोशी टांकरी लिपि को सिखाने के लिए वर्णमाला के अनुसार किताब तैयार कर रहे हैं। वे अब इसको साइबर दुनिया में लाने के लिए प्रयासरत हैं। वे इसका फ़ोंट विकसित करने के लिए कंप्यूटर के विशेषज्ञों के साथ लगातार विचार–विमर्श कर रहे हैं। वे कहते हैं "यह लिपि कभी कश्मीर से लेकर हिमाचल प्रदेश, उत्तराखंड, नेपाल, और भूटान तक में प्रचलन में थी। हिमाचल प्रदेश के चंबा रियासत की यह राजभाषा भी रही है। हिमालयी क्षेत्रों में आज भी कई इलाकों में ब्राह्मण अपने तंत्र–मंत्र को इसी भाषा में लिखते हैं।" श्री जोशी अब तक इस भाषा को सिखाने के लिए वर्णमाला की किताब तैयार कर चुके हैं। इस किताब का नाम 'आइए जौनसारी को सीखिए अपनी हिमालयी टांकरी लिपि में' है।

हिमाचल प्रदेश में भी कुछ लोग इस लिपि को पुनर्जीवित करने की कोशिश में जुटे हैं। हिमाचल प्रदेश में पारंपरिक एवं वंशानुगत कई परिवारों में टांकरी पढ़ाई जाती रही है। इसलिए प्रदेश के हर क्षेत्र में आज भी तलाशने पर इसके गिने–चुने जानकार बुज़ुर्ग मिल ही जाते हैं। 'कुल्लू ज़िले की कौलांतक पीठ टांकरी को पुनर्जीवित करने के लिए इसका फ़ोंट और व्याकरण तैयार कर रही है। पीठ के मठाधीश सत्येंद्र नाथ योगी ने भी टांकरी लिपि में महारत हासिल कर ली है। लिपि के फ़ोंट को बनाने के लिए अमेरिका के इंजीनियर की मदद ली जा रही है। इससे टांकरी का प्रयोग ऑनलाइन होगा।' (https://www.bhaskar.com/)

हिमाचल प्रदेश के कुल्लू ज़िला के कराड़सू गाँव के बुज़ुर्ग खूबराम खुशदिल टांकरी के लिए प्रयासरत रहे हैं। 'कुल्लू के खूबराम कराड़सू ने टांकरी लिपि को सिखाने के लिए दशकों पहले एक स्कूल खोला था, लेकिन वयोवृद्ध हो जाने के चलते अब यह करना उनके लिए संभव नहीं रह गया है। उन्होंने घाटी में पाए जाने वाले टांकरी के लिखित कई हस्तलिखित मनु–स्मृतियों का अनुवाद कर दिया है।' (http://hi.himtimes.com)

हिमाचल से सम्बन्ध रखने वाली 'सांभ' नामक संस्था ने टांकरी के श्री हरिकृष्ण मुरारी जी के साथ मिलकर टांकरी को पुनर्जीवित करने की ओर कदम उठाया है। कांगड़ा ज़िला के रैत गाँव के हरीकृष्ण मुरारी टांकरी को लिख–पढ़ सकते हैं। 'सांभ संस्था ने लगभग 2 वर्षों के अनुसंधान के बाद विभिन्न संग्रहालयों, खाताबहियों, शिलालेखों, राजस्व रिकॉर्ड से हासिल किए पत्रों की मदद से टांकरी का फ़ोंट तैयार करने में सफलता हासिल की है। इसके साथ ही सांभ संस्था श्री हरीकृष्ण मुरारी की सहायता से सेमिनार और वर्कशॉप का आयोजन करके टांकरी का प्रचार–प्रसार करके इसे बचाने के लिए कोशिश कर रही है।' (http://hi.himtimes.com)

कुलांत पीठ के मठाधीश सत्येंद्र नाथ योगी, कुल्लू के हीरा लाल ठाकुर व आनी के किशोरी लाल भी टांकरी के जानकार बन चुके हैं। कुल्लू ज़िले के युवा शोधार्थी पंडित यतिन शर्मा के पास टांकरी का बहुत सारा भंडार पड़ा हुआ है और लिपि

भी मौजूद है। उत्तराखंड के जौनसार क्षेत्र में भी कुछ बुजुर्ग अब भी हैं, जो टांकरी को पढ़–लिख सकते हैं। उत्तराखंड के कई ब्राह्मण परिवारों के पास आज भी इसमें लिखी पांडुलिपियाँ हैं। उन्हें परंपरागत व पीढ़ी–दर–पीढ़ी इस लिपि का ज्ञान दिया जाता रहा है। कुल्लू के गुरुकुल स्कूल बंजार में इस क्षेत्र में काम करता रहा है। वहाँ भी बच्चों को यह लिपि सिखाई जाती रही है।

विलुप्त होती विश्व की भाषाएँ

समय के साथ हर चीज़ बदलती रही है। भाषा और लिपियाँ भी इससे अछूती नहीं रही हैं। दुनिया में आज कई भाषाओं की लिपियाँ तो मिलती हैं, मगर भाषा लुप्त हो गई। कई भाषाएँ भी बदल गईं। ईसाइयों और यहूदियों के धर्म ग्रंथों की मूल भाषा हिब्रू थी, लेकिन आज वह प्रयोग में नहीं है। कभी लैटिन और ग्रीक अग्रणी भाषाएँ थीं, लेकिन आज सिमट गई हैं। भारत में पालि, प्राकृत सहित कई भाषाएँ भी प्रचलन से बाहर हो गईं। सिंधु घाटी की लिपि आज तक नहीं पढ़ी जा सकी है। अब संस्कृत भाषा का बोलचाल में प्रयोग न के बराबर हो रहा है। पिछले 50 साल में भारत की लगभग 20 फ़ीसदी भाषाएँ विलुप्त हो गई हैं। भाषाविद मानते हैं कि भारत में पिछले 50 सालों में 250 के आसपास भाषाएँ गायब हो चुकी हैं।

'भारत में 42 भाषाएँ या बोलियाँ संकट में हैं। इन्हें बोलने वाले कुछ हज़ार लोग ही हैं। इनमें कुछ तो विलुप्त ही हो गई हैं। संकटग्रस्त भाषाओं में 11 अंडमान और निकोबार द्वीप समूह की हैं। जबकि अन्य ओडिशा, कर्नाटक, आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु, असम, उत्तराखंड, झारखंड, महाराष्ट्र, मेघालय और पश्चिम बंगाल से ताल्लुक रखती हैं। पिछले 50 साल में भारत की क़रीब 20 फ़ीसदी भाषाएँ विलुप्त हो गई हैं। भाषाओं के विलुप्त होने में हम रूस और अमेरिका के बाद तीसरे नंबर पर हैं। 50 साल पहले 1961 की जनगणना के बाद 1652 मातृभाषाओं का पता चला था। बाद में 1100 भाषाओं को मातृभाषा माना गया, लेकिन तमाम मानकों के आधार पर 199 भाषाओं को विलुप्त हुआ माना जा रहा है। हालांकि भाषाविद् मानते हैं कि भारत में पिछले 50 सालों में 250 के आसपास भाषाएँ लुप्त हो चुकी हैं।' (https://hindi.news18.com/)

वास्तव में किसी भी समाज की पहचान उसकी भाषा और संस्कृति से ही होती है। भाषा को अभिव्यक्त करने के लिए लिपि की आवश्यकता होती है। यदि लिपि ही ख़त्म हो जाए, तो उस समाज का इतिहास, संस्कृति और परंपरागत ज्ञान भी विलुप्त होने लगता है। उस भाषा–बोली के प्राचीनतम दस्तावेज़ किसी काम के नहीं रह जाते हैं। लेकिन, विलुप्त होती लिपियों को बचाने के लिए जिस तरह के ठोस प्रयास होने चाहिए थे, उतने हो नहीं रहे हैं। निजी तौर पर भी लोग इस प्रयास में लगे हैं। जबकि आज अत्याधुनिक प्रौद्योगिकी उपलब्ध हैं। इसका सदुपयोग करके विलुप्त हो रही लिपियों के फ़ोंट बनाकर उन्हें प्रचलन में लाया जा सकता है। यदि समय पर ऐसा न किया गया, तो एक समय ऐसा भी आएगा कि हमें इन लिपियों में लिखी पांडुलिपियों को पढ़ने–समझने वाले भी नहीं मिलेंगे। इससे हमारे पुरखों की विरासत एक दिन समाप्त हो जाएगी। इसलिए आवश्यक है कि केंद्र सरकार, प्रदेशों की सरकारों से लेकर समाजसेवी संगठनों, प्रबुद्ध लोगों को इस मामले में पहल करनी चाहिए। सरकारी तौर पर भी ठोस नीति और योजनाएँ बनाई जाने की आवश्यकता है। तभी हम अपनी विरासत को संजोए रख सकेंगे।

शोध संदर्भ :

1. Retrieved on october13, 2019 from http://himalayilog.com/2019/06/09
2. Retrieved on october 11, 2019 from https://www.divyahimachal.com/2016/08
3. Retrieved on october 9, 2019 from https://www.amarujala.com/himachal-pradesh/kullu/Kullu-53328-21
4. Retrieved on october 11, 2019 from https://hi.wikipedia.org/wiki/
5. Retrieved on october14, 2019 from https://bharatdiscovery.org/india/
6. Retrieved on october 18, 2019 from https://www.prabhatkhabar.com/news/patna/bihar-experts-trying-to-save-maithili-kaithi-brahmi-missing-script/1109681.html
7. Retrieved on october 15, 2019 from https://desharyana-in/archives/3116
8. Retrieved on october 11, 2019 from https://www.aapkafaisla.co/himachal-pradesh/16178-the-british-and-the-mughals-did-the-repression-of-the-hankani-script
9. Retrieved on october10, 2019 from http://himalayilog-com/2019/06/09
10. Retrieved on october 8, 2019 from http://aapkafaisla.co/himachal-pradesh/16178-the-british-and-the-mughals-did-

the-repression-of-the-hankani-script
11. Retrieved on october 19, 2019 from https://hi-wikipedia-org/wiki/
12. Retrieved on october 14, 2019 from http://himalayilog.com/2019/06/09
13. Retrieved on october 11, 2019 from http://hi.himtimes.com/himchali-pahadi-language-tankri-script/
14. Retrieved on october 17, 2019 from https://www.bhaskar.com/news/HIM-OTH-MAT-latest-baddi-news-020004-1455758-NOR.html?utm_expid=k.YYfY3_SZRPiFZGHcA1W9Bw.0&utm_referrer=khttps%3A%2F%2Fwww.google.com%2F
15. Retrieved on october14, 2019 from https://hindi.news18.com/news/knowledge/explainer-why-so-many-language-going-to-extinct-in-india-1276256.html

harishlakhera13@gmail.com

भाषा और संस्कृति से खिलवाड़ करने वाले राजनीतिज्ञ आते हैं, चले जाते हैं। ये राजनीतिज्ञ आज हैं और कल नहीं रहेंगे; किन्तु भारतीय संस्कृति की प्रतीक हिंदी सदा अमर रहेगी।

– पुरुषोत्तमदास टण्डन

देवनागरी लिपि का वैज्ञानिक पक्ष

– डॉ. रश्मि वार्ष्णेय
मुंबई, भारत

भारतीय संस्कृति विश्व की सबसे प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है, जिसकी यात्रा श्रुति, भोज–पत्रों, ताड़–पत्रों, भित्ति–चित्रों, शिलालेखों, ताम्र–पत्रों आदि के रास्ते से होते हुए आज के डिजीटल युग में प्रवेश करते हुए सतत प्रवाहमान रही है। भारतीय सभ्यता इस संस्कृति से पगी हुई ब्राह्मी जैसी लिपियों से होते हुए देवनागरी लिपि तक सर्वत्र अपनी छाप छोड़ती रही है। अतः देवनागरी लिपि के माध्यम से भारतीय संस्कृति का परिचय प्राप्त करना अत्यंत सहज तथा सुगम है, जो ॐ की प्लुत अनुगूँज के साथ संपूर्ण ब्रह्मांड में गुँजायमान है। इसीलिए भारत के राष्ट्रपिता मोहनदास करमचंद गांधी जी ने भारत की तत्कालीन परिस्थितियों में भाषाई सांस्कृतिक एकता के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए कहा है कि ''जो भारतीय संस्कृति से उत्पन्न भाषाएँ और दक्षिण की भाषाएँ बोलते हैं, उन सबके लिए एक सामान्य लिपि एक व्यावहारिक आदर्श है।''

बाएँ से दाएँ लिखी जाने वाली देवनागरी लिपि में प्रत्येक शब्द उसकी शिरोरेखा से पृथक करते हुए अलग–अलग लिखा जाता है। देवनागरी लिपि में अनेक भाषाएँ लिखी जाती हैं, जैसे संस्कृत, पाली, हिंदी, मराठी आदि। यह लिपि अनेक भाषाओं को अन्य लिपियों के साथ साझा भी करती है, जैसे कोंकणी, सिंधी, कश्मीरी, डोगरी, नेपाली आदि। ऐसी भाषाओं को देवनागरी सहित एकाधिक लिपियों में लिखा जाता है। लीना मेहंदले का मानना है कि ''भारतीय वर्णमाला सुदूर दक्षिण की सिंहली भाषा से लेकर सभी भारतीय भाषाओं के साथ–साथ तिब्बती, नेपाली, ब्रह्मदेशी, थाई भाषा, इंडोनेशिया, मलेशिया तक सभी भाषाओं की वर्णमाला है। यद्यपि उनकी लिपियाँ भिन्न दिखती हैं, लेकिन सभी के लिए एक वर्णन देवनागरी है।'' इस तरह देवनागरी लिपि विश्व में सर्वाधिक प्रयोग में लाई जाने वाली लिपि है।

मॉरीशस की भोजपुरी युक्त क्रियोल (Creole) भाषा जहाँ फ्रेंच से प्रभावित है, वहीं बंगाल की खाड़ी में स्थित भारत के अंडमान की क्रियोली हिंदी का स्वरूप हिंदी, बाँग्ला, दक्षिण भारतीय भाषा/भाषाओं के मिश्रण से विकसित हुआ है तथा इसकी पृथक कोई लिपि नहीं है। लेकिन भारतीय संविधान के अनुच्छेद 343(1) के अनुसार, भाषाई क्षेत्र 'क' में वर्गीकृत इस केंद्र शासित क्षेत्र की लिपि देवनागरी है।

देवनागरी लिपि के वर्णों का वर्गीकरण पूर्णतः वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ किया गया है। लीना मेहंदले के अनुसार ''भारतीय मनीषियों ने पहचाना कि वर्णमाला में विज्ञान है। ध्वनि के उच्चारण में शरीर के विभिन्न अवयवों का व्यवहार होता है। इस बात को पहचानकर शरीर–विज्ञान के अनुरूप भारतीय वर्णमाला बनी और उसकी वर्गवारी भी तय हुई।'' भाषा के प्रयोग के लिए शरीर के जिन अंगों की सहायता ली जाती है, वे फेफड़े से नाक तक होते हैं, जिसका नियंत्रण मस्तिष्क करता है और तदनुसार ही उनके प्रयोग से उत्पन्न ध्वनियों का वर्गीकरण किया गया है। स्थान–भेद से कंठ, तालु, मूर्धा, दंत, ओष्ठ, नासिका की सहायता से उत्पन्न होती ध्वनियों का वर्गीकरण, उनके आभ्यंतर तथा बाह्य प्रयत्नों के अनुसार भी वर्णमाला की तालिका में स्थान पाता है। विवृत–संवृत–अर्धविवृत–अर्धसंवृत तथा घोष–अघोष के अलावा प्राणत्व के आधार पर अल्पप्राण–महाप्राण का वर्गीकरण भी किया गया है। पं. कामता प्रसाद गुरु ने अभ्यंतर प्रयत्नों के आधार पर वर्गीकरण विवृत, स्पृष्ट (स्पर्श), ईषत् विवृत (अंतस्थ), ईषत् स्पृष्ट (ऊष्म) के रूप में किया है। स्पर्श व्यंजन पंचकारों में वर्गीकृत हैं। मात्रा के आधार पर स्वरों का ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत विभाजन भी पूर्णतया वैज्ञानिक है। वायु के प्रवाह के आधार पर पार्श्विक, लुंठित, उत्क्षिप्त जैसी श्रेणियाँ विकसित हुई हैं। इस लिपि के लचीलेपन के कारण उर्दू, अंग्रेज़ी जैसी अन्य भाषाओं की आयातित ध्वनियों को भी इसकी वर्णमाला में समेकित किया गया है।

सुरेंद्र भटनागर के अनुसार ''लिपि में वर्ण निरर्थक रूपांकन नहीं है। देवनागरी में कोई भी ऐसी वर्ण आकृति नहीं है, जिसमें अकार का प्रतीक रूप दंड या स्तंभ (।) न लगा हो। जिस प्रकार वर्णोच्चार के समय बिना स्वर के हम किसी भी व्यंजन का उच्चारण नहीं कर सकते, उसी प्रकार बिना स्तंभ का प्रयोग किए

हम किसी वर्ण को नहीं लिख सकते।''

ध्वन्यात्मकता के कारण देवनागरी लिपि में जैसा बोला जाता है, वैसा ही लिखा जाता है, जो रोमन जैसी लिपियों में नहीं होता है। इस कारण इस लिपि में लिखे हुए को पढ़ना आसान है। साथ ही, विश्व की किसी भी भाषा के उच्चारण, ध्वनि, आदि को उसके मूल स्वरूप में देवनागरी लिपि के अंतर्गत सुरक्षित रखा जा सकता है। राष्ट्रीय मस्तिष्क अनुसंधान केंद्र (NBRC), मानेसर, हरियाणा (भारत) के अनुसंधान कार्य से यह प्रमाणित हुआ है कि जब रोमन लिपि वाली भाषा (जैसे अंग्रेज़ी) का प्रयोग किया जाता है, तब हमारे मस्तिष्क का बाँया भाग सक्रिय होता है और जब चित्र लिपि वाली भाषा (जैसे चीनी) का प्रयोग किया जाता है, तब हमारे मस्तिष्क का दाँया भाग सक्रिय होता है, लेकिन जब देवनागरी लिपि वाली भाषा (जैसे हिंदी) का प्रयोग किया जाता है, तब मस्तिष्क का बाँया, दाँया तथा मध्य भाग सभी सक्रिय हो जाते हैं और उसका संतुलित विकास होता है। गांधी जी का मत है कि ''सभी भाषाओं की ज़रूरतों के अनुसार ढाल सकने की जितनी खूबी देवनागरी लिपि में है, उतनी और किसी लिपि में नहीं है तथा इस प्रयोजन के लिए कोई भी दूसरी लिपि उतनी पूर्ण और परिष्कृत नहीं है जितनी कि देवनागरी है।''

आज के दौर में जब हिंदी ही नहीं, भारतीय भाषाएँ ही नहीं, बल्कि विश्व की लगभग सभी भाषाएँ अंग्रेज़ी भाषा के वर्चस्व से ग्रस्त हैं तथा उन पर अंग्रेज़ी का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देने लग गया है, तब भाषाई विविधता में कमी होना स्वाभाविक परिणति है। यह प्रभाव केवल शब्दों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसकी चपेट में विभिन्न भाषाओं की लिपि, अंक, आदि भी आने लग गए हैं। अब विश्व की अधिसंख्य भाषाओं में उनकी लिपियों से लिखने के दौरान बीच–बीच में रोमन अक्षरों का प्रयोग सामान्य हो गया है तथा इसमें रोमन लिपि का प्रतिशत बढ़ता ही जा रहा है, भले ही शब्दों में शांत (Silent) हो चुके अक्षरों की कमी ढोनी ही क्यों न पड़े, जैसे साइक्लोजी (Psychology) में 'पी' अक्षर।

नई पीढ़ी अंग्रेज़ी भाषा में पढ़कर साक्षर होने के कारण, हर बात रोमन लिपि में लिखना सहज पाती है। आधुनिक विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी, विशेषकर कम्प्यूटर और मोबाइल में टाइप करने का काम अंग्रेज़ी में करना सुगम समझती है, भले ही उसमें हिंदी की सुविधा भी उपलब्ध हो। इस पीढ़ी के माध्यम से रोमन लिपि का चलन विश्वव्यापी होते हुए, सभी भाषाओं की लिपियों पर हावी हो रहा है, चाहे वह देवनागरी लिपि हो या कोई अन्य लिपि हो। सभी लिपियाँ रोमन लिपि के सामने बौनी नज़र आने लगी हैं। अंग्रेज़ी के बढ़ते वर्चस्व के चलते रोमन लिपि को भी बढ़त मिली है, भले ही यह लिपि उतनी वैज्ञानिक नहीं है, जितनी कि देवनागरी लिपि है। फिर भी महात्मा गांधी जी का विश्वास है कि ''नागरी लिपि यदि संपूर्ण है, दूसरी लिपियों के मुकाबले में पूर्ण है, तो उसी का साम्राज्य अंत में होगा।'' यहाँ यह बताना प्रासंगिक है कि सुरेंद्र भटनागर ने श्री रंगनाथ राव जी के हवाले से स्पष्ट किया है कि ''सैमिटिक व्यंजन वर्णों की जो लिपि प्राचीन ग्रीक और फिर रोमन लिपि का आधार बनी, वह स्वयं 22 अथवा 24 चिह्नों की सैंधव लिपि से विकसित हुई थी।''

देवनागरी लिपि अपनी वैज्ञानिकता के कारण ही कम्प्यूटर के लिए सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वोत्तम विकल्प मानी जाती है। लेकिन अंग्रेज़ी के अभ्यास तथा उसकी आदत के कारण देवनागरी के स्थान पर रोमन का ही उपयोग कम्प्यूटर में किया जाता है। इस कारण विज्ञान–पुष्ट देवनागरी लिपि का दोहन भली–भाँति नहीं हो पाया है तथा उसका समग्र लाभ अभी तक उठाया नहीं जा सका है। यदि कम्प्यूटर में देवनागरी लिपि का उपयोग किया जाए, तो कम्प्यूटर के क्षेत्र में क्रांति लाई जा सकती है।

देवनागरी लिपि की गुणवत्ता, वैज्ञानिकता, सटीकता, ग्राह्यता आदि को देखते हुए, इसका वरण किया जाना श्रेयस्कर है। इसकी सहायता से भाषा के क्षेत्र में उत्पन्न होने वाली सभी समस्याओं का निराकरण करना संभव है। गांधी जी ने अपने उपवास के छठे दिन प्रातः काल में प्रार्थना के बाद लेटे–लेटे लिखा था कि ''लिपियों में सबसे आला दर्जे की लिपि नागरी को ही मानता हूँ। यह कोई छिपी बात नहीं है। यहाँ तक कि मैंने दक्षिण अफ़्रीका से गुजराती लिपि के बदले में नागरी लिपि में गुजराती खत लिखना शुरू किया था।'' अतः रोमन जैसी लिपियों की सीमाओं को देखते हुए, यह उचित होगा कि मॉरीशस बल्कि विश्व से लुप्त हो चुके डोडो पक्षी की तरह देवनागरी लिपि के लुप्त होकर अतीत में गुम हो जाने से पहले, समय रहते ही देवनागरी लिपि के प्रति जागरूकता लाई जाए तथा इसे सर्वसम्मति से अधिकाधिक अपनाकर संपूर्ण विश्व के ज्ञान–विज्ञान की विरासत को उसके मूल स्वरूप में वैज्ञानिक ढंग से सुरक्षित रखने की कवायद करते हुए, इस लिपि के वैज्ञानिक स्वरूप तथा लचीलेपन का अधिकतम लाभ उठाया जाए।

संदर्भ :

1. गांधी और हिंदी, संचयन एवं संपादन राकेश पांडेय, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नेहरू भवन, 5, इंस्टीट्यूशनल एरिया, फ़ेज़–2, वसंत कुंज, नई दिल्ली–110070, पहला संस्करण, 2005
2. भारतीय वर्णमाला की संकल्पना (लेख), लीना मेहंदले, वैश्विक हिंदी सम्मेलन, मुंबई, ई–मेल दिनांक 06.07.2018, 11:50 बजे
3. संस्कृत भाषा का वर्ण विज्ञान (पुस्तक), सुरेंद्र भटनागर, प्रकाशक : भारत विद्या अध्ययन एवं अनुसंधान केंद्र, अटल बिहारी वाजपेयी हिंदी विश्वविद्यालय, भोपाल, वर्ष 2014
4. सरल भाषा विज्ञान (पुस्तक), डॉ. अशोक के. शाह 'प्रतीक', प्रकाशक, हिंदी बुक सेंटर, 4/5, आसफ अली रोड, नई दिल्ली–110002, प्रथम संस्करण, अक्टूबर, 1994
5. हिंदी व्याकरण (पुस्तक), पं. कामता प्रसाद गुरु, प्रकाशक : नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 12वाँ पुनर्मुद्रण, संवत 2035

drrasmivarshney@gmail.com

पण्डित मदनमोहन मालवीय का अंग्रेज़ी भाषण चाँदी की तरह चमकता हुआ कहा जाता है, किन्तु उनका हिंदी भाषण इस तरह चमका है, जैसे मानसरोवर से निकलती हुई गंगा का प्रवाह सूर्य की किरणों से सोने की तरह चमकता है।

– महात्मा गांधी

हिंदी का पहला उपन्यास

– श्री योगेश्वर तिवारी
भारत

उपन्यास भारतीय साहित्य की मूल विधा नहीं है, विदेशी विधा है। विदेशी साहित्य में भी उपन्यास साहित्य की पुरानी विधा नहीं, 'आधुनिक' विधा है। यूरोप में इस विधा की शुरुआत औद्योगिकीकरण के दौर में हुई। उसी दौर में वहाँ समाज में 'मध्यवर्ग' अस्तित्व में आया। यह 'मध्यवर्ग' उपन्यास का पहला और प्रमुख पाठक बना। 'मध्यवर्ग' उपन्यास को मुख्यतः पत्र–पत्रिकाओं में धारावाहिक रूप में पढ़ता था। अतः यूरोप में इस विधा का सम्बन्ध 'मध्यवर्ग' और पत्र–पत्रिकाओं से जोड़ा गया। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए विचारकों ने उपन्यास को 'मध्यवर्ग' का महाकाव्य कहा।

हिंदी में जिस समय उपन्यास लेखन की शुरुआत हुई उस समय तक भारत में विधिवत 'मध्यवर्ग' का निर्माण नहीं हुआ था। अतः उपन्यास ने स्वाभाविक ही यहाँ के परिवेश के अनुसार अपना रूप बदला। हिंदी आलोचक और चिन्तक नामवर सिंह का मानना है कि भारत में उपन्यास ने 'मध्यवर्ग' के महाकाव्य के रूप में नहीं, 'किसान–जीवन' के महाकाव्य के रूप में जन्म लिया।

हिंदी उपन्यास के केन्द्र में 'किसान–जीवन' बाद में आया, उससे पहले 'स्त्री–जीवन' आया। जिन रचनाओं को हिंदी में आरम्भिक उपन्यास के रूप में देखा जाता है, उनमें से अधिकतर 'स्त्री–जीवन' से सम्बन्धित समस्याओं को केन्द्र में रखकर लिखी गई रचनाएँ ही हैं। इन रचनाओं में उपन्यास के तत्त्व देखकर ही आलोचकों ने इनके उपन्यास होने का निर्धारण किया है । ऐसे में यूरोप में जन्म लेने वाले उपन्यास का भारत में पहुँचने पर यहाँ की हवा–पानी–मिट्टी के अनुसार रूप और गुण कुछ परिवर्तित हुआ।

दरअसल, विदेशी रूप वाले उपन्यास को भारत की साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थियों ने अपने अनुसार स्वभाव देने की कोशिश की। भारत की प्रत्येक आधुनिक भाषा ने उपन्यास में अपनी कुछ जातीय विशेषताएँ भी जोड़ीं। हिंदी जाति ने भी उपन्यास को अपने रंग में ढाला। यह 'ढलाई' धीरे–धीरे हुई।

हिंदी प्रदेश की साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियों के प्रभाव में हिंदी उपन्यास का स्वभाव भी विकसित हुआ। यह हिंदी की अपनी सफलता थी। यह सफलता उसे एक दिन में नहीं मिली है। इसके लिए उसने एक लम्बा संघर्ष किया। इस संघर्ष में बहुत–सी बातें इतनी पुरानी हो गई हैं कि उनके मूल स्वरूप का पता लगाने के लिए कठिन परिश्रम करने की आवश्यकता है।

भक्त कवि तुलसीदास ने *रामचरितमानस* में लिखा है –

हरित भूमि तृन संकुल समुझि परहिं नहिं पंथ ।
जिमी पाखण्ड बाद तें गुप्त होहिं सद्ग्रंथ ।।[1]

हिंदी के पहले उपन्यास को लेकर भी मतों और स्थापनाओं का इतना जंजाल खड़ा हो गया है कि उसमें मूल विषय कहीं खो–सा गया है। आगे हम प्रमुख विद्वानों के मतों की चर्चा करते हुए हिंदी के पहले उपन्यास तक पहुँचने की कोशिश करेंगे।

हिंदी उपन्यास का आरम्भ : मुख्य स्थापना

हिंदी उपन्यास के आरम्भ से सम्बन्धित वाद–विवाद का इतना झाड़–झंखाड़ खड़ा हो गया है कि इसे समझने के लिए बनी–बनाई लीक से हटकर किसी नए रास्ते की तलाश की ज़रूरत है।

नए रास्ते की ज़रूरत इसलिए भी है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लाला श्रीनिवास दास के *परीक्षा गुरु* (सन् 1882) को अंग्रेज़ी ढंग का पहला हिंदी उपन्यास माना है। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने *पूर्णप्रकाश* और चन्द्रप्रभा को भारतेन्दु की रचना मानकर इसे हिंदी का पहला उपन्यास कहा है। डॉ. रामविलास शर्मा ने कहा कि ''यदि यह (*पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा*) हिंदी का पहला उपन्यास है, तो कहना होगा कि हिंदी–कथा साहित्य की शुरुआत ही साम्राज्य–विरोध और सामन्त–विरोध

---

1. तुलसीदास : रामचरितमानस, किष्किंधा काण्ड, दोहा संख्या 14

से होती है।''[2] डॉ. नामवर सिंह ने भी भारतेन्दु की अपूर्ण रचना *एक कहानी : कुछ आपबीती कुछ जगबीती* (सन् 1876) को हिंदी का पहला उपन्यास मानने का सुझाव दिया है।

एक साहित्यिक विधा के रूप में उपन्यास का शिल्प काफ़ी लचीला होता है। उपन्यास–शिल्प के इस लचीलेपन को लोगों ने यह मान लिया कि उपन्यास का कोई निश्चित शिल्प ही नहीं होता। इसका कोई निश्चित रूप नहीं होता। इसका परिणाम यह हुआ कि विद्वानों ने हिंदी खड़ीबोली गद्य में लिखी गई किसी भी रचना को पहला उपन्यास बताकर उसे स्थापित करने की कोशिश की। इस तरह विद्वानों–आलोचकों–शोधकर्ताओं में हिंदी का पहला उपन्यास ढूँढ़ लाने की होड़–सी मच गई। इसी उत्साह में लोगों ने पं. गौरीदत्त की *देवरानी जेठानी की कहानी* (सन् 1870) से हिंदी उपन्यास की शुरुआत सिद्ध करना चाहा। लोग यह भूल गए कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से लेकर डॉ. नामवर सिंह तक जैसे बड़े आलोचकों ने अपने आलोचना–कर्म में किसी विशेष उद्देश्य के लिए अलग–अलग उपन्यासों का ज़िक्र किया, उन्हें पहला उपन्यास बताया। किसी विशेष रचना को पहला उपन्यास ठहराने का ठोस तर्क दिया। इन बातों को बिना सोचे कई विद्वानों के बीच हिंदी का पहला उपन्यास ढूँढ़ लाने की एक होड़–सी मच गई। ऐसे में हिंदी उपन्यास की अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति क्या रही, अन्य भारतीय भाषाओं के उपन्यास से इस प्रकृति और प्रवृत्ति का कोई सम्बन्ध रहा या नहीं, संस्कृत और फ़ारसी से हिंदी उपन्यास के क्या रिश्ते रहे – ऐसे प्रश्नों पर तनिक रुककर विचार करने की जगह विद्वानों ने अत्युत्साह, जल्दबाज़ी और भावुकता से ही काम लिया। इसी अत्युत्साह, जल्दबाज़ी और भावुकता में श्री ज्ञानचन्द्र जैन ने संस्कृत की *कादम्बरी* को दुनिया का पहला उपन्यास बता दिया। साथ ही उन्होंने यह भी सिद्ध करना चाहा कि ''हमारे यहाँ रची *पंचतंत्र, हितोपदेश, कथा–सरित्सागर* तथा *जातक कथाओं* का प्रचार–प्रसार सारे विश्व में हुआ। पश्चिम में 'नावेल' की नई साहित्यिक विधा का विकास इटली में नवजागरण काल में लिखी बोकैशियो (Giovanni Boccaccio) की जिस कथा–पुस्तक *डीकैमरान* (Decameron) से माना जाता है, उसकी प्रेरणा का एक स्रोत भारत भी था।''[3]

डीकैमरान 14वीं सदी की रचना है। यह एक सौ कहानियों का गुच्छ है, जिसे सात युवतियाँ और तीन युवक आपस में सुनते–सुनाते हैं। इसके लेखक ने इसे *नावेला* कहा है। यह रचना इटली के शुरुआती गद्य की कालजयी रचना मानी जाती है। ज्ञानचन्द्र जैन ने गौरीदत्त की *देवरानी जेठानी की कहानी* को बोकैशियो की *डीकैमरान* के समकक्ष ठहरा दिया है। इस समकक्षता का न तो उन्होंने कोई ठोस आधार बताया है और न ही इसके लिए कोई पुष्ट तर्क दिया है।

उपन्यास को लेकर एक प्रमुख धारणा हेगेल द्वारा व्यक्त की गई थी, जिस पर मार्क्सवादी आलोचक जार्ज लुकाच ने और बल दिया। नामवर सिंह के अनुसार वह स्थापना यह है कि ''उपन्यास आधुनिक 'मध्य–वर्ग' का महाकाव्य है। चूँकि मध्य–वर्ग या जिसे 'बोर्जूआ' कहते हैं, वह यूरोप में ही बना, पैदा हुआ। यह 'मध्य–वर्ग' और 'बोर्जूआ' भारत में देर से विकसित हुआ। देर से विकसित होने के साथ ही वह एक तरह से परजीवी या परोपजीवी रहा, इसलिए वह अपना महाकाव्य नहीं तैयार कर सका, जैसा कि यूरोप के मध्य–वर्ग ने यूरोपीय उपन्यास के रूप में किया।''[4]

लुकाच की यह स्थापना काफ़ी महत्त्व रखती है। फिर भी इसकी जाँच–पड़ताल ज़रूरी थी। हिंदी के कई 'प्रगतिशील' लुकाच की इस स्थापना की जाँच–पड़ताल किए बिना यह दिखाने निकल पड़े कि हमारे यहाँ भी आधुनिक–मध्यवर्ग पहले से मौजूद था। ऐसे 'प्रगतिशील' लेखकों में हिंदी के कथाकार और संपादक श्री राजेन्द्र यादव प्रमुख रहे।

राजेन्द्र यादव को लगता है कि सन् 1857 के 'गदर' में मिली पराजय को 'अन्तिम रूप से स्वीकार कर लेने' के बावजूद ''मानसिक और आध्यात्मिक रूप से जन–मन इस स्थिति को कतई स्वीकार नहीं कर पाया था।'' इसलिए यह बहुत ''स्वाभाविक है

2. शर्मा, रामविलास : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 1984, पृ. 145

3. जैन, ज्ञानचन्द : प्रेमचन्द पूर्व के हिन्दी उपन्यास, आर्य प्रकाश मण्डल, दिल्ली, संस्करण : 1987, पृ. 31–32

4. सिंह, नामवर : भारतीय उपन्यास की अवधारणा पर IGNOU में दिया गया व्याख्यान। लिंक नीचे दिया जा रहा है – https://www.youtube.com/watch?v=kk3cPmxf8ntk&t=k183s

कि जो बाहरी शक्ति से नहीं हो सकता, उसे बुद्धि और समझ से किया'' जाए।[5] अतः सन् 1887 में प्रकाशित *चन्द्रकान्ता* की 'अभूतपूर्व लोकप्रियता' के पीछे राजेन्द्र यादव को लगता है कि ''चाहे ऐयारों के एक–से एक अद्भुत कारनामें हों या तिलिस्म के चमत्कार, इन सबके पीछे एक चौकन्नी और विलक्षण बुद्धि, प्रतिभा और उपलब्धियों का काल्पनिक आश्वासन तो है ही।''[6] इसी क्रम में राजेन्द्र यादव ने *चन्द्रकान्ता* और *चन्द्रकान्ता सन्तति* के पात्र **भूतनाथ** को मध्यवर्गीय चरित्र बना डाला। इतने पर ही राजेन्द्र यादव की 'विलक्षण बुद्धि' शान्त नहीं हुई। तनिक और आगे बढ़कर उन्होंने चन्द्रकान्ता को बंगाल के चर्चित 'भुवाल संन्यासी काण्ड' से जोड़ते हुए कहा कि जिस समय *चन्द्रकान्ता* और *सन्तति* लिखे जा रहे थे ''भुवाल संन्यासी काण्ड की गूँज तो उस समय सारे हिन्दुस्तान में थी ही।''[7]

इसी तरह फ़्रांचेस्का ओरसिनी (Francesca Orsini) का विचार है कि भारतेन्दु और उनके मण्डल के लेखकों का ध्यान 'हिंदी सिखाने' और रचनाओं की 'साहित्यिकता' पर अधिक रहा। उपन्यास के क्षेत्र में असली काम तो देवकीनन्दन खत्री ने किया।[8] राजेन्द्र यादव के हवाले से फ़्रांचेस्का ने कहा कि आचार्य शुक्ल की साहित्य और उपन्यास सम्बन्धी 'संकीर्ण' परिभाषा ने उन्हें देवकीनन्दन खत्री के *चन्द्रकान्ता* रूपी विलक्षण खोज को सराहने नहीं दिया। इस तरह शुक्ल जी ने देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास के क्षेत्र की 'असमान्य खोज' (extraordinary innovation) को नज़रअन्दाज़ किया। लेकिन इसे तुरन्त बाद शुक्ल जी की चर्चित स्थापना को ही दुहराते हुए उन्होंने कहा कि "From the perspective of commercial publishing, *Chandrakanta* was path-breaking in the way it manage to create a habit of novel-reading in Hindi."[9]

5. यादव, राजेन्द्र : अठारह उपन्यास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली। संस्करण : 1999, पृ. 19
6. वही, पृ. 19
7. वही, पृ. 30
8. Orsini, Francesca : *Print and pleasure : Popular Literature and Entertaining Fiction in Colonial North India*, Permanent Black, Ranihet. Ed- 2009, p- 233
9. वही, पृ. 200

हिंदी का पहला उपन्यास

हिंदी के पहले उपन्यास पर विचार करते हुए जिस रचना की सबसे पहले चर्चा होती है, वह है सन् 1798 और 1803 के बीच लिखी इंशाअल्ला खां की *उदयभानचरित* या *रानी केतकी की कहानी*। इंशाअल्ला खां ने इस 'कहानी' को लिखने का कारण यह बताया कि ''एक दिन बैठे–बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले, ... बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो।''[10] स्पष्ट है कि इंशाअल्ला खां का उद्देश्य 'ठेठ हिंदी' में एक कहानी लिखने का था। उपन्यास लिखना उनका उद्देश्य नहीं था। उन्हें उपन्यास विधा का ज्ञान और भान भी नहीं था। उनकी यह रचना 'गद्य' में अवश्य लिखी गई है, लेकिन इसमें न तो चरित्र का विकास है न ही कथ्य का उचित नियोजन है और न ही लेखक की अपनी कोई दृष्टि है। अतः *रानी केतकी की कहानी* और कुछ भी हो उपन्यास तो हरगिज़ नहीं है।

सन् 1870 में पं. गौरीदत्त ने *देवरानी जेठानी की कहानी* लिखी। इसे उपन्यास के निकट माना गया। ज्ञानचन्द जैन का मत है कि ''बोकैशियो की *डिकैमरान* की भाँति गौरीदत्त की *देवरानी जेठानी की कहानी* हिंदी की पहली नवल कथा है।''[11] किस आधार पर यह हिंदी की नवल कथा है इसे जैन जी ने नहीं बताया है। देवरानी जेठानी की कहानी की तुलना उससे पहले से चली आ रही 'कहानियों' जैसे *रानी केतकी की कहानी, सिंहासन बत्तीसी, बैताल पच्चीसी, राजा भोज का सपना* आदि से करें, तो रचना के तौर पर निश्चय ही यह उनसे तनिक आगे बढ़ी हुई अलग कहानी है। पर तनिक ही आगे बढ़ी हुई अलग कहानी है। यह अलगाव इतना नहीं है कि इसे उपन्यास का दर्जा दिया जा सके। इसमें तत्कालीन समाज का चित्रण ज़रूर मिलता है। यह प्रशंसनीय है। इसे स्त्री की सामान्य शिक्षा के लिए ही लिखा गया है। इसे लिखने के पीछे स्वयं लेखक का भी यही उद्देश्य है।

हिंदी प्रदेश में यह वह दौर था जब सरकार हिंदी–उर्दू में शिक्षा देने के लिए पर्याप्त पुस्तकों का अभाव मानती थी। इसलिए

10. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी–प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संस्करण : 2001, पृ. 229
11. जैन, ज्ञानचन्द : प्रेमचन्द पूर्व के हिन्दी उपन्यास, आर्य प्रकाश मण्डल, दिल्ली, संस्करण : 1987 पृ. 32

सरकार ने हिंदी–उर्दू में पुस्तकें लिखने और संस्कृत–अंग्रेज़ी से अनुवाद करने के लिए पुरस्कारों की घोषणा की थी। *देवरानी जेठानी की कहानी* को भी एक सौ रुपये का नकद पुरस्कार मिला था। उर्दू में नज़ीर अहमद की *मिरातुल उरूस* (गृहिणी दर्पण) को भी पुरस्कार मिला।[12] यही देखकर ईश्वरी प्रसाद और कल्याण राय ने मिलकर सन् 1873 में *वामाशिक्षक* नामक पुस्तक बनाई। इस पुस्तक को उपन्यास के रूप में नहीं देखना चाहिए, वामाशिक्षक (स्त्री–शिक्षक) के रूप में ही देखना चाहिए। इसमें हिंदी उपन्यास का आरम्भिक रूप ढूँढ़ना ठीक नहीं।

हिंदी के शुरुआती उपन्यासों में जिस अगली रचना का नाम लिया जाता है वह है *भाग्यवती*। इसे भारतेन्दु के प्रशंसक, पंजाब के श्रद्धाराम फिल्लौरी (फुल्लौरी) ने सन् 1877 में लिखकर पूरा कर लिया था। हिंदी आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य के अपने *इतिहास* में नोट किया है कि ''सम्वत् 1910 (सन् 1853) के लगभग ही विलक्षण प्रतिभाशाली विद्वान पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी के व्याख्यानों और कथाओं की धूम पंजाब में आरम्भ हुई।''[13] ऐसा लेखक जो जनता से सीधा जुड़ा हुआ है। कथावाचक पुरानी कथाओं की रोचक और समयानुकूल प्रासंगिक व्याख्या करनेवाला 'व्यास' है। ज़ाहिर है ऐसे लेखक की शास्त्र और लोक भाषा दोनों पर ही ज़बरदस्त पकड़ है।[14] ऐसा लेखक जब कोई रचना करेगा तब उसके केन्द्र में जनता और समाज को रखेगा। *भाग्यवती* एक ऐसी ही रचना है। इसलिए आचार्य शुक्ल ने *भाग्यवती* को ऐसा 'सामाजिक उपन्यास' माना ''जिसकी बड़ी प्रशंसा हुई।''[15] श्रीनिवास दास की रचना *परीक्षागुरु* के ठीक बाद अपने *इतिहास* में जिस रचना के लिए आचार्य शुक्ल ने 'उपन्यास' पद का व्यवहार किया है वह भाग्यवती ही है। उन्होंने इस रचना को उपन्यास मानते हुए इसकी प्रशंसा की है। इस दृष्टि से देखा जाए तो श्रद्धाराम फिल्लौरी की *भाग्यवती* (सन् 1877) पहली ऐसी रचना है, जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'उपन्यास' का दर्जा दिया है। जहाँ *परीक्षागुरु* (सन् 1882) को उन्होंने 'शिक्षाप्रद'[16] और हिंदी में 'अंग्रेज़ी ढंग' का पहला 'मौलिक' उपन्यास कहा है[17], वहीं भाग्यवती को एक सामाजिक उपन्यास। *भाग्यवती* की रचना भले ही सन् 1877 में हुई पर इसका प्रकाशन उस समय न हो सका। सन् 1887 में इसका प्रकाशन हुआ। सम्भवतः इसीलिए शुक्ल जी के मन में इसे हिंदी का पहला मौलिक उपन्यास कहने में हिचक हुई। सम्भावना यह भी है कि शुक्ल जी को इतिहास लिखते समय *भाग्यवती* के लेखन काल की जानकारी न रही हो, सिर्फ़ प्रकाशन काल की ही जानकारी रही हो।

भाग्यवती में तत्कालीन समाज का बड़ा सजीव चित्रण मिलता है। आचार्य शुक्ल ने इसे यों ही 'सामाजिक उपन्यास' नहीं कह दिया है। इसमें हरिद्वार के कुम्भ मेले का भी बड़ा जीवन्त चित्र उकेरा गया है। बनारसी ठगों को लेकर भी इसमें एक बड़ी मनोरंजक कथा है। यह मनोरंजक कथा काशीनाथ सिंह की चर्चित रचना *काशी का अस्सी* का पूर्व–रूप जान पड़ती है। मानना चाहिए कि फिल्लौरी जी का उद्देश्य सिर्फ़ समाज को शिक्षा देना नहीं है। मनोरंजन करना भी है। समाज में व्याप्त रूढ़ियों और उनसे पार पाने का यथार्थपरक रास्ता भी बताना है। ऐसा करने के क्रम में उन्होंने तत्कालीन समाज का चित्रण करते समय अपने सामाजिक अनुभवों का पूरा लाभ उठाया है।

भाग्यवती से पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द ने सन् 1877 में *एक कहानी : कुछ आपबीती कुछ जगबीती* लिखना शुरू किया था। इसकी पहली और अन्तिम किस्त *कविवचनसुधा* के भाग 8, संख्या 22, वैशाख कृष्ण 4, सम्वत् 1933 यानी सन् 1876 में छपी। इसकी शैली अंग्रेज़ी ढंग के उपन्यास की नहीं है। अपूर्ण होते हुए भी यह रचना सिद्ध करती है कि भारतेन्दु के जीवन काल में ही हिंदी उपन्यास के रूप को लेकर एक 'पक्का ढाँचा' तैयार हो

---

12. वही, पृ. 37
13. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, संस्करण : 2001, पृ. 243–244
14. आगे चलकर हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में एक और लेखक – हजारीप्रसाद द्विवेदी हुए जिन्होंने साहित्य में आने से पहले लोक के बीच में कथाएँ कही थीं। संस्कृत कथाओं की लोक भाषा में व्याख्या की थी। उनका उपन्यास *बाणभट्ट की आत्मकथा* हिन्दी उपन्यास में क्लासिक माना जाता है। इस उपन्यास की कई विशेषताओं में एक है शास्त्र और लोक का सामंजस्य। उपन्यास शिल्प का पूरी तरह भारतीयकरण कर देना इसकी एक अन्य विशेषता है।
15. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, संस्करण : 2001, पृ. 243
16. वही, पृ. 258
17. वही, पृ. 249

चुका था। इसलिए ''इसका अधूरा रह जाना वास्तव में हिंदी के लिए दुर्भाग्य की बात है।''[18]

एक कहानी : कुछ आपबीती कुछ जगबीती का एक अंश इस प्रकार है – ''एक मीर साहब चिड़ियावाले ने चोंच खोली, बेपर की उड़ाई, बोले कि आपके कबूतर किससे कम हैं, वल्लाह कबूतर नहीं परीजाद हैं, खिलौने हैं, तसवीर हैं। हुमाँ पर साया पड़े तो उसे शहबाज बना दें, ऐसे ही खूबसूरत जानवरों में ईसाई लोग खुदा का नूर उतरना मानते हैं, उनको उड़ते देखकर किसके होश नहीं उड़ते। कसम कलामुल्लाह शरीफ़ की, मटियाबुर्ज वालों ने ऐसे जानवर ख्वाब में नहीं देखे।''[19] इस पर रामविलास शर्मा की टिप्पणी है – ''यहाँ भारतेन्दु की शैली और मँज गई है। कहीं रूढ़िगत वर्णनों का प्रभाव नहीं है। वह बहुत ही आसान और मुहावरेदार ज़बान में अपने आसपास के जीवन का विस्तार से वर्णन करते हैं। उनकी शैली कम–से–कम शब्दों से काम लेती है।''[20] उल्लेखनीय है कि भारतेन्दु 'रूढ़िगत वर्णन' से मुक्त हैं। भारतेन्दु की यह शैली आगे चलकर प्रेमचन्द की प्रसिद्ध कहानी *शतरंज के खिलाड़ी* में दिखाई देती है। रामविलास शर्मा ने तो यहाँ तक कह दिया कि भारतेन्दु की ''प्रतिभा जिस बुलन्दी पर यहाँ दिखाई देती है, उस बुलन्दी पर नाटकों और निबन्धों में भी नहीं दिखाई देती।''[21] कहना न होगा कि ''दो कॉलमों की इस रचना में अपनी जवानी के वातावरण की तसवीर खींचकर भारतेन्दु ने जता दिया है कि सुविधा और समय मिलने पर वे देश के एक महान उपन्यासकार होते।''[22]

उपन्यास पूरा न कर पाने के कारण भारतेन्दु भले ही महान् उपन्यासकार न बन पाए हों, पर वे हिंदी उपन्यास की नींव में लगी शुरुआती ईंटों में से एक हैं। आगे चलकर इसी नींव पर प्रेमचन्द ने हिंदी उपन्यास का एक 'पक्का ढाँचा' खड़ा किया। हिंदी उपन्यास के इस 'पक्के' ढाँचे को पहचानने के कारण ही हिंदी के दो शीर्षस्थ आलोचक – रामविलास शर्मा और नामवर सिंह *एक कहानी : कुछ आपबीती कुछ जगबीती* को एक मौलिक उपन्यास मानते हैं। नामवर सिंह तो इसी रचना से हिंदी उपन्यास की शुरुआत मानने का भी सुझाव देते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सम्भवतः इसे न देख पाए हों, क्योंकि अपने 'इतिहास' में उन्होंने इसका ज़िक्र नहीं किया है। बावजूद इसके आचार्य शुक्ल को यह जानकारी तो थी ही कि ''अपने पिछले दिनों में वे (भारतेन्दु) उपन्यास लिखने की ओर प्रवृत्त हुए थे, पर चल बसे।''[23]

पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा जिसको आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी हिंदी का पहला उपन्यास मानते हैं, मौलिक रचना नहीं है। अनुवाद है। यह अनुवाद बांग्ला से हिंदी में भारतेन्दु की प्रिय श्रीमती मल्लिका देवी ने किया था। भारतेन्दु ने यह अनुवाद स्वयं देखा था। इसमें सुधार भी किया था। प्रयोग के तौर पर भारतेन्दु ने इसके प्रत्येक 'स्तवक' (अध्याय) के शीर्ष पर उसके कथा प्रसंग से मिलते–जुलते तुलसीदास, नन्ददास, बिहारी आदि कवियों के उद्धरण अथवा संस्कृत श्लोक लिख दिया था। भारतेन्दु ने *एक कहानी : कुछ आपबीती कुछ जगबीती* की शुरुआत भी कविता की दो पंक्तियों से की थी। ''ज़मीने चमन गुल खिलाती है क्या–क्या/ बदलता है रंग आसमाँ कैसे–कैसे।''[24] भारतेन्दु ने उपन्यास के अध्याय के शुरू में कविता या उस अध्याय से मिलती–जुलती या उसका संकेत देती पंक्ति लिखने की जो शुरुआत की थी हिंदी में उसका सबसे सार्थक व्यवहार विनोद कुमार शुक्ल ने किया है। हिंदी की चर्चित पत्रिका *तद्भव–27* में प्रकाशित उपन्यास *बखेड़ापुर* में हरे प्रकाश उपाध्याय ने भी यह शैली अपनाने की कोशिश की है। हरे प्रकाश का ध्यान शैली से अधिक एक खास विचारधारा की ओर है। फलतः कवितांशों का तो उन्होंने सही इस्तेमाल नहीं किया है।

उपन्यास लिखते हुए भारतेन्दु के मन में संस्कृत की *गद्य कथाओं* का ध्यान ज़रूर रहा होगा। इसलिए मानना चाहिए कि उपन्यास की 'अभारतीय प्रकृति' को पहचानकर भारतेन्दु ने अपने लेखन के शुरू में भले ही उपन्यास पर हाथ न आज़माया

18. शर्मा, रामविलास : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 1984, पृ. 146
19. वही, पृ. 146
20. वही, पृ. 146
21. वही, पृ. 146
22. वही, पृ. 146
23. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संस्करण : 2001, पृ. 252
24. जैन, ज्ञानचन्द : प्रेमचन्द पूर्व के हिन्दी उपन्यास, आर्य प्रकाश मण्डल, दिल्ली, संस्करण : 1987 पृ. 21

हो पर बाद में उनके मन में उपन्यास को लेकर एक खाका अवश्य ही बनने लगा था। उपन्यास का यह खाका भारतीय प्रकृति के करीब था।

भारतेन्दु के उपन्यास लेखन के इस प्रयास की कड़ी में लाला श्रीनिवास दास का *परीक्षागुरु*, देवकीनन्दन खत्री का *चन्द्रकान्ता* या किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास नहीं हैं। इस प्रयास की अगली और महत्त्वपूर्ण कड़ी है ठाकुर जगमोहन सिंह का *श्यामास्वप्न* (सन् 1888), जयशंकर प्रसाद के उपन्यास *कंकाल* (सन् 1929) और तितली (सन् 1934) तथा हज़ारीप्रसाद द्विवेदी की *बाणभट्ट की आत्मकथा* (सन् 1946)।[25] ठाकुर जगमोहन सिंह ने *श्यामास्वप्न* को 'गद्य प्रधान, चार खण्डों में एक कल्पना' और अंग्रेज़ी में 'an original novel' कहा है।

हिंदी के पहले उपन्यास सम्बन्धी प्रमुख स्थापनाओं का विश्लेषण

हिंदी साहित्य में प्रगतिशील लेखक संघ के बढ़ते वर्चस्व के बाद हिंदी आलोचना ने रचनाओं की व्याख्या में 'मार्क्सवादी टूल्स' का इस्तेमाल करना भी शुरू किया। इसके तहत उपन्यास सम्बन्धी समीक्षा के क्रम में आलोचकों की ऊर्जा अपने देश और अपनी भाषा के उपन्यासों की स्वाभाविक प्रकृति पहचानने की जगह यह सिद्ध करने में अधिक खर्च हुई कि जिस समय हिंदी में उपन्यास का जन्म हुआ उस समय हमारे यहाँ भी मध्य वर्ग तैयार हो चुका था। यह अजीब दशा थी कि हिंदी उपन्यास को अंग्रेज़ी उपन्यास के करीब बताने के लिए विद्वान उस समय के 'शिक्षित' और 'अर्द्धशिक्षित' पाठक को मध्य वर्ग सिद्ध कर देना चाहते थे। यह ठीक नहीं था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिंदी के चर्चित छायावादी कवि जयशंकर प्रसाद की रचना कामायनी की व्याख्या करते हुए इस तरह की भ्रामक और हवाई धारणाओं से बचने की ओर संकेत कर दिया था।[26]

सम्भवतः नामवर सिंह ने आचार्य शुक्ल की सलाह मानते हुए हिंदी उपन्यास के विकास से मध्यवर्ग को जोड़े जाने की स्थापनाओं से असहमति ज़ाहिर की। नामवर सिंह ने अपने एक व्याख्यान में तर्कों से यह सिद्ध किया कि हमारे यहाँ उपन्यास का विकास 'मध्यवर्ग के महाकाव्य' के रूप में नहीं हुआ। हमारे यहाँ उपन्यास का विकास 'राष्ट्रीय रूपक' (National Allegory) के रूप में हुआ। अतः अगर कुछ ढूँढ़ना ही पड़े तो हिंदी उपन्यासों में किसान जीवन ढूँढ़ा जाना चाहिए। हमारे यहाँ उपन्यास विधा बाहर से आई ज़रूर पर इसकी प्रकृति मूलतः भारतीय रही, बहुत कुछ रवीन्द्रनाथ के गोरा की तरह। गोरा है तो विदेशी माता–पिता की सन्तान, पर वह किसी भी देशप्रेमी भारतीय से बढ़कर भारतीय है। इतना भारतीय कि रवीन्द्रनाथ को उसी के नाम पर अपने उपन्यास का नाम 'गोरा' रखना पड़ा।

राजेन्द्र यादव भी मध्य वर्ग की तलाश में भटकते हुए देवकीनन्दन खत्री के भूतनाथ तक पहुँच गए। 'भूतनाथ' तक पहुँचकर उन्हें हठात् भुवाल संन्यासी की भी याद हो आई। इस उत्साह में राजेन्द्र यादव यह भी भूल गए कि चन्द्रकान्ता और भूतनाथ तथा 'भुवाल संन्यासी' का समय क्या है?

चन्द्रकान्ता का प्रथम प्रकाशन सन् 1887 में हुआ। हिंदी उपन्यास समीक्षक गोपाल राय के अनुसार सन् 1891 में इसके चारों खण्ड पहली बार एक साथ प्रकाशित हुए। समाजशास्त्री पार्थ चटर्जी ने भुवाल संन्यासी पर लिखी अपनी चर्चित पुस्तक ए प्रिंसली इम्पोस्टर *(A Princely Imposter)* में बताया है कि भुवाल संन्यासी के केस की नींव सन् 1909 में पड़ी। सन् 1926 में इस केस पर सुनवाई शुरू हुई। 1930 में पूरे बंगाल में इसको लेकर हड़कम्प मच गया। सन् 1946 तक यह केस चला। पार्थ चटर्जी ने इतिहास से तथ्य और आँकड़े लेकर अपनी बात कही। पार्थ चटर्जी ने ऐतिहासिक प्रमाणों और अपने तर्कों से यह सिद्ध किया है कि सन् 1930 के दशक में भारत में 'राष्ट्रवाद' अपने चरम पर था। दूसरी तरफ़ राजेन्द्र यादव ने अत्युत्साह में चन्द्रकान्ता, सन्तति और भूतनाथ का सम्बन्ध भी राष्ट्रवाद से जोड़ दिया है। सन् 1913 में देवकीनन्दन खत्री की मृत्यु हो चुकी थी। जो लोकप्रियता उनकी रचनाओं चन्द्रकान्ता और सन्तति को मिली वह भूतनाथ को न मिली। इसलिए सन् 1930 में बंगाल में चर्चा के केन्द्र में आने वाले भुवाल संन्यासी की तुलना सन् 1887 में छपे चन्द्रकान्ता से करना अपने आप में दूर की कौड़ी लाने जैसा ही है। राजेन्द्र यादव और प्रदीप सक्सेना ने देवकीनन्दन खत्री के 'उपन्यासों' में वैज्ञानिकता भी दिखाने की कोशिश की है। बाद के

---

25. पुस्तक रूप में छपने से पहले ही इसका धारावाहिक प्रकाशन 'विशाल भारत' में जनवरी, सन् 1943 से शुरू हो चुका था।
26. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरीप्रचारिण ी सभा, वाराणसी, संस्करण : 2001, पृ. 374

दिनों में खुद देवकीनन्दन खत्री भी अपने उपन्यासों को वैज्ञानिक सिद्ध करने में लगे हुए थे। चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने देवकीनन्दन खत्री को जवाब देते हुए ही समालोचक के जनवरी–अप्रैल 1905 के अंक में छपे एक लेख में तिलस्मी उपन्यासों की विशेषता बताते हुए कहा कि इनका काम ''एक तो उन विलक्षण और असम्भव ऐयारियों और तिलिस्मों में गोते खिलाना है, जो कभी न थी और जो विज्ञान की चाहे कितनी ही उन्नति हो जाए, कभी भी सम्भव न होगी।''[27]

जहाँ तक फ़्रांचेस्का ओरसिनी ने जो प्रश्न उठाया है, एक तरफ़ तो उन्हें लगता है कि रामचन्द्र शुक्ल ने देवकीनन्दन खत्री की 'असामान्य' खोज को नज़रअन्दाज़ कर चन्द्रकान्ता को साहित्यिक उपन्यास का दर्जा नहीं दिया, दूसरी तरफ़ उन्हें यह भी लगता है कि ''अपनी पूरी बनावट में चन्द्रकान्ता एक दास्तान है (to all appearances Chandrakanta is a dastan)''[28] दास्तान इसलिए है कि इसमें ''रज़्म–बज़्म, हुस्न और अय्यारी, दास्तान के चारों तत्त्व मौजूद हैं (Razm, bazm, husna and ayyari, all the four elements of a dastan exist here.)।''[29] ऐसे में अगर शुक्ल जी ने इसे 'साहित्यिक' मानने से इनकार किया, तो क्या बुरा किया। एक तरफ़ उन्हें चन्द्रकान्ता में 'रज़्म, बज़्म, हुस्न और अय्यारी' दिखती है, तो दूसरी तरफ़ चन्द्रकान्ता के प्रकृति–परिवेश वर्णन को वह साहित्यिक वर्णन की जगह एक शिकारी वर्णन मानती हैं।[30] ऐसे में यह समझ नहीं आता कि किस आधार पर वे चन्द्रकान्ता को साहित्यिक रचना मानने की वकालत करती हैं। यही नहीं, राजेन्द्र यादव की तरह ही फ़्रांचेस्का भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास को पढ़ने की ज़हमत नहीं उठातीं। गोपाल राय द्वारा लिखित हिंदी उपन्यास का इतिहास पुस्तक में उद्धृत शुक्ल जी की बातों से ही अपना काम चला लेती हैं। शुक्ल जी का इतिहास आसानी से उपलब्ध है। कॉपीराइट से मुक्त होने के बाद इसकी सॉफ़्टकॉपी इंटरनेट से भी पढ़ी जा सकती है। ऐसे में फ़्रांचेस्का का शुक्ल जी की किताब की प्रति देखे बिना ही उनकी धारणाओं का खण्डन करने की बचकानी कोशिश फ़्रांचेस्का की गम्भीरता पर प्रश्न उठाने के लिए काफ़ी है। ऐसा लगता है फ़्रांचेस्का का ज़र आँकड़े जुटाने पर ज़्यादा है, रचना की साहित्यिकता की पड़ताल करने पर कम।

निष्कर्ष

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से लेकर फ़्रांचेस्का तक की बातों और तर्कों को देखा जाए तो लगता है कि हिंदी का पहला उपन्यास स्थिर करना आसान नहीं है। देवरानी जेठानी की कहानी से शुरू हुई हिंदी उपन्यास की यात्रा में विधिवत किस रचना ने हिंदी उपन्यास का प्रतिनिधित्व शुरू किया, यह कहना कठिन है। जिन रचनाओं को अपना आदर्श बनाकर हिंदी उपन्यास आगे बढ़ा उसमें एक रचना देवरानी जेठानी की कहानी भी अवश्य ही है। शायद इसीलिए गोपाल राय इसे हिंदी का पहला उपन्यास मानने की वकालत करते हैं। रामविलास शर्मा और नामवर सिंह की मानें, तो भारतेन्दु की अधूरी रचना एक कहानी : कुछ आपबीती कुछ जगबीती को हिंदी का पहला उपन्यास माना जा सकता है। उपन्यास के सारे तत्त्व समेटे हुए भी यह रचना अधूरी है। पूरी नहीं है। बल्कि सिर्फ़ एक पन्ने की है। भारतेन्दु इस कथा को किसी खास मोड़ तक भी पहुँचाने में सफल हो गए होते, तो निस्सन्देह यह रचना हिंदी का पहला उपन्यास होने का गौरव हासिल करती। पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा भी भारतेन्दु द्वारा लिखित रचना नहीं है। इसलिए इसे हिंदी का पहला उपन्यास मानने के आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के सुझाव को नहीं माना जा सकता।

उपन्यास के सारे तत्त्वों को समेटे हुए अपनी पूरी साहित्यिकता में हिंदी की जो पहली रचना हमें प्राप्त होती है वह श्रद्धाराम फिल्लौरी की भाग्यवती ही है। इस रचना की साहित्यिकता, औपन्यासिकता और श्रेष्ठता पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मुग्ध हैं। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा, नामवर सिंह आदि ने भी इसकी औपन्यासिकता पर प्रश्न–चिह्न नहीं लगाया है। अतः भाग्यवती को ही हिंदी का पहला उपन्यास माना जाना चाहिए।

tyogeshh@gmail.com

27. हंस (मासिक पत्रिका, नई दिल्ली), अक्तूबर, 1994 में पुनः प्रकाशित चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' का लेख उपन्यास।
28. Orsini, Francesca : *Print and pleasure : Popular Literature and Entertaining Fiction in Colonial North India*, Permanent Black, Ranihet, Ed- 2009, p- 206
29. वही, पृ. 206
30. वही, पृ. 208

मॉरीशस में हिंदी का साहित्यिक क्षेत्र

– श्री इन्द्रदेव भोला इन्द्रनाथ
रिव्येर जी रॉंपार, मॉरीशस

भारत के बाहर के देशों में मॉरीशस ही वह देश है, जहाँ हिंदी साहित्य की विविध विधाओं में विपुल सृजनात्मक लेखन कार्य हुआ है और इस सत्यता को मानते हुए बहुत पहले अपनी मॉरीशस यात्रा के दौरान हिंदी के मूर्धन्य साहित्यकार श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' ने उद्घोषणा की थी –

''भारत के बाहर मॉरीशस एक–मात्र देश है, जिसका अपना हिंदी साहित्य है।''

भारत से आए मज़दूरों और जनसाधारण द्वारा बोली जाने वाली टूटी–फूटी हिंदी शुद्ध हिंदी साहित्यिक भाषा का रूप कैसे धारण कर चुकी, इसके लिए जहाँ कुछ अथक हिंदी सेवियों, हिंदी के विद्वानों और साहित्यकारों का योगदान रहा है, वहाँ उसकी अभिवृद्धि में देश की स्वैच्छिक हिंदी प्रचारक संस्थाओं की भूमिका अनन्य है। उन हिंदी प्रचारक संस्थाओं में हिंदी लेखक संघ एक ऐसी हिंदी साहित्यिक संस्था है, जो पिछले 55 सालों से अविरल साहित्य सृजन के विविध आयामों को विकसित करने में कोई कसर नहीं छोड़ रहा है।

मौलिक हिंदी रचनाएँ पढ़ने की ललक

मॉरीशस में आए हमारे मज़दूर पूर्वज दिन भर कठोर परिश्रम करने के बाद शाम को बैठकाओं में मिलते, सत्संग करते व टूटी–फूटी हिंदी में विचार–विमर्श करते और अपने बच्चों को हिंदी पढ़ाते। आर्य सभा द्वारा धर्म–प्रचार और पाठशालाओं में हिंदी की पढ़ाई होने लगी। बाद में हिंदी प्रचारिणी सभा द्वारा विशेषकर व्याकरण सम्मत साहित्यिक हिंदी की पढ़ाई होने लगी और साहित्यिक परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर खुद विद्यार्थीगण कविता, कहानी और नाटक लिखने के योग्य होने लगे और लिखने के लिए उनमें ललक पैदा हुई। हमारे देश के अग्रज लेखक प्रोफ़ेसर बासुदेव विष्णुदयाल, जयनारायण रॉय, सूर्यमंगर भगत तथा ब्रजेंद्र कुमार भगत लेखन क्षेत्र में पदार्पण कर चुके थे। इधर अभिमन्यु अनत, डॉ. मुनीश्वरलाल चिंतामणि, सोमदत्त बखोरी जैसे लेखकों की मौलिक सृजनात्मक लेखन से मॉरीशस हिंदी साहित्य को नई दिशा मिली। उभरते लेखक–लेखिकाओं में साहित्य सृजन की बेचैनी थी। पाठक भी स्थानीय रचनाकारों की मौलिक रचनाओं को पढ़ने के लिए उत्सुक थे।

हिंदी लेखक संघ की स्थापना

डॉ. मुनीश्वरलाल चिंतामणि सरकारी स्कूल में अंग्रेज़ी–फ्रेंच भाषाओं के अध्यापक थे और उस समय प्रकाशित हो रही 'वर्तमान' जैसी पत्रिका में उनकी रचनाएँ छपने लगी थीं, तो हिंदी साहित्य–सृजन की ओर उनका रुझान बढ़ा। इसके बाद मॉरीशस में हिंदी को गतिशील करने के लिए डॉ. चिंतामणि जी ने वही कार्य किया, जो भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भारत में हिंदी के लिए किया था।

उस समय लेखकों में साहित्य सृजन की बेचैनी को देखकर डॉ. मुनीश्वरलाल चिंतामणि ने उभरते लेखकों का लेखन में मार्गदर्शन तथा लेखक मंच प्रदान करने के लिए 'हिंदी लेखक संघ' की स्थापना करने का निश्चय किया। लेखकों के संघ की स्थापना क्यों? उन्होंने खुद बताया कि वे साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का एक सशक्त साधन मानते हैं और साहित्य की रचना लेखक ही कर सकते हैं। अपनी इस पुनीत अवधारणा को कार्यान्वित करने के लिए उन्होंने दिसम्बर 1961 में पोर्ट लुई के नेओ कॉलिज में एक बैठक बुलाई, जिसमें देश के कई उभरते लेखक–लेखिकाओं ने अपनी उपस्थिति दी।

डॉ. चिंतामणि जी ने संघ की स्थापना की आवश्यकता पर अपना विचार व्यक्त किया तथा उसके उद्देश्य का उल्लेख करते हुए कहा – *''मॉरीशस में हिंदी साहित्य सृजन करना है। कवि–सम्मेलन, निबंध, नाटक तथा भाषण प्रतियोगिताओं के आयोजन से हिंदी साहित्य का निर्माण करना है। इसके अतिरिक्त निकट भविष्य में अनेक लेखक, कवि, कहानीकार, नाटककार, उपन्यासकार तथा अनेक साहित्यकार पैदा करना है। मॉरीशस का गौरव लेखकों पर निर्भर है। वे देश के दीप–स्तम्भ हैं।'*

उसी मौके पर हिंदी लेखक संघ, मॉरीशस का गठन

हुआ। खुद डॉ. चिंतामणि संघ के महामंत्री बने। मान्यप्रधान भारत के आचार्य बाल मुकुन्द द्विवेदी जी, जो उस समय मॉरीशस में प्राध्यापन करते थे और प्रधान पं. धर्मवीर घूरा जी नियुक्त हुए। अपने संबोधन में आचार्य द्विवेदी ने बड़े मार्के की बात कही –

''हमारे बीच लेखक और कवि कम संख्या में हैं। इससे हमें निराश नहीं होना चाहिए। वह दिन दूर नहीं, जब इस देश में अनेक लेखक, कवि और लेखिकाएँ पैदा होंगे।''

अंत में उन्होंने यह कहते हुए भविष्यवाणी की – *''मुझे विश्वास है कि मॉरीशस के हिंदी लेखक भी एक दिन भारत के साहित्यकारों के टक्कर की रचना करेंगे।''*

वस्तुतः आज उनकी भविष्यवाणी साकार हो रही है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

साहित्यकारों की जयन्तियाँ और निबंध प्रतियोगिताएँ

लेखक संघ की स्थापना होने पर संघ ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अनेक योजनाएँ बनायीं और उनको कार्यान्वित करने के लिए कदम उठाए। लेखक संघ ने अपना प्रारंभिक कार्य हिंदी के साहित्यकारों की जयन्ती मनाने से शुरू किया। सन् 1962 के फ़रवरी के अंतिम रविवार के दिन हिंदी प्रचारिणी सभा, लोंग माऊंटेन में जयशंकर प्रसाद जयन्ती प्रो. रामप्रकाश के प्रधानत्व में मनायी गई। उसके बाद भारतेंदु हरिश्चंद्र, फिर तुलसीदास जयन्ती मनायी गई और उसी अवसर पर 'संत कवि तुलसीदास' शीर्षक से निबंध प्रतियोगिता आयोजित की गई।

संघ ने इस बात पर ध्यान देकर साहित्यकारों की जयन्तियाँ और निबंध प्रतियोगिताएँ आयोजित कीं, ताकि पाठकगण व प्रतियोगिताओं के प्रतिभागी उन साहित्यकारों की साहित्यिक रचनाओं तथा लेखन शैली से अवगत हों और उनको पढ़कर वे अपनी लेखन शैली को परिमार्जित कर सकें। उन दिनों काफ़ी संख्या में छात्र–छात्राएँ व पाठक उन प्रतियोगिताओं में भाग लेते थे और पुरस्कृत होने के लिए भरसक शुद्ध हिंदी में उत्तम रचनाएँ करने का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार लेखक भी अपनी योग्यता आज़माते थे। लेखक संघ ने उन्हें लेखक–लेखिकाएँ बनने के लिए उनका मार्ग प्रशस्त किया और आकर्षक पुरस्कार देकर लेखन में उनका हौसला बढ़ाया।

कवि–सम्मेलन

लेखक संघ देश के अनेक गाँवों एवं शहरों में कवि–सम्मेलन आयोजित करता रहा है। अच्छी संख्या में लोग कविताएँ सुनाने की अपनी उत्सुकता दिखाते हैं। कुछ स्वरचित कविताएँ सुनाते हैं, तो कुछ लोग अपने प्रिय कवि मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पंत व महादेवी वर्मा की कविताएँ सुनाते हैं। कविता–पाठ के रसास्वादन से उन्हें कवि व कवयित्री बनने की प्रेरणा मिलती हैं।

पुस्तकें और पत्रिका प्रकाशन

लेखक संघ ने पुस्तक प्रकाशन का उत्तरदायित्व निभाया। मॉरीशस का पहला कहानी–संग्रह 'नये अंकुर' शीर्षक से सन् 1967 में प्रकाशित हुआ, जिसमें देश के 9 कहानीकारों की कहानियाँ प्रकाशित हुईं। उसके बाद कविता और निबंध की पुस्तकें छपीं। नये लेखक–लेखिकाएँ, जो संघ के सम्पर्क में आए, उन सबकी रचनाओं का संपादन कर पुस्तकों तथा संघ द्वारा प्रकाशित 'बाल सखा' पत्रिका में प्रकाशित किया गया।

हिंदी लेखन कार्यशालाएँ

लेखक संघ बस यहीं नहीं रुका। लेखक संघ द्वारा लेखकों के मार्गदर्शन के लिए लेखन कार्यशालाएँ आयोजित की जाती रही हैं। लेखक संघ जब भी कोई पुस्तक प्रकाशित करने जाता है, तब उस विधा पर लेखन कार्यशाला देश के पहुँचे हुए साहित्यकारों के दिग्दर्शन में आयोजित करता है। प्रतिभागियों को लेखन कला, लेखन शिल्प और शैली से अवगत कराया जाता है, तब लेखकों से उस विधा पर परिमार्जित रचनाएँ लिखकर भेजने की माँग की जाती है। उसके बाद भी रचनाओं में पायी जाने वाली त्रुटियों व विसंगतियों से लेखक को अवगत कराया जाता है और सुधार होने पर ही उन रचनाओं को पुस्तक व पत्रिका में प्रकाशित किया जाता है। इस मार्गदर्शन से कई लेखक व कवि सशक्त रचनाएँ करने में सक्षम हुए हैं।

बाल साहित्य सृजन

लेखक संघ मात्र वयस्कों के लिए नहीं, अपितु बालकों के लिए भी बाल साहित्य सृजन करता है। संघ द्वारा 'मॉरीशस की बाल कहानियाँ' और 'मॉरीशस का बाल नाटक–संग्रह' भी

प्रकाशित किए गए हैं। संघ 'बाल सखा' पत्रिका भी प्रकाशित करता है। उसका प्रथमांक 1965 में निकला था। कुछ अंकों के प्रकाशन के बाद निकलना बंद हो गया था, पर 2009 से उसका पुनः प्रकाशन होता आ रहा है। छात्रगण इससे लाभ उठाते हैं। लेख लिखने का प्रयत्न करते हैं और नाटकों में भाग लेते हैं। इस माध्यम से हिंदी के प्रति उनकी अभिरुचि में अभिवृद्धि होती है। ये नवोदित लेखक ही तो भावी सशक्त साहित्यकार होंगे।

पहली नाटक प्रतियोगिता

ऊपर हमने लिखा है कि लेखक संघ ने नाटक की पुस्तक प्रकाशित की थी। पुस्तक प्रकाशन से पहले संघ ने मॉरीशस में पहली बार नाटक प्रतियोगिता का आयोजन सन् 1965 में गुडलैंस के सिनेमा हॉल में किया था, जिसमें देश की 4 नाटक मण्डलियों ने 4 नाटक प्रस्तुत किये थे – 'शरारती बहन', 'परिणाम', 'राधा', और 'शिकारी'। हमारे देश के उभरते नाटककारों और कलाकारों का नाटक मंचन तथा अभिनय का प्रयास प्रशंसनीय था। नाट्य–कला में उन्हें नई अनुभूति हुई थी।

रेडियो–टी.वी कार्यक्रमों में प्रतिभागिता

हिंदी लेखक संघ ने हिंदी साहित्य के विकास का माध्यम रेडियो और टी.वी कार्यक्रमों को भी बनाया। संघ ने सन् 1962 में प्रेमचंद जयन्ती के अवसर पर रेडियो पर साहित्यिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया था। प्रेमचंद पर वार्ता के अतिरिक्त गीत भी शामिल था। संघ के मंत्री श्री मुनीश्वरलाल चिंतामणि 'गुलशन' शीर्षक से बच्चों के लिए और संघ के प्रधान पं. धर्मवीर घूरा 'प्रयास' शीर्षक से वयस्कों के लिए कार्यक्रम प्रस्तुत करते थे, तो संघ के मान्य प्रधान श्री इन्द्रदेव भोला इन्द्रनाथ 'प्रकाश' शीर्षक से पिछले 24 सालों से देश के लेखक–लेखिकाओं, कवि–कवयित्रियों, गायक–गायिकाओं, संगीतकारों से भेंटवार्ता का आयोजन करते हैं, उनके गाये गीतों और संगीत को भी सुनने का अवसर मिलता है और अच्छी साहित्यिक चर्चा होती है। भारत व अन्य देशों से आये हिंदी के साहित्यकारों से ली गई भेंटवार्ता रेडियो पर प्रसारित होती है। देश भर के लोग सुनते हैं और प्रभावित होते हैं।

15–20 पुस्तकें प्रकाशित

हिंदी लेखक संघ बाल–पत्रिका 'बाल सखा' का प्रकाशन तो करता ही है। अब सन् 2017 से हिंदी लेखक संघ वयस्क लोगों के लिए पत्रिका प्रकाशित करने लगा। पर पुस्तक लेखन पर संघ अपना ध्यान अधिक केंद्रित करता है। संघ ने 1967 में 'नये अंकुर' शीर्षक से पहला कहानी–संग्रह प्रकाशित किया तथा यह सिलसिला जारी रखा और निबंध, कहानी, कविता, नाटक, लोककथा, लघुकथा, जीवनी एवं इतिहास की अब तक 15–20 पुस्तकें प्रकाशित की हैं। संघ अपने साहित्य सृजन के लिए विश्वविख्यात हो गया है। भारत व अन्य देशों के साहित्यकारों द्वारा संघ के नाम प्रशंसा–पत्र प्राप्त होते रहते हैं। नीचे हम विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन के कुलपति डॉ. शिवमंगल सिंह 'सुमन' के लिखे एक पत्र (26 जून 1971) का अंश प्रस्तुत कर रहे हैं –

"आप लोगों ने अपने राष्ट्र के समस्त हिंदी लेखकों तथा साहित्यकारों को एक मंच पर लाकर तथा प्रगाढ़ आत्मीयता स्थापित कर बड़ा ऐतिहासिक कार्य किया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि मॉरीशस के प्रवासी भारतीयों का साहित्य शीघ्र ही विश्व साहित्य के समकक्ष स्थान पा सकेगा। आपकी निष्ठा और सद्भावना प्रशंसनीय ही नहीं, अनुकरणीय भी है। मैं मॉरीशस के हिंदी लेखक संघ के कार्यकर्ताओं को हृदय से बधाई अर्पित करता हूँ।"

'हिंदी लेखक संघ का इतिहास' पुस्तक

हिंदी लेखक संघ पिछले 55 सालों से मॉरीशस में हिंदी साहित्य को विकासोन्मुख करने में सदा सक्रिय रहा है। सचमुच वह एक जीता–जागता साहित्यिक आंदोलन का रूप है, जो पूरे मॉरीशसीय हिंदी साहित्य के लिए गौरव की बात है। लेखक संघ के साहित्यिक कार्यों का ऐतिहासिक दस्तावेज़ 'हिंदी लेखक संघ का इतिहास' सन् 2017 में प्रकाशित किया गया। निश्चय ही यह एक कालजयी पुस्तक होगी और विश्व के हिंदी पाठक मॉरीशस के हिंदी साहित्य से अवगत होंगे।

हिंदी लघुकथा के शीर्षक पर विभिन्न अवयवों के प्रभाव का अध्ययन एवं विश्लेषण

– डॉ. चंद्रेश कुमार छतलानी
भारत

शीर्षक लघुकथा का एक आवश्यक तत्व है, बावजूद इसके कभी–कभी न केवल लघुकथा रचना में बल्कि कई समीक्षाओं में भी लघुकथा के शीर्षक पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया जा रहा है। कुछ लघुकथाकारों को अपनी रचना प्रक्रिया में शीर्षक पर ध्यान देना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त जब समय के साथ–साथ लघुकथा के शिल्प आदि में नए प्रयोग हो रहे हैं, तब लघुकथा के शीर्षकों पर समसामयिक वातावरण और समकालीन पाठकों की मानसिकता का प्रभाव होना ही चाहिए। प्रस्तुत शोध–पत्र में साक्षात्कार विधि द्वारा 65 प्रतिभागियों, जो लघुकथा लिख रहे हैं, से शीर्षक पर विचार प्राप्त किये गए और उनका विश्लेषण किया गया है। इस अध्ययन द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि लघुकथाकार शीर्षक का चयन कैसे कर रहे हैं और इसमें किन गुणों को सम्मिलित कर रहे हैं तथा किन अन्य बिंदुओं पर ध्यान देने की आवश्यकता है।

बीज शब्द : लघुकथा, शीर्षक, साक्षात्कार विधि, लघुकथा के तत्व, शीर्षक चयन के गुण, हिंदी

लघुकथा विधा में भी अन्य कई विधाओं की तरह शीर्षक का एक विशेष महत्त्व होता है। जिस तरह एक बच्चे के नामकरण के समय कई बातों को ध्यान में रखा जाता है, उसी तरह किसी लघुकथा का शीर्षक रखते समय सम्पूर्ण लघुकथा को एक प्रतिबिम्ब की तरह सामने रखा जाता है और उसी प्रतिबिम्ब के आधार पर शीर्षक का चुनाव किया जाता है। शीर्षक ऐसा हो जो लघुकथा की आत्मा को दर्शा दे।

एक उदाहरण देना चाहूँगा, एक पल को सोचिये कि आपको 100 किलोमीटर से अधिक की यात्रा अपनी कार खुद ही चला कर करनी है। आप कार में डीज़ल, टायर आदि देखने के साथ–साथ उसका कांच भी साफ़ करते हैं, ताकि गाड़ी चलाते समय रास्ता साफ़–साफ़ दिखाई दे। रास्ते में सड़क भी आती है, गड्ढे भी आते हैं, टोल–टेक्स भी आते हैं और कई सारे वाहन भी आते हैं, लेकिन यदि कांच साफ़ है, तो आपको सब साफ़–साफ़ दिखाई देता है। इसी प्रकार लघुकथा में भी कई वाक्य आते हैं, क्लिष्ट और सरल शब्द आते हैं, प्रतीक आते हैं, मुहावरे–लोकोक्तियाँ आदि भी आते हैं, लेकिन यदि शिल्प, कथानक और पात्रों से सुसज्जित लघुकथा का शीर्षक सार्थक और स्पष्ट है, तो आपको हर पंक्ति साफ़–साफ़ दिखाई देगी। शीर्षक सुंदर, तीक्ष्ण और रोचक हो तो बहुत ही अच्छा, परन्तु सार्थक तो होना ही चाहिए, अर्थात् लघुकथा के मर्म को समझाता हुआ होना चाहिये। इस बात से किसी प्रकार की अस्वीकृति नहीं होनी चाहिए कि यदि शीर्षक रोचक हो, तो पाठक का ध्यान स्वतः ही आकर्षित होगा। एक पाठक और लघुकथा के मध्य शीर्षक ही सबसे पहला माध्यम है, जो पाठक को लघुकथा पढ़ने हेतु प्रेरित करता है।[2]

संतुलित और सार्थक शीर्षक लघुकथा को नई ऊँचाई पर ले जा सकता है और एक निरर्थक शीर्षक वाली बहुत अच्छी रचना को भी अस्वीकृत किया जा सकता है।

अध्ययन की आवश्यकता

शीर्षक लघुकथा की नींव तो नहीं लेकिन एक आवश्यक तत्व है, जिसपर कुछ लघुकथाकार ध्यान नहीं देते। इसे अनछुआ पहलू तो नहीं कह सकते, क्योंकि बहुत सारे लघुकथाकार अब अपने रचनाकर्म के समय शीर्षक को बेहतरीन बनाने में उपयुक्त चिंतन कर रहे हैं, लेकिन बावजूद उसके उनके चिंतन की दिशा किस ओर है और किस ओर होनी चाहिए, इसका एक अध्ययन आवश्यक है, ताकि न सिर्फ़ इसका कि शीर्षक के प्रति आज के समय लघुकथाकार क्या सोच रखते हैं, बल्कि लघुकथाकार शीर्षक में भी किस प्रकार की शैली का प्रयोग कर रहे हैं यह भी ज्ञात होगा। यह समसामयिक साहित्य के विश्लेषण में भी सहायक होगा और भविष्य के साहित्य के सृजन में भी। लघुकथा का उद्देश्य सामाजिक दुर्बलताओं पर प्रहार करना है, प्रखर साहित्यकार विष्णु प्रभाकर ने भी यह बताया था कि लघुकथा ने अपनी विकासक्रम की यात्रा में कई मंज़िलें पार की है, यह दृष्टांत फिर रूपक से बढ़ती हुई लोककथा, बोधकथा और नीतिकथा

के रूप में ढलकर व्यंग्य, चुटकुले और संस्मरण के स्वरूप के पश्चात् अब अपने वर्तमान रूप में स्थापित हुई है। तब लघुकथा के शीर्षक भी ऐसे नहीं होने चाहिए कि उनसे सामयिक लघुकथा दृष्टांत, रूपक, लोककथा, बोधकथा, नीतिकथा, व्यंग्य आदि अपने पुरातन स्वरूप जैसे प्रतीत हों, बल्कि शीर्षक में ही ऐसी ताज़गी होनी चाहिए, जो सार्थक होते हुए पाठक वर्ग को न केवल आकर्षित करे, बल्कि लघुकथा को गंभीरता से पठन हेतु प्रेरित भी करे। शीर्षक किसी लघुकथा के मूल्यांकन में भी सहायक हो सकता है अथवा नहीं, यह भी शोध का विषय है। इन सभी बातों को दृष्टिगत करते हुए, यह ज्ञात होता है कि इस तरह का एक अध्ययन आवश्यक है।

सम्बंधित साहित्य का अध्ययन

राजस्थान साहित्य अकादमी की पत्रिका मधुमती के एक अंक में वरिष्ठ लघुकथाकार डॉ. अशोक भाटिया अपने आलेख 'लघुकथा : लघुता में प्रभुता' में कहते हैं कि लघुकथा आकार में छोटी होती है, अतः इसका शीर्षक उपन्यास व कहानी के शीर्षक से अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व रखता है। [27] आपके कहने का अर्थ कुछ यों है कि चूँकि लघुकथा में हमारे पास कहने को सीमित शब्द हैं, तब लघुता को बरक़रार रखने के लिए शीर्षक का उचित प्रयोग बहुत आवश्यक है।

लघुकथा के सशक्त हस्ताक्षर योगराज प्रभाकर अपने आलेख 'लघुकथा विधा : तेवर और कलेवर' में कहते हैं कि दुर्भाग्य से लघुकथा में शीर्षक सबसे उपेक्षित पक्ष है, लगभग 90 प्रतिशत शीर्षक साधारण हैं। महत्त्वपूर्ण और अभिन्न अंग होने के बावजूद भी लघुकथाकार इस ओर कम ध्यान दे रहे हैं, जबकि शीर्षक में यह भी सामर्थ्य है कि एक लघुकथा की सार्थकता को ऊँचाइयाँ प्रदान कर दे। वे सुझाते हैं कि शीर्षक ऐसा होना चाहिए जो या तो लघुकथा के उद्देश्य या संदेश का प्रतिनिधित्व करे अथवा पूरी की पूरी लघुकथा अपने शीर्षक को सार्थक करे। [1] यह बात न सिर्फ़ लघुकथाकारों की शीर्षक के प्रति उपेक्षा को दर्शा रही, वरन् इस आलेख के द्वारा योगराज प्रभाकर ने अन्य लघुकथाकारों को प्रेरित भी किया है कि शीर्षक पर गहन विचार करें। एक चर्चा के समय आपने और रवि प्रभाकर ने इस बात पर बल दिया था कि शीर्षक पर उतना ही समय देना चाहिए जितना कि लघुकथा लेखन में लगा है।

एक सटीक मत लघुकथाकार एवं उत्कृष्ट समीक्षक रवि प्रभाकर का है। उनके अनुसार शीर्षक में लघुकथा की पंचलाइन में मौजूद शब्द नहीं रखे जाने चाहिए। इसका एक कारण मैं यह समझा हूँ कि यदि पंचलाइन के शब्द ही शीर्षक में मौजूद होंगे, तो शीर्षक सार्थक तो हो सकता है, लेकिन पंचलाइन का प्रभाव समाप्त हो जायेगा, इसलिए शीर्षक को बहुत सतर्कता के साथ चुनना चाहिए।

प्रसिद्ध साहित्यकार संजीव वर्मा 'सलिल' युग मानस ऑनलाइन ब्लॉग में अपने आलेख 'लघुकथा : एक परिचय' में बताते हैं कि लघुकथा सृजन में शीर्षक एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करते हुए पाठक के मन में लघुकथा पठन के प्रति कौतूहल उत्पन्न करता है। [20] अर्थात् सलिल के अनुसार शीर्षक कुछ ऐसा होना चाहिए, जिसका मुख्य गुण पाठक को आकर्षित करना है।

दो वरिष्ठ लघुकथाकारों, जितेन्द्र जीतू द्वारा डॉ. बलराम अग्रवाल के साक्षात्कार 'समझ लघुकथा की' तथा आपस में वार्तालाप में डॉ. अग्रवाल कहते हैं कि क्योंकि छोटे आकार की कथा–रचना होने के कारण लघुकथा का शीर्षक भी इसकी संवेदना का वाहक होता है। [7] यहाँ डॉ. बलराम अग्रवाल, डॉ. अशोक भाटिया के आलेख 'लघुकथा : लघुता में प्रभुता' में कही गयी बात का ही समर्थन कर रहे हैं और साथ ही शीर्षक और लघुकथा का सह–सम्बन्ध भी स्पष्ट कर रहे हैं।

राजेंद्र मोहन त्रिवेदी 'बंधु' की लघुकथा 'भीतर का सच' पर ख्यातनाम लघुकथाकार डॉ. सतीशराज पुष्करणा का कहना है कि यह एक सटीक शीर्षक की लघुकथा है और यह शीर्षक लघुकथा के अन्य तत्वों के साथ पाठकों के अंतर्मन तक जाकर झकझोरने की क्षमता रखता है। [29]

वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. अशोक भाटिया अपनी पुस्तक 'परिंदे पूछते हैं' में सुझाव देते हैं कि ''लघुकथा के शीर्षक पर हमें खुले मन से विचार करना चाहिए। शीर्षक रोचक, पाठक में लघुकथा के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न कर सके, व्यंग्यात्मक और प्रतीकात्मक भी हो सकता है। शीर्षक स्वयं में इतना सक्षम है कि सम्पूर्ण लघुकथा को एक नया आयाम प्रदान कर दे।'' [24], [25] डॉ. भाटिया ने यहाँ शीर्षक के गुणों पर चर्चा की है।

इनके अतिरिक्त भी कुछ पुस्तकें, पत्र, पत्रिकाएँ, लेख, ब्लॉग्स आदि से प्राप्त संबंधित साहित्य के अध्ययन से यह ज्ञात हुआ

है कि शीर्षक के बारे में आम मत यह है कि शीर्षक लघुकथा की विषय–वस्तु से सीधे आनुपातिक होता है। यह लघुकथा का आवश्यक तत्व है और विभिन्न गुणयुक्त है। लघुकथाकार चाहे तो एक या अधिक गुणों के अनुसार शीर्षक का चुनाव कर सकते हैं।

उपरोक्त के अध्ययन के पश्चात् लघुकथा के अन्य तत्वों की अपेक्षा शीर्षक पर कम ध्यान देने के कारण, शीर्षक के चुनाव में समसामयिक लघुकथाकारों के विचार आदि पर शोध में एक अनुसंधान अंतराल ज्ञात होता है, जो कि प्रस्तुत शोध कार्य की उपयोगिता को सिद्ध करता है।

शीर्षक पर लघुकथाकारों के विचार

इस शोध के अंतर्गत प्राप्त हुई रचनाओं में से खेमकरण सोमान की 'चौरानवे मिस्ड कॉल', डॉ. कुमारसम्भव जोशी की 'वह बड़ा हो चुका है', योगराज प्रभाकर की 'भारत भाग्य विधाता', अविञ्चल भटनागर की 'अष्टभुजाधारिणी', सतीश राठी की 'आटा और जिस्म', सरस दरबारी की 'ब्रह्मराक्षस', उषा भदौरिया की 'सिक्स्टी प्लस', कान्ता रॉय की 'विलुप्तता', पवन जैन की 'फाउंटेनपेन' सहित और भी कई रचनाओं के शीर्षक इस तरह से गढ़े गए हैं कि शीर्षक पर नज़र जाते ही रचना को पढ़ने की उत्सुकता बढ़ जाती है। हालांकि इस शोध में शीर्षक में केवल रोचकता ही नहीं, बल्कि अन्य गुणों यथा स्पष्ट, संतुलित, व्यंग्यधर्मी आदि को भी सम्मिलित किया गया है।

इस शोध में शीर्षक पर विचार के अंतर्गत कुछ ऐसे विचार प्राप्त हुए जिन्हें उद्धृत करना मैं आवश्यक समझता हूँ। वरिष्ठ लघुकथाकार योगराज प्रभाकर के अनुसार, ''शीर्षक किसी भी लघुकथा का प्रवेश द्वार होता है।'' यह वाक्य केवल लघुकथाओं पर ही नहीं बल्कि प्रत्येक साहित्यिक कृति जिसमें शीर्षक की अनिवार्यता होती है, पर लागू होता है। पाठक सबसे पहले शीर्षक ही को पढ़ता है। प्रभाकर जी ने मतदान के समय मतदाताओं के नकारात्मक और अतार्किक व्यवहार पर तंज़ करने हेतु ''भारत–भाग्य–विधाता'' नामक लघुकथा का सर्जन किया। हमारे राष्ट्रगीत की एक पंक्ति के शब्दों को लेकर भारत वर्ष के भाग्य बनाने का ले–देकर जो एक वोट देने का अधिकार हमारे पास है, उसका देश की बजाय केवल जाति, धर्म, समूह आदि के अनुसार प्रयोग में लेना कितना उचित है, यह इस लघुकथा में दर्शाया गया है। अविञ्चल भटनागर ने पौराणिक वार्ताओं को लेकर एक लघुकथा कही है, जिसका शीर्षक आपने ''अष्टभुजाधारिणी'' रखा। लघुकथा का मूल भाव इसमें समाहित है। दिव्या राकेश शर्मा की लघुकथा ''खनक'' शहीदों की पत्नियों की टूटी हुई चूड़ियों के सम्मान में है कि वे चूड़ियाँ इसलिए टूटीं, ताकि दूसरी चूड़ियों की खनक बरकरार रह सके। लघुकथा का गूढ़ भाव इस शीर्षक में समाहित है। सविता इन्द्र गुप्त अपनी लघुकथा ''बड़ा खतरा'' के लिए कहती हैं कि ''लघुकथा के कथ्य को सारगर्भित अर्थ देता हुआ, इसके अनकहे को सुस्पष्ट करता है। लघुकथा के समापन का अनकहा तब पाठक के आनंद को बहुगुणित कर देता है, जब वह अंत में शीर्षक पर एक नज़र डालता है।'' यह एक विशिष्ट विचार है कि जब लघुकथा का अंत होता है तब पाठक को शीर्षक की सार्थकता समझ में आती है। इसका अर्थ यह नहीं कि शीर्षक लघुकथा का प्रवेश द्वार नहीं रहा, वह तो उसका मूलभूत गुण है ही, साथ ही शीर्षक अंत में लघुकथा को एक ऊँचाई भी प्रदान कर रहा है। लकी राजीव की लघुकथा 'मर्द' शीर्षक के साथ ही पूर्ण हो रही है। विरेंदर 'वीर' मेहता की लघुकथा 'एक और एक ग्यारह' शारीरिक विषमता झेल रहे दो व्यक्तियों के विवाह–बंधन पर आधारित है। शेख़ शहज़ाद उस्मानी उनके द्वारा सर्जित लघुकथा 'देसी औरत' के शीर्षक को भारतीय नारी का प्रतिनिधित्व करता हुआ प्रतीकात्मक मानते हैं, वहीं कनक हरलालका ने लघुकथा 'भीड़' के शीर्षक को भीड़ के संवेदनहीन मनोविज्ञान का प्रतिनिधित्व करते हुए रखा है। ओमप्रकाश क्षत्रिय 'प्रकाश' ने अपने जीवन की एक समस्या से सामना करते हुए उसे हल किया था, बाद में एक समस्यापरक लघुकथा के सृजन के समय उन्हें वह समस्या याद आई और उन्होंने इस लघुकथा का शीर्षक भी 'समस्या' रखा। प्रतिभा श्रीवास्तव अंश का कहना है कि ''शीर्षक ऐसा होना चाहिए कि कथा का आभास हो''। उषा भदौरिया की लघुकथा में एक व्हाट्सएप्प समूह बनाया गया, जिसका नाम 'सिक्स्टी प्लस' रखा जाता है। उन्हें 'सिक्स्टी प्लस' से अधिक उपयुक्त कोई अन्य शीर्षक नहीं प्रतीत हुआ। हालांकि यह शीर्षक न केवल एक व्हाट्सएप्प समूह का वरन वरिष्ठ नागरिकों के एक समुदाय का भी उचित प्रतिनिधित्व कर रहा है। सविता मिश्र 'अक्षजा' अपनी लघुकथा 'सर्वधाम' के शीर्षक पर कहती हैं कि ''माता–पिता की खुशी और उनका सान्निध्य पाने से अधिक कौन–सा और धर्म बड़ा

हो सकता है, इसलिए इसका शीर्षक हमने ‘सर्वधाम’ रखा।'' ‘अनोखा अपराधी’ नामक लघुकथा के बारे में अविञ्चल भटनागर कहते हैं कि ''यह शीर्षक मुख्य पात्र के प्रति जिज्ञासा पैदा करता है और कहानी को रोचकता देता है।''

कभी ऐसा भी होता है कि शीर्षक मानकों की वैज्ञानिकता से परे होकर लघुकथाकार के मन और आत्मा से जुड़ा होता है। मृणाल आशुतोष ने ‘बछड़’ शीर्षक से एक लघुकथा कही है, जिसके लिए वे कहते हैं कि ''लघुकथा लिखते समय यही शीर्षक सूझा, किसी और विकल्प पर विचार ही नहीं किया।'' इसी प्रकार मालती बसंत ने भी अपनी लघुकथा ‘अदला–बदली’ के लिए यही कहा है कि ''यह लघुकथा लिखते समय शीर्षक स्वाभाविक रूप से दिमाग में आया।'' पूजा अग्निहोत्री भी अपनी लघुकथा ‘वंदे मातरम’ के प्रति यही विचार रखती हैं कि ''मेरे द्वारा चयनित शीर्षक मुझे सटीक और हृदयस्पर्शी लगा।''

अध्ययन के उद्देश्य

प्रमुख उद्देश्य

* लघुकथाओं के शीर्षक चयन के मूलभूत गुणों का अध्ययन करना।

सह–उद्देश्य

* यह जानना कि लघुकथाकारों द्वारा शीर्षक को महत्त्व दिया जा रहा है अथवा नहीं।
* लघुकथाकार शीर्षक चयन करने में किन बिन्दुओं का ध्यान रखते हैं, इसका विश्लेषण करना।
* लघुकथा के उचित शीर्षक चयन हेतु मुख्य बिन्दुओं का सुझाव प्राप्त करना।

परिकल्पनाएँ

लघुकथाओं और उनके शीर्षकों का तथा इससे संबंधित लेखों का अध्ययन करते समय यह ज्ञात होता है कि अधिकतर लघुकथाकार शीर्षक पर गंभीरता से विचार करते हैं। हालांकि, कई लघुकथाओं के शीर्षक चलताऊ भी प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त कई बार पत्र–पत्रिकाओं के संपादक शीर्षक को बदल देते हैं, जिससे कभी शीर्षक अच्छा, तो कभी अनुचित भी हो जाता है। लघुकथाकार शीर्षक को कितना महत्त्व देते हैं और वे लघुकथा के किन तत्वों और शीर्षक के किन गुणों पर सोच–विचार करते हैं, इसके परीक्षण हेतु निम्न परिकल्पनाओं का गठन किया गया :

1. लघुकथा के विभिन्न तत्व लघुकथा के शीर्षक को सीधे प्रभावित करते हैं।
   * लघुकथाकार शीर्षक को लघुकथा के मर्म से जोड़ रहे हैं।
   * लघुकथाकार शीर्षक चयन में विषय–वस्तु को महत्त्व दे रहे हैं।
   * शीर्षक को प्रतीकात्मक बनाने में लघुकथाकार कम समय दे रहे हैं।
   * लघुकथाकार शीर्षक चयन में व्यापक क्षेत्र को महत्त्व दे रहे हैं।
   * लघुकथाकार शीर्षक चयन में लघुकथा को ऊँचाई प्रदान करने को महत्त्व दे रहे हैं।
   * लघुकथाकार शीर्षक के लघुकथा के कथ्य के अनुसार चयन कर रहे हैं।
   * लघुकथाकार शीर्षक के लघुकथा में निहित संदेश के अनुसार चयन कर रहे हैं।
2. लघुकथाकार शीर्षक चयन में दो से अधिक गुणों पर विचार कर रहे हैं।

आंकड़ों का संग्रहण

प्राथमिक आंकड़े

प्राथमिक आंकड़ों का संग्रहण एक प्रश्नोत्तरी बना कर किया गया। शोध में प्रयुक्त इस उपकरण में कुल 13 प्रश्न सम्मिलित किए गए, जिनमें दो लघुकथाओं की भाषा, शीर्षक चयन करने का कारण और शीर्षक हेतु सोचे गए गुणों पर लघुकथाकारों के उत्तर मांगे गए।

इस शोध–पत्र में प्रतिदर्श हेतु 65 प्रतिभागियों से ऑनलाइन गूगल फ़ॉर्म के ज़रिये विचार प्राप्त किए गए। इस हेतु सिम्पल रेंडम सेंपल तकनीक का प्रयोग किया गया।

द्वितीयक आंकड़े

द्वितीयक आंकड़े विभिन्न पुस्तकों, लेखों, ब्लॉग्स, सोशल

मीडिया आदि से प्राप्त किए गए।

आंकड़ों का विश्लेषण

सर्वप्रथम प्रत्येक प्रतिभागी की दोनों लघुकथाओं के शीर्षक चयन करने के कारणों को अलग–अलग आरेख बनाकर निम्नानुसार विश्लेषित किया गया :

लघुकथा 1 : यह शीर्षक चयन करने का कारण

दो लघुकथाओं में से पहली लघुकथा के लिए पूछे गए प्रश्न कि यह शीर्षक चयन करने का कारण क्या है, के उत्तरों में से यह ज्ञात हुआ कि सबसे अधिक रचनाओं के लिए (49.2%) लघुकथाकारों ने शीर्षक को लघुकथा में निहित संदेश का प्रतिबिंब बताया, उसके बाद 47.7% रचनाओं के लिए लघुकथाकारों ने लघुकथा के कथ्य का प्रतिबिंब बनाने हेतु शीर्षक का चयन किया। 46.2% रचनाओं के लिए लघुकथाकारों ने शीर्षक को लघुकथा के अनुसार सार्थक कहा और इतने ही लघुकथाकारों ने उसे लघुकथा के मर्म को समझाता हुआ बताया। वहीं 41.5% रचनाओं के लिए लघुकथाकारों ने लघुकथा की विषयवस्तु का आभास कराते हुए माना।

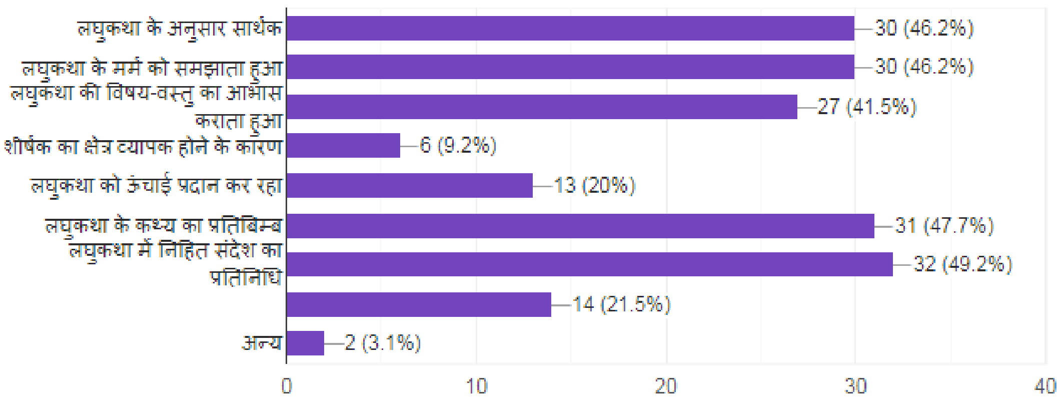

लघुकथा 2 : यह शीर्षक चयन करने का कारण

तत्पश्चात् दोनों लघुकथाओं के शीर्षक चयन करने के कारणों का योग किया, जिसके फलस्वरूप 130 लघुकथाओं के निम्न आंकड़े प्राप्त हुए :

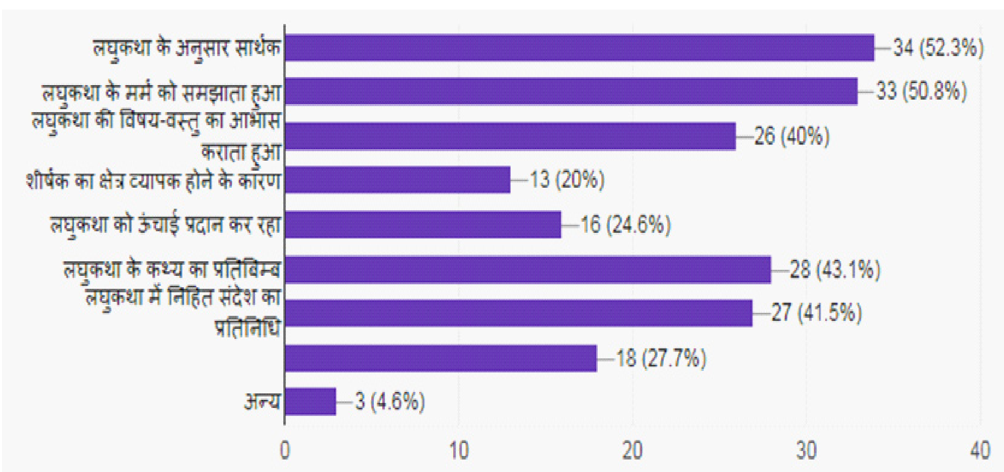

क्रम संख्या	शीर्षक चयन करने का कारण	संख्या	प्रतिशत
1	लघुकथा के अनुसार सार्थक	64	49.23
2	लघुकथा के मर्म को समझाता हुआ	63	48.46
3	लघुकथा की विषय–वस्तु का आभास कराता हुआ	53	40.77
4	शीर्षक का क्षेत्र व्यापक होने के कारण	19	14.62
5	लघुकथा को ऊंचाई प्रदान कर रहा	29	22.31
6	लघुकथा के कथ्य का प्रतिबिम्ब	59	45.38
7	लघुकथा में निहित संदेश का प्रतिनिधि	59	45.38
8	मुख्य पात्र के चरित्र का प्रतिनिधित्व करता हुआ	32	24.62
9	अन्य	5	3.85
	Total	383	

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट है कि लघुकथाकार शीर्षक को लघुकथा के मर्म से जोड़ रहे हैं, लघुकथाकार शीर्षक चयन में विषय–वस्तु को महत्त्व दे रहे हैं, लघुकथाकार शीर्षक को व्यापक क्षेत्र में रखने को महत्त्व नहीं दे रहे हैं, लघुकथाकार शीर्षक चयन में लघुकथा को ऊँचाई प्रदान करने को बहुत अधिक महत्त्व नहीं दे रहे हैं, अधिकतर लघुकथाकार शीर्षक को लघुकथा के कथ्य के अनुसार चयन कर रहे हैं, लघुकथाकार शीर्षक का, लघुकथा में निहित संदेश के अनुसार भी, चयन कर रहे हैं, हालाँकि पात्रों के चरित्र के अनुसार शीर्षक का चयन नहीं कर रहे। इस सारणी का रेखाचित्र निम्न है :

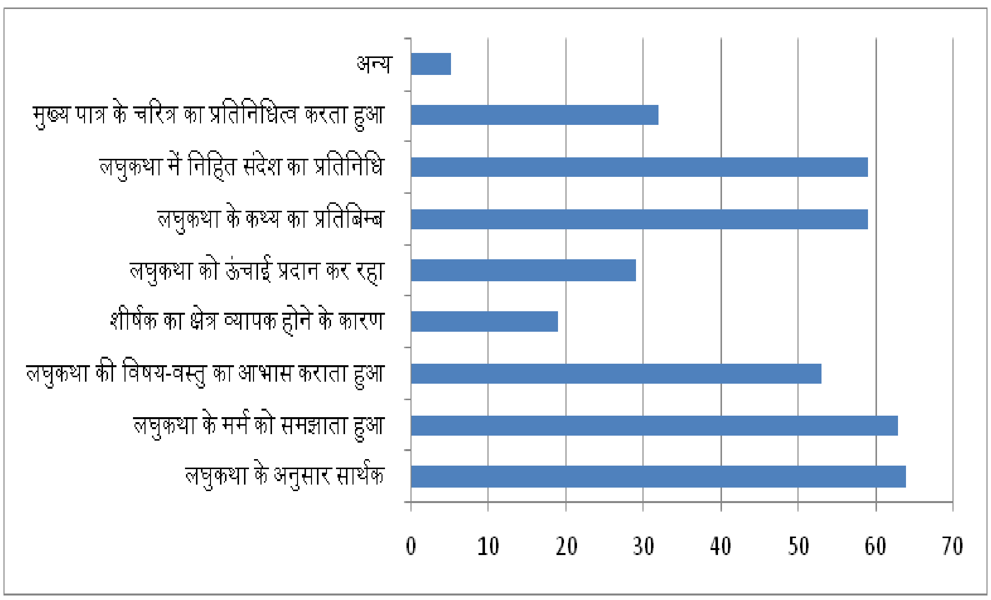

इसी प्रकार प्रत्येक लघुकथाकार की दोनों लघुकथाओं हेतु शीर्षक चयन करते समय सोचे गए शीर्षक के गुण निम्न प्रकार से प्राप्त हुए :

लघुकथा 1 : शीर्षक चयन करते समय सोचे गए गुण :

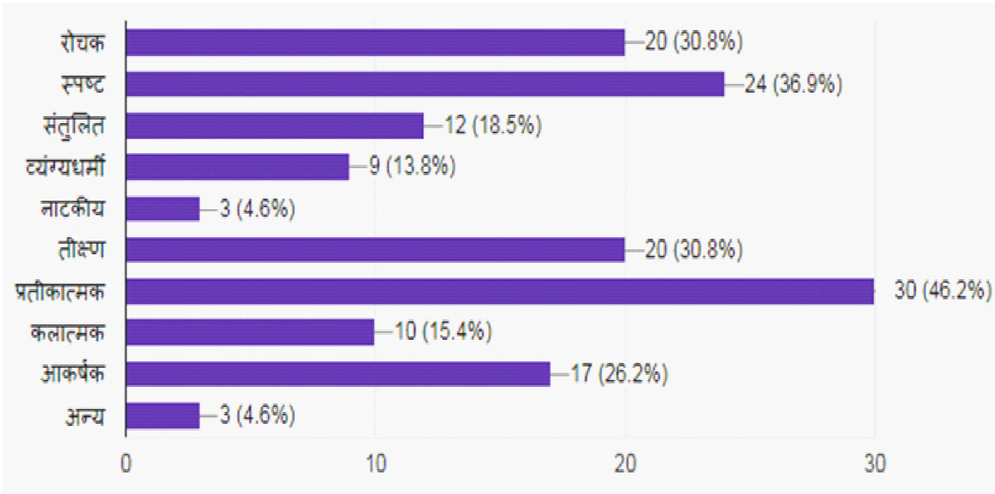

लघुकथा 2 : शीर्षक चयन करते समय सोचे गए गुणः

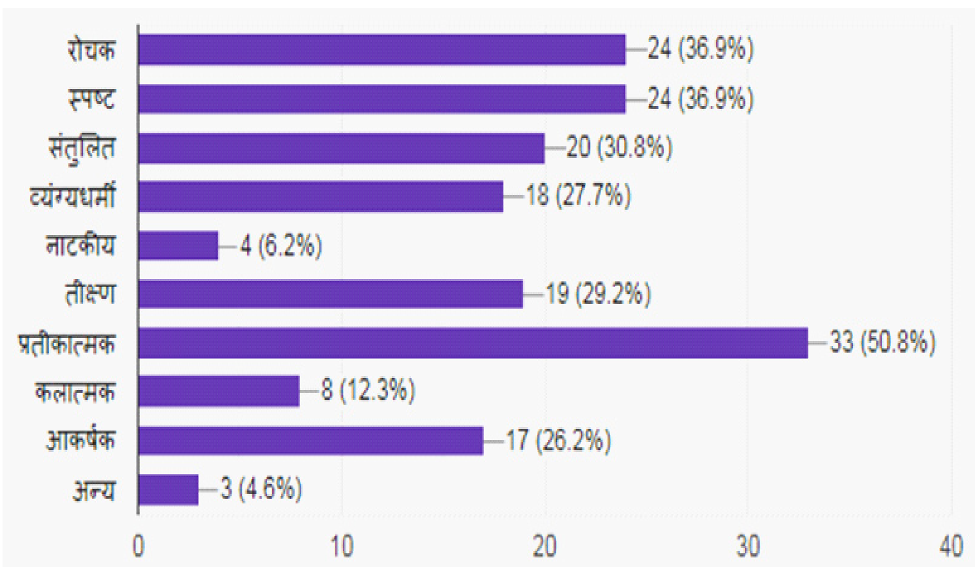

कुल मिलाकर 130 में से 57 (43.85%) लघुकथाओं में 1 ही गुण सोचा गया और बाकी 73 (56.16%) में एक से अधिक गुण सोचे गए। हालाँकि कोई बहुत अधिक अंतर नहीं है, लेकिन यह कहा जा सकता है कि अधिकतर रचनाओं में शीर्षक बनाते समय एक से अधिक गुण सोचे गए हैं। रेखाचित्र से स्पष्ट है कि इस समय लघुकथाकार शीर्षक के गुणों में सर्वाधिक महत्त्व प्रतीकात्मकता को दे रहे हैं और सबसे कम महत्त्व नाटकीयता को।

उपरोक्त अध्ययन एवं विश्लेषण से ज्ञात हुआ है कि लघुकथाकार शीर्षक को लघुकथा के अनुसार सार्थक, लघुकथा के मर्म को समझाता हुआ, लघुकथा की विषय–वस्तु का आभास कराता हुआ, लघुकथा के कथ्य का प्रतिबिम्ब, निहित संदेश का प्रतिनिधि तो बनाना चाहते हैं, लेकिन शीर्षक के व्यापक क्षेत्र, लघुकथा को ऊँचाई प्रदान करने और मुख्य पात्र के चरित्र का प्रतिनिधित्व करने पर कम ध्यान दे रहे हैं। इसका कारण लघुकथा का एकांगी स्वरूप और न्यून पात्र हो सकता है। भविष्य में शीर्षक की व्यापकता और पात्रों के चरित्र के अनुसार उसके चयन पर प्रयोग होंगे, यह संभावना है। फिलहाल शीर्षक चयन में कई लघुकथाओं में एक ही गुण पर ध्यान दिया जा रहा है, हालाँकि एक से अधिक गुणों पर ध्यान देने से शीर्षक का महत्त्व और भी बढ़ेगा। हालाँकि ऐसा नहीं है कि एक से अधिक गुणों पर ध्यान ही नहीं दिया जा रहा। अधिक प्रतिशत तो ऐसी ही रचनाओं का है, जिनके शीर्षक बनाते समय एक से अधिक गुणों पर ध्यान दिया गया।

भविष्य में इस शोध को आगे बढ़ाते हुए निम्न कार्य किए जा सकते हैं :

* लघुकथाकारों का लघुकथा लेखन के वर्षों के अनुसार वर्गीकरण कर आंकड़ों का विश्लेषण।
* लघुकथाओं के रचनाकाल के अनुसार लघुकथाकारों की शीर्षक रखने की प्रवृत्ति का विश्लेषण।
* सर्वे में प्राप्त आंकड़ों के अनुसार शीर्षक के विभिन्न गुणों का विस्तृत विश्लेषण।
* संपादकों द्वारा शीर्षक बदले जाने पर शीर्षक उचित हुआ अथवा नहीं इसका विश्लेषण।

संदर्भ :

1. योगराज प्रभाकर, 'लघुकथा विधाःतेवर और कलेवर', http://www.openbooksonline.com/forum/topics/5170231:Topic:637805 (last access on August 25, 2019)
2. डा. अशोक भाटिया, लघुकथाः लघुता में प्रभुता, http://www.set-umag.com/2016/11/Laghukatha-laghuta-me-prabhuta.html (Last accessed on August 27, 2019)
3. रामकुमार आत्रेय, सकारात्मक सोच की मार्मिक लघुकथाएँ, पड़ाव और पड़ताल – 15, दिशा प्रकाशन, ISBN: 978-93-84713-14-0, पृष्ठ 147–149
4. विवेक कुमार एवं नीलिमा शर्मा, मुट्ठी भर अक्षर, 2015, हिन्द–युग्म, नई दिल्ली, ISBN: 978-93-84419-14-1, पृष्ठ 8
5. भगीरथ, लघुकथा समीक्षा, संस्करणः 2018, FSP Media Publications, ISBN: 9781545723524, पृष्ठ 30, 80, 125
6. श्याम सुन्दर अग्रवाल, लघुकथा में शीर्षक का महत्त्व. http://laghu-katha.com (last access on August 12, 2019)
7. साक्षात्कारः समझ लघुकथा कीः बलराम अग्रवाल से जितेन्द्र जीतू की बातचीत, http://www.abhivyakti-hindi.org/snibandh/sakshat-kar/balram_jitu.htm (last access on August 15, 2019)
8. भगीरथ परिहार, हिंदी लघुकथा के सिद्धांत, 2018, Educreation Publishing, बिलासपुर, ISBN: 978-1-5457-1979-4, पृष्ठ 111
9. सुभाष नीरव, सृजन–यात्र ब्लॉग, http://srijanyatra.blogspot.com/2012/02/blog-post.html (last access on August 17, 2019)
10. सुकेश साहनी, कहानी का बीज रूप नहीं है लघुकथा, http://sahityakunj.net/entries/view/kahani-ka-beej-roop-nahin-hai-laghukatha (last access on August 12, 2019)
11. लघुकथा दुनिया ब्लॉग http://laghukathaduniya.blogspot.com (last access on August 29, 2019)
12. डॉ. मिथिलेशकुमारी मिश्र, लघुकथा का शीर्षक, http://satishraj-pushkarana.blogspot.com/2013/03/blog-post.html (last access on July 19, 2019)
13. देवी नागरानी, लघुकथा की जीवनी, http://www.swargvibha.in/aalekh/all_aalekh/ laghukatha_jeewani.html (last access on August 19, 2019)
14. डॉ. शकुन्तला किरण, हिंदी लघुकथा, संस्करणः 2010, संकेत प्रकाशन, अजमेर
15. आकुल, https://saannidhya.blogspot.com/p/blog–पृष्ठ.html (Last accessed on August 27, 2019)
16. डॉ. चंद्रेश कुमार छतलानी, लघुकथा प्रवाह और प्रभाव, लघुकथा मंजूषा 3 : (खंड–1), 2019 व जन साहित्य पीठ, नई दिल्ली, पृष्ठ 45

17. अंजलि शर्मा, हिंदी लघुकथा का विकास, 2007, सताक्षी प्रकाशन, रायपुर
18. कुमार नरेंद्र, सांझा हाशिया, 1990, परुला प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 13
19. रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु', हिन्दी लघुकथाः बढ़ते चरण, http://sahityakunj.net/entries/view/hindi-laghukatha-badate-charan (Last accessed on July 08, 2019)
20. संजीव वर्मा 'सलिल', लघुकथा : एक परिचय, http://yugmanas.blogspot.com/2013/11/blog-post_1079.html (Last accessed on August 2, 2019)
21. डॉ. हेमलता शर्मा, हिंदी लघुकथाः स्वरुप, परिभाषा और तत्व, Journal of Advances and Scholarly Research in Allied Education Vol-I Issue-III April 2011, ISSN: 2230-7540, Available at http://ipublisher.in/File_upload/15639_83032641.pdf (Last accessed on June 22, 2019)
22. डॉ. जितेंद्र जीतू एवं डॉ.नीरज सुधांशु, अपने–अपने क्षितिज, संस्करणः 2017, वनिका पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, ISBN: 978-81-932852-8-2
23. डॉ. अशोक भाटिया, 'परिंदे पूछते हैं', लघुकथा शोध केन्द्र, भोपाल
24. http://laghukathaduniya.blogspot.com/2019/05/blog-post_15.html
25. बलराम अग्रवाल, परिंदों के दरमियां, साक्षी प्रकाशन, संस्करणः 2018, ISBN: 978-93-84456-63-4
26. कल्पना भट्ट, लघुकथा संवाद, संस्करणः 2019, दिशा प्रकाशन, नई दिल्ली, ISBN: 978-93-84713-42-3
27. खेमकरण 'सोमन', पुस्तक समीक्षाः आस–पास से गुजरते हुए, संपादकः सुश्री ज्योत्स्ना 'कपिल' एवं डॉ. उपमा शर्मा
28. http://www.rsaudr.org/show_artical.php?&id=309 (Last access on August 29, 2019)
29. https://laghukatha.com/2018/10/01/भीतर–का–सच (Last access on August 21, 2019)
30. डॉ.सतीशराज पुष्करणा, हिन्दी–लघुकथाः संरचना और मूल्यांकन, अध्ययन कक्ष (laghukatha.com) URL: https://laghukatha.com/2017/09/01/हिन्दी–लघुकथा–संरचना–और–म (Last access on August 21, 2019)

chandresh.chhatlani@gmail.com

तुलसीदास जी की भाषा सम्पूर्ण है, अमर है। इस भाषा में हम अपने विचार प्रकट न कर सके तो दोष हमारा ही है।

— महात्मा गांधी

प्रवासी हिंदी साहित्य की अपेक्षाएँ

– डॉ. विनय सितिजोरी
काँ–फ्रूक्रो, मॉरीशस

प्रवासी हिंदी साहित्य की चर्चा या उसकी अपेक्षाओं की बात करने से पहले उसके ऐतिहासिक परिवेश को जानना और समझना आवश्यक हो जाता है। अन्यथा वर्तमान को समझना कठिन होगा विशेषकर गिरमिटिया पूर्वजों की उन स्थितियों और परिस्थितियों को भी जिनसे वर्षों तक वे जूझते रहे। इसका तनिक भी यह मतलब नहीं कि यहाँ अतीत को गौरवान्वित करने की बात है, बल्कि बात है देश और समय की याददाश्त की। दो सौ साल पहले छलावे में आए भारतीयों को जिन परिस्थितियों में अपनी जन्मभूमि छोड़कर पराई ज़मीन पर अपने को स्थापित करना था, वह स्थिति क्रूरता तथा दारुण यातनाओं से भरी हुई थी, जो किसी यातना शिविर से कम दर्दनाक नहीं थी। एक बेहतर जीवन का सपना देखते हुए एक बदतर ज़िंदगी को पा लेना जो दासता से कम नहीं, कितना बड़ा अभिशाप रहा होगा! वह स्थिति जो पीढ़ी दर पीढ़ी तक अपना असर बनाए रही। बदन पर बरसे कोड़े और बाँसों की बौछारों को तो भुलाया जा सका, लेकिन उस मानसिक यातनाओं का दर्द मिटना आसान नहीं था। भारतीय गिरमिटिया मज़दूर जहाँ भी पहुँचे स्थिति लगभग वही थी। मॉरीशस, त्रिनिडाड, फ़िजी, गयाना, सूरीनाम हर जगह गन्ने के खेतों में मज़दूर अपने पसीने की बूंदों के साथ खून की बूंदों को भी बोते रहे। ऐसा नहीं होता तो वे चट्टानों पर गन्ने उगाकर देश के शक्कर को सफ़ेद सोना नहीं बना पाते। पत्थर के नीचे से न सही, जिसका छलावा उन भोले–भाले मज़दूरों को दिया गया था, पर छलावे को सत्य में परिवर्तित कर पूर्वजों ने अपने–अपने नए देश को समृद्धि दी।

जहाँ भी भारतीय प्रवासी पहुँचे, चाहे बाद में भी जैसे कि दक्षिण अफ़्रीका, हॉलैंड, इंग्लैंड, अमेरिका हर जगह घोर परिश्रम, सहनशीलता तथा संघर्षों से कायापलट करते रहे। इसीलिए इन प्रवासियों का साहित्य विशेषकर इनके हिंदी रचनाकार अपने वर्तमान के साथ अपने भविष्य तथा अतीत की याद्दाश्त (मेमोरी) को लेकर चले। अभिव्यक्ति की छटपटाहट के साथ पहले पहल श्री रामचरितमानस जैसे कुछ ग्रंथों से बल पाकर मौखिक लोक गीतों और लोक कथाओं का सिलसिला शुरू हुआ, फिर भजन–कीर्तन, तीज–त्योहार, रामलीला, नाटक जैसी अभिव्यक्तियों के साथ संस्कृति तथा हिंदी का प्रचार–प्रसार शुरू हुआ। एक बार जो शुरू हुआ फिर तो कारवाँ चलता रहा। हस्तलिखित रचनाएँ गाँव–गाँव की बैठकाओं में पहुँचती रही और वक्त के तकाज़े पर मौलिक कविताएँ, कहानियाँ, नाटक, लेख, निबंध लिखे जाने लगे। यह रचनात्मक यात्रा अपने में भावुकता कुछ अधिक ही मात्रा में लिए हुई थी।

पत्र–पत्रिकाओं का युग शुरू हुआ और रचनाओं के प्रकाशन शुरू हुए। सभी साहित्यिक विधाओं के बाद उपन्यास का युग आया। विरासत में प्रवासी लेखकों को लोक साहित्य, परम्परा, संस्कृति तथा संघर्ष मिले थे। समस्याएँ प्रायः एक जैसी थी, उपलब्धियाँ भी, इसलिए प्रवासी साहित्य को हर हालत में अपनी एक अलग पहचान के साथ सामने आना था। भारत के साहित्यिक स्वर को अपनाते हुए भी उसे भिन्न होना था। यही कारण है कि प्रवासी साहित्य भारतीय साहित्य के साथ कंधे–से–कंधा मिलाकर चल सकने की कामना के साथ अपनी अस्मिता विशेष को भी बरकरार रखने का हकदार था। प्रवासी हिंदी साहित्य का प्रमुख स्वर वही है, जो विश्व साहित्य या भारतीय साहित्य का रहा है। टूटते जा रहे इन्सानी रिश्तों की चिंता, सामाजिक, रा. जनीतिक, धार्मिक तथा आर्थिक विसंगतियों की पीड़ा, चकाचौंध रोशनी के बीच धुंधले में खो रहे मूल्यों की तलाश, आदमी और आदमी के बीच की बढ़ रही दरार और समाज तथा पूंजीपति शक्ति द्वारा पैदा किए जा रहे अंतर से आतंकित आम आदमी। फिर भी प्रवासी हिंदी साहित्य विशेषकर मॉरीशस का हिंदी साहित्य अपनी एक विशेष पहचान बनाये रखा। मॉरीशस के रचनाकार आज भी नचिकेता और अर्जुन की परम्परा का निर्वाह करते हुए समाज, सत्ता तथा भगवान और यमराज से भी प्रश्न करने के अपने अधिकार को बरकरार बनाए हुए हैं। इनकी रचनाओं में, चाहे वह कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास या अन्य विधाएँ क्यों न हो, पूर्वजों के संघर्ष, उनकी यातनाएँ, उनके संकल्प, उनकी

जिजीविषा के साथ–ही–साथ आज की सारी सुविधाओं से उभर रही असुविधाएँ, प्रगति के बावजूद पिछड़ेपन का एहसास, सांस्कृतिक आक्रमण, आज़ादी का संघर्ष, विदेशी और आयाती रोशनी की चकाचौंध, दूसरी आज़ादी की छटपटाहट, स्वर्णमृग हासिल कर पाने का जुनून, ये सारी विसंगतियाँ प्रतिबद्ध लेखकों को झकझोर रही हैं। पूंजीपति शक्ति से जूझकर आज़ादी का अभियान चला और हिंदी में लिखनेवालों में एक नई चेतना आई। आज़ादी के बाद मॉरीशस के सामंती साहित्य की अहम भूमिका को याद न करना असम्भव है, क्योंकि संख्या के स्तर पर वह सभी भारतीय प्रवासी देशों से आगे तो है ही और सम्भवतः साहित्यिक स्तर के हिसाब से भी। मॉरीशस हिंदी साहित्य का एक दूसरा कीर्तिमान यह भी है कि फ्रेंच वर्चस्व और अंग्रेज़ी राजभाषा संरक्षण के बावजूद इस द्वीप में हिंदी पुस्तकें अंग्रेज़ी और फ्रेंच की तुलना में दोगुनी संख्या में छपती रही हैं।

प्रवासी हिंदी साहित्य जहाँ भी रचा गया पहले तो वह भोजपुरी का राग अपने में लिए रहा इसलिए लोक गीतों और लोक कहानियों तथा लोक नाटकों के द्वारा उसने उस वीरान जंगल को काटा और फिर वक्त के साथ हिंदी के प्रचार–प्रसार को गति देने के बाद एक पगडंडी बनी, रास्ता बना और आज प्रवासी हिंदी लेखक मॉरीशस, इंग्लैंड, फ़िजी, अमेरिका, होलैंड, सूरीनाम, त्रिनिडाड आदि देशों से एक आम सड़क और कुछ हद तक एक राजमार्ग पर चलते नज़र आ रहे हैं।

भारतीय साहित्यिक स्वर से प्रभावित होकर भी इन प्रवासियों के साहित्य अपनी नयी धरती के साथ जुड़े रहे। विश्व भर का हिंदी साहित्य आज अपने–अपने देश की धाराओं को आत्मसात् करके अपने–अपने सत्य को पाठकों के सामने रख रहे हैं। मॉरीशस तथा बाकी भारतीय वंशजों का साहित्यिक स्वर पहले अपने देश के स्वर हैं, अपनी जन्मभूमि के सत्य हैं। अपनी अस्मिता को बनाए हुए भी यह प्रवासी साहित्य भारतीय तथा विश्व संघर्ष, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक सत्य से एकदम भिन्न भी नहीं, क्योंकि इन प्रवासी साहित्यकारों ने यह माना कि विश्व में खुशियाँ अलग–अलग हो सकती हैं, पर पीड़ा प्रायः हर देश की एक जैसी होती है और यह बिंदु है, जहाँ प्रवासी हिंदी साहित्य को विश्व साहित्य का स्वर मिल पाया।

यानी कि प्रवासी हिंदी साहित्य में मॉरीशस का अपना जो निजी स्वर है वह अतीत को आत्मसात किए हुए भी वर्तमान की समस्याओं की ही स्वर बुलंदी है। आज से कोई 50 साल पहले या यूँ कहें कि मॉरीशस की आज़ादी से पहले मॉरीशस का हिंदी साहित्य जो कि महज़ एक गुनगुनाहट की तरह शुरू हुआ था, आज एक ओजपूर्ण स्वर बनकर केवल भारत में ही नहीं बल्कि विश्व भर में गूंज रहा है। मॉरीशस के साथ भारत को भी इस बात का फ़क्र होना चाहिए कि मॉरीशस का हिंदी उपन्यास फ्रेंच में अनूदित और प्रकाशित होकर आज फ़्रांस तथा कोई 75 फ्रेंच भाषी देशों में पढ़ा और सराहा जा रहा है। इतिहास में पहली बार फ़्रांस टाईम न्यूज़वीक की समकक्ष प्रतिष्ठित पत्रिका ''ले नुवेल ओबज़ेरवातेरष' तक ने इस उपन्यास की बड़ी ही कलात्मक ढंग से सराहना की है। इस हिंदी किताब का अनुवाद खुद फ़्रांस की एक चर्चित उपन्यासकार इज़ाबेल जारी ने, केसन बधु के सहयोग से किया और इसकी भूमिका फ़्रांस के प्रतिष्ठित लेखक जॉ मारी लेक्लेज़्यो ने बड़े ही सुंदर और दमदार लफ़्ज़ों में लिखी है। भारतीय प्रवासियों के जिए गए इतिहास का यह विश्व में प्रथम त्रयी कक्षा है, जो अमानवीय स्थितियों के बीच मज़दूरों की संघर्ष गाथा सुनाती है।

मॉरीशसीय त्रयी कथा 200 वर्ष की खामोशी को तोड़ने में सफल रही और हिंदी साहित्य के अंतरराष्ट्रीय स्वरूप को एक नया आयाम प्रदान किया।

प्रवासी हिंदी साहित्य निधि को मॉरीशस ने अब तक 300 से अधिक साहित्यिक किताबें दी हैं, जिनमें कविता की 150 पुस्तकें हैं, 65 उपन्यास, 35 निबंध–संग्रह, कोई 30 कहानी–संग्रह और इतने ही नाटक भी। इन रचनाओं के कुछ प्रमुख लेखकों में ये नाम आते हैं : सोमदत्त बखोरी, ब्रजेन्द्र भगत, डॉ. चिंतामणि, रामदेव धुरंधर, पूजानंद नेमा, बृजमोहन, सुमती बुधन, डॉ. जगासिंह, भानुमति नागदान, हेमराज सुन्दर और अस्तानंद सदासिंह। इसी तरह इंग्लैंड, अमेरिका, फ़िजी और अन्य प्रवासी देशों के चन्द लेखक भी इस रचना–यात्रा में शामिल हैं, जिनके नाम और रचनाओं से हम लोग परिचित हैं।

इन प्रवासी हिंदी लेखकों में एक बात विशेष है। ये रचनाकार अभी तक वादों और नारों के प्रदूषण से प्रदूषित नहीं हुए हैं। इनके लिए शोषण और अराजकता चाहे दाँयी ओर से या बाँयी ओर से, वे अराजकता और शोषण ही होते हैं। और इन्होंने चित्र बनाने से पहले फ्रेम नहीं बनाया।

ये प्रवासी साहित्यकार अपनी संस्कृति भूमि भारत से बहुत

अधिक अपेक्षाएँ रखते हैं। कल फ़्रांस के पास कोई 20–25 देश थे, जिन्हें वे फ़्रेंच भाषी देश मानकर उनकी सृजनात्मकता में उनकी जमकर मदद करते थे और फ़्रांस के पास यह संख्या दो गुनी से भी अधिक हो गयी है। इसलिए कि फ़्रांस को अपनी भाषा से बेहद प्यार है, उस पर अगाध गर्व है। भारतीय प्रवासी लेखक भारत से भी यही उम्मीद रखते हैं कि वह भी अपने भाषा–प्रेम और स्वाभिमान को बढ़ाए और विश्व भर में अपनी राष्ट्रभाषा से जुड़े हुए समर्पित रचनाकारों और उनके साहित्य को मान्यता दे। उनके साहित्य को हिंदी साहित्य का अभिन्न अंग माने।

प्रवासी हिंदी साहित्य भी अंग्रेज़ी, फ्रेंच तथा अन्य विश्व भाषाओं की तरह अधिक समृद्ध हो सके इसलिए यह स्वाभाविक ही नहीं, बल्कि प्रवासियों का यह हक भी बनता है कि भारत से चन्द अपेक्षाएँ रखें।

वे अपेक्षाएँ हैं :

1. प्रवासी देशों के भारतीय उच्चायोगों के द्वारा हिंदी पत्र–पत्रिकाओं का हिंदी संस्थानों में सही वितरण हो। भारत से छपने वाली नयी पुस्तकें भी विश्व हिंदी जगत को उपलब्ध कराएँ।
2. भारत सरकार की ओर से प्रवासी हिंदी लेखकों की पुस्तकों की खरीदारी की एक ठोस योजना बने और उन प्रतियों को भारत के सभी पुस्तकालयों में स्थान मिले।
3. प्रवासी हिंदी रचनाकारों और भारतीय रचनाकारों के बीच आदान–प्रदान की व्यवस्था की जाए। लेखन कार्यशाला के आयोजन हो।
4. भारतीय प्रवासियों पर तथा उनकी पुस्तकों पर टी.वी. धारावाहिक बनाई जाए, ताकि विश्व को प्रवासी संघर्ष गाथा तथा हिंदी साहित्य की सही पहचान हो।
5. भारत की हिंदी संस्थाएँ (सरकारी, गैरसरकारी) प्रवासी हिंदी रचनाकारों को भी राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर होने वाले कवि–सम्मेलनों साहित्यिक परिचर्चाओं तथा पुस्तक मेले में शामिल होने का अवसर प्रदान करे।
6. दूरदर्शन पर एक (साप्ताहिक या मासिक) प्रवासी हिंदी साहित्य–पत्रिका की नींव डाली जाए।
7. नवोदित प्रवासी हिंदी लेखक पुरस्कार की पहल हो। राशि न सही पदक ही सही।
8. भारत में प्रवासी हिंदी साहित्य का एक मंच और एक 'पुस्तक संघ' हो।
9. विश्व हिंदी सम्मेलन तथा प्रवासी दिवस की तरह 'विश्व प्रवासी हिंदी साहित्य दिवस' भी आयोजित हो।
10. प्रवासी हिंदी साहित्य को प्रोत्साहित करने के लिए वैज्ञानिक तरीके ढूँढे जाएँ तथा उसे इंटरनेट में शामिल किया जाए।
11. भारत के विश्वविद्यालयों में जिस तरह मॉरीशस की एकाध पुस्तकें पाठ्यक्रम में रखी गयीं, उसी तरह अन्य प्रवासी लेखकों की रचनाओं को भी यह स्थान मिले।
12. मॉरीशस के विश्व हिंदी सचिवालय में 'विश्व प्रवासी हिंदी साहित्य' का विभाग विशेष होना अति आवश्यक है, जो सभी संबद्ध देशों के बीच साहित्यिक–सांस्कृतिक पुल का काम कर सके।

प्रवासी हिंदी साहित्य भारत के साहित्यिक जगत से किसी तरह की छूट की माँग नहीं करता, लेकिन रूढ़िवाद के नज़रिये को बदलने की उम्मीद तो कर सकता है। छोटा देश भी बड़ा साहित्य दे सकता है, जिसके प्रमाण है अलजेरीया का आलबेर कामू, सेनेगल का लेओपोल सेंगोर, एमे सेजेर, मॉरीशस का माल्कोम दे शाज़ाल, त्रिनिडाड का पी.एस. नैपोल। बेशुमार हैं इस फ़ेहरिस्त में। प्रवासी हिंदी साहित्य की अपनी खामियाँ हो सकती हैं, पर उनकी अपनी ख़ासियत भी तो है। उनके अपने सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक संघर्ष, जो भिन्न होते हुए अपनी अलग मौलिकता रखता है। इसलिए यह अपेक्षा तो करनी ही पड़ेगी कि प्रवासी हिंदी साहित्य के मूल्यांकन के मापडंड उस पैमाने से किया जाए जो वादों से मुक्त हो और जिससे कलात्मकता की सादगी की विशेषता को परखा जा सके। ठीक उसी तरह जैसा कि अन्य भारतीय भाषाओं के लिए किया जाता रहा है।

प्रवासी हिंदी साहित्य का अपना अलग तेवर है, अलग स्वर है, जिसके साथ वह समझौता नहीं कर सकता। चूँकि वह वादों से मुक्त साहित्य है, इसलिए खेमेबाज़ी का ध्वज थामे उसका सही मूल्यांकन नितांत असम्भव है। ऐसा हर जगह होता रहा है। क्नूट हेमसून तथा जॉन स्टनबैक के साथ तो नोबल पुरस्कार के बाद

भी वे गुटबंदी तंत्र से ग्रस्त रहे। विल्यम फ़ोल्कनोर की विशेषता माल्कोम कावले को बताना पड़ा।

अब जहाँ तक प्रकाशन का प्रश्न है, प्रवासी साहित्यकारों की आज भी यह एक बहुत बड़ी समस्या बनी हुई है। अच्छी पांडुलिपियों के साथ अगर स्थापित नाम जुड़े नहीं होते, तो पांडुलिपि पढ़ी तक नहीं जाती। माईकेल शलोकोव के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ था। ''क्वायेट फ़्लोज़ ज़ डॉन'' की पांडुलिपि कई वर्षों तक प्रकाशक की दराज़ में बन्द रह गयी थी। बहुत लम्बे समय के बाद प्रकाशित होते ही शलोकोव नोबल पुरस्कार का हकदार बन गया। कुछ लोग लेखन को कला और रचनात्मकता से कहीं अधिक बौद्धिकता और विद्वता के पैमाने से मापते हैं। उसे गुटबंदी की तराज़ू पर तौलते हैं। ग़नीमत है कि वाल्मिकि, कालिदास, तुलसी, सूर, कबीर और मीरा इस मापदंड के शिकार नहीं हुए। शलोकोव के धैर्य से प्रवासी हिंदी लेखकों को अपने में धैर्य की शक्ति लानी होगी। रातों रात लेखक बन जाने की जल्दबाज़ी से अपने को बचाए रखना होगा। मॉरीशस का तो कलम से कहीं अधिक भाग्य प्रबल था, जिसे पहले प्रकाशक भारत का श्रेष्ठतम प्रकाशक के रूप में मिला। और आज भी यह संबंध नयी दिल्ली के सभी प्रतिष्ठित प्रकाशकों से है। मुझे विश्वास है कि प्रवासी हिंदी लेखकों को तथा उनकी रचनाओं को चन्द स्थापित प्रवासी लेखकों की तरह प्रकाशन और मान्यता दोनों मिले। ये उन्हें रियायत करके नहीं दिए जाएँगे, बल्कि उनकी रचनाएँ अपनी सशक्तता के कारण मान्यता लेकर रहेंगी।

भारत के भूतपूर्व प्रधान मंत्री डॉ. मनमोहनसिंह जब विधान सभा में अपने प्रथम भाषण के दौरान अपना सम्पूर्ण वक्तव्य हिंदी में करते हुए प्रवासियों पर विशेष ध्यान देने की बात कर सकते हैं, तो फिर भारत की सांस्कृतिक–साहित्यिक संस्थाओं को भी इस मुद्दे पर और भी गम्भीरता के साथ सोचना चाहिए। आज साहित्य अकादमी की इस पहल से उम्मीद है कि और भी वातायन खुलेंगे। हम प्रवासी अपने–अपने देशों के भारतीय उच्चायोगों के प्रति बड़े निष्ठावान रहे हैं। लेकिन कुछ स्थानों पर हिंदी और हिंदी साहित्य के प्रति उनके रवैये से हमें प्रायः दुखी और हताश होना पड़ता है।

प्रवासी हिंदी लेखक अंग्रेज़ी और फ्रेंच में लिखकर अधिक धन और प्रसिद्धि पा सकते हैं, पर वे महज़ इन दो बातों के लिए हिंदी में नहीं लिखते। वे अगर पूरे आत्मविश्वास के साथ हिंदी में सृजन करते हैं तो दो बातों के लिए। एक तो यह है कि उनकी धमनियों में हिंदी बहती है और दूसरी बात यह है कि वे अपने पूर्वजों के ऋण को किस्तों में चुका रहे हैं। हम प्रवासी भारत के अंग्रेज़ी तथा अन्य भाषाओं के साहित्य को भी बड़े चाव से पढ़ते हैं, लेकिन वह भारत का हिंदी साहित्य ही है जो हमें अभिभूत करके रचना की प्रेरणा देता है। इसका प्रमाण है आज हमारे सामने प्रवास में जी रहे हिंदी साहित्य के ये सेनानी। इन तमाम देशों के लेखक अपने समाज तथा अपने समय के कसैले यथार्थ के साथ–साथ सत्ता के शिकंजों में जकड़ी साँसों की धड़कनें और चीख हैं, जिन्हें अलग–अलग कोणों से लेखकों ने समेटा है। प्रवासी हिंदी साहित्य भी असहाय, लाचार तथा शोषित जनों की जनवाणी है।

मैं महाकवि कालिदास की एक बात को अपने ढंग से कहने की गुस्ताख़ी करने जा रहा हूँ। सभी भारतीय रचनाएँ इसलिए सशक्त नहीं क्योंकि वे भारतीय हैं और सभी प्रवासी रचनाएँ इसलिए कमज़ोर नहीं कि वे प्रवासी हैं।

एक अंतिम अपेक्षा अब वक्त का तकाज़ा है कि ठीक फ़्रांकोफ़ोन यानी कि फ्रेंच भाषी देशों की तरह प्रवासी हिंदी भाषी भी एक सूत्र में बंधे। हमारा अपना एक अंतरराष्ट्रीय मंच हो और हम एक विश्व साहित्यिक शक्ति के रूप में अपने स्वर को विश्व भर में प्रतिध्वनित कर सकें, जिसकी पहल की जा चुकी है।

vinayseeteejory@gmail.com

वैश्विक हिंदी और भारतीय संस्कृति

– प्रो. सुशील कुमार शर्मा
मिज़ोरम, भारत

दोनों सर्वथा पृथक पद हैं 'वैश्विक हिंदी' पद हिंदी की विश्व स्तर पर दशा और दिशा को व्यंजित करता है। 'भारतीय संस्कृति' उत्तर पद है। तात्पर्य यह कि हिंदी भाषा की व्यंजना शक्ति विश्व स्तर पर इतनी तीव्र हो रही है कि उसमें भारतीय संस्कृति की गौरवशाली परम्परा को प्रस्तुत करने की सामर्थ्य प्राप्त हो चुकी है।

इस तथ्य को स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए कि हिंदी का वर्तमान स्वरूप कोई अधिक प्राचीन नहीं है। इसके मानक रूप को स्वीकार किए हुए अभी लगभग एक शताब्दी का समय ही व्यतीत हुआ है। पर हिंदी का अस्तित्व लगभग एक हज़ार वर्ष प्राचीन है। अपनी क्षेत्रीय बोलियों के द्वारा हिंदी के साहित्य–सृजन का कार्य होता रहा है। हिंदी के अस्तित्व में आने के पूर्व संस्कृत ही देश की भाषायी निधि थी। इसी निधि से हिंदी का उदय शनैः–शनैः हुआ। लगभग ग्यारहवीं–बारहवीं शताब्दी में हिंदी का स्वरूप बनने लगा था, पर यह स्वरूप प्राकृत तथा अपभ्रंश से आवेष्टित था। उन्नीसवीं शताब्दी तक आते–आते इसकी स्पष्टता निखर आयी, परंतु लिपि और लेखन में एकरूपता न थी। राजस्थानी, हरियाणवी, ब्रज, अवधी, मालवी, बुंदेली जैसे क्षेत्रीय रूपों का बाहुल्य था।

किसी भी भाषा का विकास दो प्रमुख बिंदुओं पर निर्भर करता है – उसका विपुल और समृद्ध साहित्य एवं बोलने वालों की संख्या। इनमें दूसरा बिंदु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत, साहित्य की दृष्टि से समृद्ध भाषा है, परंतु व्यावहारिक दृष्टि से वह सफल न हो सकी, परिणामतः आज उसका अस्तित्व ही प्रश्न चिह्न के घेरे में है। ब्रज और राजस्थानी भी साहित्य की दृष्टि से समृद्ध भाषाएँ हैं, परन्तु वे भी क्षेत्र विशेष में संकुचित होकर रह गयीं और क्षेत्र विशेष में व्यवहृत होने वाली खड़ी बोली हिंदी के नाम को धन्य कर राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर समादृत हो चुकी है।

हिंदी एक भाषा ही नहीं है, अपितु भारतीय संस्कृति का दर्पण भी है। ब्रिटेन के डॉ. मैक्ग्रेगर हिंदी के महत्त्व को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं कि – 'संसार की समृद्ध भाषाओं में हिंदी की गणना है। भारत को समझने के लिए हिंदी को समझना अनिवार्य है। बिना हिंदी को जाने भारत की संस्कृति को नहीं समझा जा सकता। हिंदी का महत्त्व इसलिए और भी बढ़ गया है कि आज भारत शिक्षा, उद्योग और तकनीक की दृष्टि से संसार का अग्रणी देश है। इस तथ्य को इन आंकड़ों के द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है कि इस विशाल देश सहित विश्व के लगभग 133 देशों के 85 करोड़ लोग हिंदी बोलते हैं, समझते हैं, उसमें साहित्य सृजन करते हैं और हिंदी में कार्य करते हैं। हिंदी वैश्विक भाषाओं में दूसरे स्थान पर है। भारत के प्रांगण में क्रीड़ारत हिंदी को यदि अनदेखा कर भी दें, तो इसका चुम्बकीय आकर्षण पाकिस्तान, बांग्लादेश, नेपाल, सूरीनाम, फ़िजी, मॉरीशस आदि देशों तक विस्तारित है। विश्व के 150 से अधिक विश्वविद्यालयों में हिंदी का अध्ययन–अध्यापन कराया जाता है। 150 से अधिक देशों में निवासरत प्रवासी भारतीयों की संपर्क भाषा हिंदी है। इन प्रवासी भारतीयों के हिंदी प्रेम के कारण भी हिंदी का प्रचार–प्रसार विश्व में हो रहा है।'[1]

डॉ. धीरज भाई वणकर ने अत्यन्त सटीक लिखा है कि – 'बड़ी तेज़ी से विदेशों में हिंदी दौड़ी–दौड़ी जा रही है। वे लोग बड़े चाव एवं प्यार से हिंदी का स्वागत एवं सत्कार कर रहे हैं। अगर कोई अपरिचित व्यक्ति हमारे बच्चों का, हमारे संस्कारों का प्यार से स्वागत कर रहा है, तो उसके माता–पिता तथा स्वागतार्थ व्यक्ति दोनों को अच्छे ही लगते हैं। हम लोग तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' भावना को मानने वाले हैं। यही भावना हिंदी में है। हिंदी हमारी संस्कृति का पर्याय है। इसलिए विश्व के सभी देश अपनी संस्कृति को संभाल कर भी हिंदी को अपनाने का स्तुत्य कार्य कर रहे हैं। यह स्वैच्छा का सौदा है, ज़बरदस्ती का नहीं। इसी कारण आज तो विश्व के लगभग सभी विश्वविद्यालयों में हिंदी को स्थान मिल रहा है...।'[2]

हिंदी को विश्व रंगमंच पर प्रतिष्ठित करने में विश्व हिंदी सम्मेलनों की महती भूमिका रही है। 10 जनवरी 1975 को नागपुर

में आयोजित प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए मॉरीशस के तत्कालीन प्रधानमंत्री डॉ. सर शिवसागर रामगुलाम ने अपने अध्यक्षीय उद्‌बोधन में कहा था कि – 'हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा तो है, लेकिन हमारे लिए इस बात का अधिक महत्त्व है कि यह एक अंतरराष्ट्रीय भाषा है। मॉरीशस, सूरीनाम, गयाना, फ़िजी, अफ़्रीका के कई देश इस बात का मान करते हैं कि भारत की राष्ट्रभाषा को अंतरराष्ट्रीय भाषा बनाने में उनका हाथ रहा है।'[3] इस प्रकार हिंदी को वैश्विक भाषा बनाने का संकल्प प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन में ही ले लिया गया था। इसी संकल्प को पूर्ण करने की दिशा में भविष्य की योजनाएँ बनीं और आगामी सम्मेलनों में उन्हें क्रियान्वित करने पर बल दिया गया।

हिंदी का वैश्विक स्वरूप व्यावसायिक व व्यापारिक कारणों से भी गढ़ा गया। भारत के अन्य देशों के साथ व्यापारिक संबंध अतीत से ही रहे हैं। तब से आज तक व्यापार और वाणिज्य प्रणाली में आमूलचूल परिवर्तन हुए हैं। अति विकसित सूचना प्रौद्योगिकी ने हिंदी के महत्त्व का ग्राफ़ सहसा ही ऊँचा उठा दिया है। डॉ. धीरज भाई वणकर लिखते हैं कि – 'यह तो अच्छी बात है कि भूमण्डलीकरण के बाज़ारवाद ने हिंदी के विकास में उसे विश्वभाषा बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। कम्प्यूटर के लिए देवनागरी लिपि की उपादेयता भूमण्डलीकरण के कारण सिद्ध हुई है। आज के भूमण्डलीकरण के दौर में उपभोक्ता व बाज़ारवाद ने भाषा को सशक्त माध्यम के रूप में स्वीकार किया है। उत्पाद अब स्वयं नहीं बिकते, उन्हें बेचा जाता है। जग ज़ाहिर है इसके लिए बहुसंख्यकों द्वारा भारत में बोली जाने वाली कोई दूसरी भाषा है, तो वह हमारी हिंदी ही है।'[4]

हिंदी को विश्व क्षितिज पर स्थापित करने का प्रथम प्रयास निश्चय ही प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन का था, परन्तु अंतरराष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक प्रयास का श्रेय श्री अटल बिहारी वाजपेयी को दिया जाना चाहिए। वाजपेयी जी 1977 में विदेश मंत्री थे। उन्होंने प्रथम बार संयुक्त राष्ट्रसंघ में हिंदी में भाषण दिया। अब से 40 वर्ष पूर्व किए गए इस राजनीतिक प्रयास ने हिंदी की शक्ति से विश्व को परिचित कराया। तब से अब तक समय पर्याप्त आगे बढ़ चुका है और हिंदी का पौधा पर्याप्त पल्लवित और पुष्पित हो चुका है। श्री राकेश शर्मा 'निशीथ' हिंदी के इस विस्तार को विश्लेषित करते हुए लिखते हैं कि 'विदेशों में 40 से अधिक देशों में 600 से अधिक विश्वविद्यालयों और स्कूलों में हिंदी पढ़ाई जा रही है। भारत से बाहर जिन देशों में हिंदी का बोलने, लिखने, पढ़ने तथा अध्ययन और अध्यापन की दृष्टि से प्रयोग होता है, उन्हें हम इन वर्गों में बाँट सकते हैं –

1. जहाँ भारतीय लोग अधिक संख्या में रहे हैं, जैसे – पाकिस्तान, नेपाल, भूटान, बांगलादेश, म्यान्मार, श्रीलंका और मालदीव आदि।
2. भारतीय संस्कृति से प्रभावित दक्षिण पूर्वी एशियाई देश, जैसे – इंडोनेशिया, मलेशिया, थाईलैंड, चीन, मंगोलिया, कोरिया तथा जापान आदि।
3. जहाँ हिंदी को विश्व की आधुनिक भाषा के रूप में पढ़ाया जाता है, जैसे – अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, कनाडा और यूरोप के देश, तथा
4. अरब और अन्य इस्लामी देश, जैसे संयुक्त अरब अमीरात (दुबई), अफ़गानिस्तान, कतर, मिस्त्र, उज़्बेकिस्तान, कजाकिस्तान, तुर्कमेनिस्तान आदि।[5]

उपर्युक्त उद्धरण हिंदी के वैश्विक परिदृश्य को समझने के लिए पर्याप्त हैं। भारतीय संस्कृति के व्यापक प्रचार–प्रसार में हिंदी भाषा का अप्रतिम योगदान है। प्रत्येक जाति को अपनी संस्कृति से प्यार होता है, होना भी चाहिए, परंतु विश्व की प्राचीनतम संस्कृति भारतीय संस्कृति की बात ही पृथक है और निराली भी है। भारतीय संस्कृति की विशालता, महानता और गहनता को डॉ. इकबाल ने अत्यंत न्यून और सटीक शब्दों में अभिव्यक्ति प्रदान की है :

'यूनान मिस्त्र रोमां सब मिट गए जहाँ से
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।'

भारतीय संस्कृति केवल भारतीय सीमाओं तक सिमटकर नहीं रही। इसने पर–राष्ट्रों को भी अपने चुम्बकीय आकर्षण में आबद्ध किया। जिस प्रकार हिंदी वाणिज्य व्यापार के द्वारा विश्व की ओर गतिशील हुई, भारतीय संस्कृति का प्रचार–प्रसार भी वाणिज्य व्यापार के माध्यम से समूचे विश्व में हुआ। प्राचीनकाल में भारतीयों को यह विदित था कि पूर्वी द्वीप समूह मशालों और सोने की खानों से भरपूर है, इसलिए भारतीय नाविक और व्यापारी उन देशों की यात्रा किया करते थे। इस प्रकार भारतीय संस्कृति विदेशों तक की यात्रा कर सकी। इस यात्रा का वाहक बनी हिंदी।

वैदिक युग से भारतीय संस्कृति का व्यवस्थित रूप प्राप्त होता

है। इसी समय से यह संस्कृति अत्यंत उदात्त, समन्वयवादी, सशक्त एवं जीवंत रही है। इस संस्कृति में उदारता है, लचीलापन है और सबको समाहित करने का गांभीर्य है। विख्यात विद्वान विनोद बंसल ने भारतीय संस्कृति की विशेषताओं और इसकी शाश्वतता पर अत्यंत सटीक टिप्पणी की है। वे लिखते हैं – 'वास्तव में संस्कृति ऐसी आदर्श शृंखला है, जिसे कोई भी झुठला नहीं सकता। यहाँ तक कि व्यवहार में उन सिद्धांतों के प्रतिकूल चलने वाला भी खुले रूप में उसका विरोध नहीं कर सकता। गंभीरता से विचार करें तो हम पाएँगे कि चोर अपने यहाँ दूसरे चोर को नौकर नहीं रख सकता। व्यभिचारी अपनी कन्या का विवाह व्यभिचारी के साथ नहीं कर सकता और न अपनी पत्नी को किसी ऐसे व्यक्ति के साथ घनिष्ठता बढ़ाने देता है। ग्राहकों के साथ धोखेबाज़ी करने वाला दुकानदार भी वहाँ से माल नहीं खरीदता जहाँ धोखेबाज़ी की आशंका रहती है। अनैतिक आचरण करने वालों से पूछा जाए कि आप न्याय–अन्याय में से, उचित–अनुचित में से, सदाचार–दुराचार में से किसे पसंद करते हैं, तो वह नीति पक्ष का ही समर्थन करेगा। इन तथ्यों पर विचार करने से प्रकट होता है कि भारतीय संस्कृति की अंतरात्मा एक ऐसी दिव्य परंपरा के साथ गुथी हुई है, जिसे झुठलाना किसी के लिए भी यहाँ तक कि पूर्ण कुसंस्कारी के लिए भी संभव नहीं हो सकता। वह अपने दुराचरण के बारे में अपनी विवशताएँ बताकर अपने को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न तो कर सकता है, पर अनीति को नीति कहने का साहस नहीं कर सकता। यही कारण है जिसके आधार पर भारतीय संस्कृति को विश्व की कालजयी संस्कृति कहा गया है।'[6]

केवल कर्मकांड, पूजा पद्धति और रूढ़ियों–परंपराओं पर ही भारतीय संस्कृति अब लंबित नहीं है। इसका दार्शनिक पक्ष जितना सुदृढ़ है, व्यावहारिक पक्ष भी उतना ही समृद्ध है। इसकी परंपरा आदर्शवादी और मूल्य आधारित रही है 'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः..', 'वसुदैव कुटुम्बकम', 'परहित सरिस धरम नहीं भाई, पर पीड़ा सम नहिं अधमाई', जैसे वचन इस संस्कृति को महान बनाते हुए इसका विस्तार समूचे विश्व नहीं समूची सृष्टि तक करते हैं।

विभिन्न सरिताएँ जिस प्रकार अपनी–अपनी जलराशि महासमुद्र में विलीन कर देती हैं, उसी प्रकार विभिन्न विचारधाराओं और दर्शनों को भारतीय संस्कृति का महासमुद्र आत्मसात करने का गुण धारण करता है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भारतीय संस्कृति की इसी विशिष्टता के कारण इसे तथा भारतीय जनमानस को महामानव सागर कहा था।

भारतीय संस्कृति की इन विभिन्न विचारधाराओं को विश्लेषित करते हुए केन्द्रीय हिंदी संस्थान के सेवानिवृत्त निदेशक श्रीमहावीर सरन जैन लिखते हैं कि – 'इस विशाल भारत देश के हम भारतवासी अनेक भाषाएँ बोलते हैं, इस विशाल भारत देश के हम भारतवासी अनेक धर्मों के उपासक हैं, इस विशाल भारत देश के हम भारतवासी अनेक उपासना पद्धतियों की पूजा करते हैं, इस्लाम तथा ईसाई धर्मों के आने के पहले भी हमारे यहाँ छह प्रकार के भिन्न–भिन्न तथाकथित आस्तिक दर्शन धाराएँ रही हैं। इन तथाकथित छह भिन्न आस्तिक दर्शनों के अलावा जैन, बौद्ध, चार्वाक आदि अनेक ऐसे दर्शन और धर्म रहे हैं, जिनको वैदिक ऋषियों ने नास्तिक उपाधि से नवाज़ा। इनको नास्तिक कहने का मूल कारण यह था कि इन दर्शनों एवं धर्मों का स्त्रोत वैदिक धारा नहीं, अपितु श्रमण धारा थी। श्रमण संस्कृति की अनेक मान्यताओं और विश्वासों को भारत की संस्कृति के प्रत्येक दर्शन और धर्म ने ग्रहण किया है।'[7]

भारत की ऐसी समन्वयवादी संस्कृति का प्रचार–प्रसार विदेशों में भारतीयों के द्वारा भारतीय भाषा में हुआ। मॉरीशस में सन् 1834 से सन् 1920 तक भारतीय गिरमिटिया मज़दूर लाए गए। ये ज़्यादातर बिहार प्रांत से थे। भोजपुरी और हिंदी तो इन तक पहुँची ही, रामचरितमानस के गुटखे और श्रीमद्भागवत गीता की प्रतियाँ भी यहाँ पहुँचीं। इनके माध्यम से भारतीय संस्कृति मॉरीशस तक पहुँची।

आज की स्थिति में इंडोनेशिया मुस्लिम बहुल राष्ट्र है। परन्तु यह भारतीय संस्कृति से संपन्न देश रहा है। इंडोनेशिया के हज़ारों वर्ष प्राचीन मंदिर व वहाँ के लोगों का भारतीय नामकरण तथा भारतीय परंपराओं का निर्वहन इस देश में भारतीय संस्कृति की उपस्थिति सिद्ध करता है। 'चौथी शताब्दी ईसापूर्व तक ये काफ़ी उन्नत थे। ये हिन्दू धर्म मानते थे और ऋषि परंपरा का अनुकरण करते थे। अगले दो हज़ार वर्ष तक इंडोनेशिया एक हिन्दू और बौद्ध देशों का समूह रहा। यहाँ आज भी रामायण पढ़ी व पढ़ाई जाती है।'[8] इस देश के सुमात्रा, बाली तथा जावा द्वीप हिन्दू बहुल हैं। यहाँ भारतीय संस्कृति बिखरी पड़ी है।

सन् 1879 से 1916 के मध्य भारतीय मज़दूरों को अंग्रेज़

फ़िजी लाये थे। ये हिंदी भाषी मज़दूर भी गीता, रामायण और हनुमान चालीसा ले गए थे। फिजी के लोग शादी–विवाह तथा अन्य संस्कार भारतीय संस्कृति के अनुरूप मनाते हैं। हिंदी यहाँ बोली और समझी जाती है। 1970 में दशहरे के दिन जब फिजी स्वतंत्र हुआ, तन यहाँ के लोगों ने विजयादशमी के रूप में अपना स्वतंत्रता दिवस मनाया।

संस्कृत से उद्भूत हिंदी अपने उद्भव काल में देशज हिंदी के रूप में थी और अनगढ़ थी। ब्रज, बुंदेली, अवधी, राजस्थानी जैसी क्षेत्रीय बोलियों ने उसे सजाया और संवारा। उन्नीसवीं शताब्दी से इसका रूप–स्वरूप निखरने लगा था।

अंग्रेज़ राज में अंग्रेज़ी ने हिंदी को अपदस्थ करने के जी भर कर प्रयास किए। कुछ सीमा तक वह सफल भी रही, परंतु शीघ्र ही उसे मुँह की खानी पड़ी। आज हिंदी विश्व में दूसरे स्थान पर है। विज्ञान के बढ़ते चरणों की समानता करने की सामर्थ्य केवल और केवल हिंदी में है। क्योंकि हिंदी पूर्णरूपेण वैज्ञानिक भाषा है। इसकी लिपि में जैसा लिखा जाता है, वैसा ही पढ़ा और बोला जाता है और जैसा पढ़ा और बोला जाता है वैसा लिखा जाता है।

हिंदी अब विश्व भाषा बन चुकी है। विकसित सूचना प्रौद्योगिकी तथा वैज्ञानिक आविष्कारों के भावों की सटीक अभिव्यक्ति की क्षमता हिंदी में है। विश्व के अनेक देशों में यह बोली जाती है, समझी जाती है और व्यवहृत होती है। अनेक विश्वविद्यालयों में इसका अध्ययन–अध्यापन हो रहा है।

भाषा किसी भी देश की संस्कृति का अभिन्न अंग होती है। हिंदी भारतीय संस्कृति की सबल संवाहिका है। विदेशों में हिंदी का जिस प्रकार प्रयोग बढ़ रहा है और यह लोकप्रिय हो रही है, उसी प्रकार भारतीय संस्कृति को जानने–समझने के प्रति अंतरराष्ट्रीय स्तर पर रुझान बढ़ रहा है।

संदर्भः

1. संकल्प (त्रैमासिक) संपा.– प्रो. टी. मोहन सिंह, जुलाई–अगस्त 2008, पृ. 30
2. हिंदी की विकास यात्रा और हिंदी सेवी संस्थाएँ : संपा.–विभूति मिश्र, पृ. 1061
3. वही, पृ. 1060
4. वही, पृ. 1065
5. विदेशों में हिंदी का बढ़ता प्रभाव, राकेश शर्मा निशीथ (https://hi.wikibooks.org/wiki/डाउनलोड 25,06,2018)
6. भारतीय संस्कृति : विनोद बंसल, पृ. 27
7. वैश्विक चेतना तथा भारतीय संस्कृतिः प्रोफे. महावीर सरन जैन (https://www.linkedin.com/pulse/-mahavir-saran-jain/डा. उनलोड 25,06,2018)
8. भारतीय संस्कृति और विश्व : डॉ. लखन लाल खरे, पृ. 112

sksharma19672@yahoo.com

हिंदी एवं भारतीय संस्कृति

– डॉ. साकेत सहाय
हरियाणा, भारत

भाषा संस्कृति का अधिष्ठान है। आज संस्कृत एवं लोक भाषाओं के ज़रिए ही हम अपने धर्म, ज्ञान, अध्यात्म व संस्कार की शक्ति से परिचित है। यदि हम सामान्य शब्दों में, सांस्कृतिक नज़रिए से इसे समझें, तो हमारे पूर्वजों ने विचार और कर्म के क्षेत्र में जो कुछ भी श्रेष्ठ किया है, उस धरोहर का नाम ही संस्कृति है। यह संस्कृति अपनी भाषा व बोली के सहारे जीवित रहती है। भारतीय संस्कृति के आदर्शों एवं मूल्यों को सैकड़ों सालों के अनुभवों के बाद गिरमिटिया मज़दूरों ने अपनी भाषा व बोली के सहारे ही निर्मित एवं सशक्त किया है।

वास्तव में भाषा एक संस्कृति है, जिसके भीतर भावनाएँ, विचार और सदियों की जीवन पद्धति प्रवाहित एवं समाहित होती रहती है। भाषा हमारी परम्पराओं और संस्कृति से जोड़े रखने की एकमात्र कड़ी है। 'राम–राम', 'प्रणाम', जय गंगा माई, नमस्कार जैसे संबोधन केवल अभिवादन मात्र नहीं, बल्कि हमारे संस्कार एवं परंपरा के परिचायक हैं। मधुबनी पेंटिंग, कत्थक, कथकली, भरतनाट्यम, कुचीपुड़ी, शास्त्रीय संगीत केवल नाट्य एवं कलात्मक अभिव्यक्तियाँ मात्र नहीं है, वरन् व्यक्ति को व्यक्ति से तथा व्यक्ति से समष्टि को जोड़ने वाली अभिव्यक्तियाँ हैं। घर के बाहर अल्पना बनाना, रंगोली, स्वास्तिक बनाना, सुस्वागतम् लिखना सभी कुछ कलात्मक एवं सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के लक्षण हैं। मॉरीशस गए गिरमिटिया मज़दूरों द्वारा गंगा के प्रतीकात्मक स्वरूप के रूप में शिवगंगा तालाब का सृजन किया जाना, महाशिवरात्रि का आयोजन, हनुमान चालीसा, रामचरितमानस जैसे धर्मग्रंथ एवं अपनी मीठी बोली भोजपुरी को संभालकर रखना, कठिन संघर्षों के बाद फ़िजी में हिंदी को संवैधानिक दर्जा दिया जाना केवल विरासत को बचाकर रखना मात्र ही नहीं, बल्कि अपनी सांस्कृतिक व भाषायी अभिरक्षा के भी प्रतीक हैं।

भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है – समाहार की। इसमें भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद–351 में हिंदी के विकास के संदर्भ में इसे सामासिक संस्कृति की अभिव्यक्ति कहकर अभिहित किया गया है। समाहार की शक्ति का ही परिणाम है कि हिंदी को किसी भी स्रोत से शब्द ग्रहण करने में कभी गुरेज नहीं रहा। इन्हीं गुणों के कारण हिंदी का वैश्विक स्वरूप व्यापक है, परंतु यह मुखर रूप से उतना अस्तित्ववान और प्रचलित नहीं है, जितना कि होना चाहिए था। मॉरीशस के राष्ट्रपिता और प्रथम प्रधानमंत्री सर शिवसागर रामगुलाम ने वर्ष 1975 में नागपुर शहर में आयोजित प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन को संबोधित करते हुए कहा था कि *"हिंदी भारत के लिए राष्ट्रभाषा है, लेकिन हमारे लिए यह अंतरराष्ट्रीय भाषा है।"*

यह सर्वस्वीकार्य तथ्य है – दुनिया भर में हिंदी के प्रचार–प्रसार से भारतीय संस्कृति की अवधारणा और ज़्यादा मज़बूत होगी। आज विश्व भर में करोड़ों की संख्या में भारतीय समुदाय के लोग एक संपर्क भाषा के रूप में हिंदी का इस्तेमाल कर रहे हैं। हिंदी के प्रयोग से वे भारत के साथ जुड़ाव महसूस करते हैं। इस जुड़ाव एवं आत्मीयता से अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हिंदी को एक नई पहचान मिली है। हिंदी के महत्त्व को कविगुरू गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने बड़े सुंदर रूप में प्रस्तुत किया था। उन्होंने कहा था *"भारतीय भाषाएँ नदियाँ हैं और हिंदी महानदी।"* अंतरराष्ट्रीय मंचों पर भारत की राजभाषा, संपर्क भाषा एवं राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी की भूमिका भारत के बढ़ते कद के साथ निरंतर समृद्ध हो रही है।

हिंदी की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह रही है कि उसने अपना विकास स्वयं के दम पर, परिस्थितियों के अनुरूप ढलकर किया है। आज हिंदी की पहुँच विश्व के एक बड़े भू–भाग में है। हिंदी की जीवंतता का रहस्य उसकी व्यापकता में निहित है। दुनिया भर में स्थित कोई भी भारतीय या तो हिंदी या अपनी मातृभाषा में ही सोचता, समझता और बोलता है और वह हिंदी से किसी–न–किसी रूप में ज़रूर परिचित है। प्रस्तुत आलेख में हम वैश्विक स्तर पर भारतीय संस्कृति के प्रसार में हिंदी की भूमिका को समझने का प्रयास करेंगे।

हिंदी एवं भारतीय संस्कृति

कई बार एक–दूसरे की संस्कृति को समझने में भाषा की भिन्नता एक बड़ी बाधा होती है और कई बार भाषाई समझ ही लोगों को करीब लाने का काम करती है। यही कारण है कि सदियों से सांस्कृतिक अवधारणा के प्रसार हेतु भाषायी प्रचार–प्रसार पर बल दिया जाता रहा है। हम सभी संस्कृति की आइसबर्ग अवधारणा से परिचित होंगे। आइसबर्ग अवधारणा के अनुसार *''जिस प्रकार पानी में तैरते बर्फ़ के टुकड़े की ऊपर से हमें सिर्फ़ नोक दिखाई देती है, इसी तरह से हमें नई संस्कृतियों को भी समझना होगा।''* ऊपरी तौर पर हमें किसी भी संस्कृति के जो हिस्से दिखाई देते हैं, वे हैं उनका खानपान, पहनावा एवं चाल–चलन। परंतु संस्कृति के अहम् हिस्से यानि उसके मूल्य, परंपरा एवं नैतिकता बड़ी मुश्किल से समझ में आते हैं। यहीं पर भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका स्थापित हो जाती है। इस प्रकार भाषा सांस्कृतिक संचार एवं समन्वय का महत्त्वपूर्ण उपकरण है। विदेशों में हिंदी भारतीयता की पहचान मानी जाती है। हम चाहे कुछ भी कह लें विदेशों में आज भी भारत की पहचान हिंदू धर्म एवं हिंदी से ही है। यही कारण है कि अमेरिकी राष्ट्रपति डोनल्ड ट्रंप ने अपने चुनाव प्रचार में भारतीयों को प्रभावित करने हेतु 'हिंदू धर्म' एवं 'हिंदी' का सहारा लिया था। निश्चय ही अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हिंदी के प्रसार से दुनिया भारतीय संस्कृति से परिचित होगी।

भारत एक बहुभाषा–भाषी देश है, जहाँ चार सौ से भी अधिक भाषाएँ बोली जाती हैं, लेकिन सबसे ज़्यादा बोली व समझी जाने वाली भाषा हिंदी ही है। देश की बहुसंख्यक तथा प्रमुख भाषा होने के नाते हिंदी संपर्क भाषा का दायित्व निभाती है। संपर्क भाषा की भूमिका प्रमुखता से निभाने के कारण ही हिंदी राष्ट्रभाषा के दर्जे की अधिकारिणी बनी। इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि इस देश को सांस्कृतिक और भाषिक स्तर पर जोड़ने का महत्त्वपूर्ण दायित्व पूर्व में संस्कृत भाषा पर था, जिसे उसने लगभग तीन हज़ार वर्षों तक निभाया। संस्कृत की पुत्री कही जाने वाली 'हिंदी' ने आधुनिक युग में यह दायित्व अपने ऊपर ले लिया। विरासत में मिले इस दायित्व को 'हिंदी' ने बखूबी निभाया है।

हिंदी ने भारतीय दर्शन, चिंतन, अध्यात्म और भारतीय धरोहरों को वैश्विक स्तर पर पहचान दिलाने में सहयोग किया है। दुनिया भर में भारत जैसे–जैसे एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक शक्ति के रूप में उभर रहा है, उसी के साथ हिंदी का महत्त्व भी बढ़ रहा है। आज दुनिया के तमाम विश्वविद्यालयों में हिंदी एक महत्त्वपूर्ण पाठ्यक्रम के रूप में पढ़ाई जाने लगी है, तो उसका सबसे बड़ा कारण यही है। व्यवसाय, रोज़गार आदि कारणों से आज भारतीय मूल के लोग पूरी दुनिया में फैले हुए हैं। वे अपने साथ अपनी संस्कृति और भाषा को भी दुनिया के कोने–कोने में ले गए हैं। इन देशों के भारतीय निवासी जब भी आपस में मिलते हैं, तो बहुधा सांस्कृतिक स्तर पर बातचीत के लिए हिंदी को संपर्क भाषा के रूप में अपनाते हैं।

आज़ादी के बाद अनेक वर्षों तक भारत की सरकार, भारत से बाहर बसे प्रवासी, आप्रवासी एवं अनिवासी भारतीयों से अंग्रेज़ी के माध्यम से संपर्क साधती रही है। अब इसमें महत्त्वपूर्ण बदलाव नज़र आ रहा है। आने वाले दस–बीस वर्षों में भारत में व्यापार की अनंत संभावनाएँ हैं। भारत की आधी से ज़्यादा जनसंख्या 25–35 वर्ष के बीच है तथा इसमें से अधिकांश हिंदी जानते–समझते हैं। इसलिए बड़ी–बड़ी वैश्विक आधारवाली कंपनियाँ अपने देश के उन अधिकारियों को भारत भेजना चाहती हैं, जो हिंदी भाषा समझ सकें और बातचीत भी कर सकें।

वस्तुतः हिंदी की वैश्विक यात्रा का श्रीगणेश सन् 1835 में मॉरीशस, गयाना, सूरीनाम, त्रिनिदाद, फ़िजी जैसे देशों में जबरन भेजे गए प्रवासी भारतीयों, जिन्हें 'गिरमिटिया' शब्द से ज़्यादा पहचाना गया था, के माध्यम से होता है। आज लगभग 183 वर्ष बीत जाने के बाद भी इन देशों में हिंदी भाषा एवं भारतीयता के संस्कार सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। फ़िजी संसार का एक ऐसा विलक्षण देश है जहाँ की संसद में स्वीकृत भाषाओं में अंग्रेज़ी एवं फ़िजियन भाषा के साथ ही हिंदी भी स्वीकृत भाषा है। वहाँ हिंदी सत्ता की, प्रशासन की, बाज़ार की, मनोरंजन की, तीज–त्योहार एवं पर्व–अनुष्ठानों की भाषा है। इन देशों में हिंदी के प्रचार–प्रसार के लिए कई संस्थाएँ सक्रिय हैं। जैसे 'हिंदी प्रचारिणी सभा' तो भारत की आज़ादी के पूर्व से ही वहाँ सक्रिय है। मॉरीशस में 'हिंदी प्रचारिणी सभा' के प्रवेश द्वार पर लिखा हुआ है 'भाषा गई तो संस्कृति गई'। दरअसल हिंदी उनके संस्कारों की भाषा है। अतः यह कहा जा सकता है कि हिंदी विदेशों में भारतीय संस्कृति की पहचान है।

इतिहास गवाह है कि हिंदी सदियों से भारत की सांस्कृतिक

पहचान रही है। तब भी जब संचार माध्यम विकसित अवस्था में नहीं थे, उस समय दक्षिण के आचार्यों ने हिंदी को राष्ट्रीय संपर्क की भाषा के रूप में अपनाया तथा इसके माध्यम से जन–जन तक अपनी बात पहुँचाई। स्वामी वल्लभाचार्य, रामानुजाचार्य, स्वामी रामानंद आदि ने इसके राष्ट्रीय महत्त्व को समझा और इसे जन–व्यवहार में लाए। तंजौर के भोसल वंशीय शाहजी महाराज (1684–1712), केरल के तिरुवनंतपुरम के राजा स्वाति तिरुनाल और श्रीराम वर्मा उस समय हिंदी में गीतों की रचना करते थे। शिवाजी महाराज के दरबार में भी हिंदी को विशेष स्थान प्राप्त था। उनके पुत्र सम्भाजी हिंदी के श्रेष्ठ कवि थे। विजयनगर के दरबार में भी हिंदी को विशेष सम्मान मिला हुआ था। उस काल में यथा अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुंडा आदि अलग–अलग स्थापित नवीन राज्यों के केंद्र में भी दक्खिनी हिंदी का ही प्रभुत्व था। मछलीपट्टम के नदेल्ल पुरुषोत्तम कवि द्वारा बत्तीस नाटकों की रचना की बात भी सामने आती है। बंगाल के चैतन्य महाप्रभु ने हिंदी बहुला बृजबुलि का प्रयोग किया।

भारत के पूर्वोत्तर राज्य यथा–असम, मेघालय, त्रिपुरा, अरुणाचल प्रदेश, मिज़ोरम, नागालैंड, सिक्किम, मणिपुर भी भाषाई दृष्टि से एकसूत्र में बंधे हुए थे और इनमें कोई बहुत बड़ा भाषायी विभेद नहीं था। सातवीं शताब्दी के अंत से लेकर ग्यारहवीं–बारहवीं शताब्दी तक सिद्धाचार्यों का व्यापक प्रभाव पूर्वोत्तर क्षेत्रों में रहा। इन सिद्ध आचार्यों ने मात्र भाषा व साहित्य को ही नहीं, बल्कि अपने समय के समाज, संस्कृति व धर्म को भी प्रभावित किया। ये सिद्धाचार्य जिस भाषा का प्रयोग कर रहे थे, उसे विद्वानों ने आरंभिक हिंदी का नाम दिया है। यह राष्ट्रीय एकता का ही प्रमाण है कि शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य आदि उत्तर भारत के लिए भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितने दक्षिण भारत के लिए। विद्यापति के पदों ने जितना बंगाल, असम और ओड़िशा के भक्ति साहित्य को समृद्ध किया, उतना ही हिंदी के भक्ति साहित्य को भी। गोरखनाथ, जलंधरनाथ, बालानाथ आदि जितना पंजाबी भाषा से गहरा संबंध रखते हैं, हिंदी साहिय में भी उनका स्थान उतना ही ऊँचा है। मीराबाई के भजनों का जो स्थान गुजराती व राजस्थानी में है हिंदी साहित्य में उससे भी अधिक है। सिखों के महान ग्रंथ गुरु ग्रंथ साहिब में मराठी के कवि नामदेव, हिंदी के संत कबीर के पद संकलित होना भाषाई एकता का ही प्रतीक है।

स्वाधीनता आंदोलन के समय में भी महात्मा गांधी ने तमिल प्रदेश की भूमि से हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाए जाने हेतु आंदोलन प्रारंभ किया था। गांधीजी यह बात भली–भांति जानते थे कि तमिलनाडु में हिंदी का विरोध राजनीतिक कारणों से था, इसलिए दूरदर्शिता का परिचय देते हुए उन्होंने हिंदी के प्रचार–प्रसार के लिए दक्षिण को चुना और 1918 में 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' की स्थापना की। स्वाधीनता आंदोलन के दौरान हिंदी के महत्त्व को देखते हुए बाल गंगाधर तिलक ने भारतवासियों से हिंदी सीखने का आह्वान करते हुए कहा था – *''राष्ट्र के संगठन के लिए आज ऐसी भाषा की आवश्यकता है जिसे सर्वत्र समझा जा सके। किसी जाति को निकट लाने के लिए भाषा का होना महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।''*

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि हिंदी सदियों से भारत की सांस्कृतिक पहचान रही है और भारतीय सदैव इस भाषा से प्रेम करते आए हैं। विश्व मंच पर हिंदी अपनी इसी सांस्कृतिक पहचान से भारतीय संस्कृति को और ज़्यादा प्रखरता के साथ स्थापित कर पाने में सक्षम हो सकेगी।

भाषा वही जीवित रहती है, जिसका प्रयोग जनता करती है। भारत में लोगों के बीच संवाद का सबसे बेहतर माध्यम हिंदी है। इसके और अधिक प्रसार से विश्व पटल पर भारतीय संस्कृति का प्रसार होगा। विश्व पटल पर हिंदी की गरिमा स्थापित हो चुकी है। साथ ही, तकनीकी रूप से यह सिद्ध हो चुका है कि हिंदी भाषा अपनी लिपि और ध्वन्यात्मकता (उच्चारण) के लिहाज़ से सबसे शुद्ध और विज्ञान सम्मत भाषा है। उदारीकरण और निजीकरण के समय में अन्य देशों के साथ भारत के बढ़ते व्यापारिक संबंधों ने एक–दूसरे के देशों की भाषाओं को सीखने की आवश्यकता को और भी अधिक बढ़ा दिया है। एक–दूसरे के साथ सहयोग एवं विकास की भावना के कारण हिंदी की लोकप्रियता अन्य देशों में बहुत अधिक बढ़ी है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण यह है कि अंतरराष्ट्रीय स्तर पर कई देशों ने भारतीय अध्ययनों को बढ़ावा देने हेतु अपने देश में हिंदी सीखने के लिए अध्ययन पीठ स्थापित किए हैं। इन संस्थानों में भारतीय धर्म, इतिहास और संस्कृति पर आधारित पाठ्यक्रम उपलब्ध कराने के साथ–साथ हिंदी, उर्दू एवं संस्कृत जैसी कई भारतीय भाषाओं की शिक्षा भी प्रदान की जाती हैं।

कोई भी समृद्ध देश अपनी भाषाओं को छोड़कर किसी गैर

भाषा के प्रयोग से विकसित नहीं हुआ है। आज भी विकसित देश अपनी भाषा के आधार पर ही आगे बढ़ रहे हैं। इसलिए यह ज़रूरी है कि भारत की मज़बूत पहचान हेतु हिंदी को और अधिक समृद्ध किया जाए। इसमें कोई संदेह नहीं है कि हिंदी के निर्माण से ही समूचे राष्ट्र का निर्माण हो सकता है एवं वैश्विक स्तर पर भारत की मज़बूत पहचान स्थापित हो सकती है। अंतरराष्ट्रीय मंचों पर भारत की बढ़ती साख के कारण हिंदी और हिंदुस्तान में दुनिया के लोगों की रुचि बढ़ी है। उदाहरण के लिए, बीते वर्ष अप्रैल, 2018 में ब्रिटेन में आयोजित कार्यक्रम 'भारत की बात—सबके साथ'। वर्ष 1976 में आयोजित द्वितीय विश्व हिंदी सम्मेलन को संबोधित करते हुए तत्कालीन सूचना एवं प्रसारण मंत्री स्वर्गीय श्री विद्याचरण शुक्ल ने कहा था — *''विश्व में भारत की शक्ति और प्रतिष्ठा जिस गति से बढ़ेगी, उसी के साथ उसे अपनी—अपनी भाषा के माध्यम से अपना व्यक्तित्व प्रकट करना भी उतना ही आवश्यक होगा।''*

आज हिंदी पूरी दुनिया के समक्ष परस्पर संवाद हेतु एक सशक्त भाषा के रूप में उपस्थित है। गौर करें तो कभी भारतीय भाषा 'संस्कृत' की गंभीरता और उपादेयता को लेकर संपूर्ण विश्व आत्ममुग्ध था, ठीक उसी प्रकार आज 'हिंदी' को यह सम्मान मिल रहा है। जर्मनी के लोग 'हिंदी' को एशियाई आबादी के एक बड़े तबके से संपर्क साधने का सबसे दमदार हथियार मानने लगे हैं। आज दुनिया के 40 से अधिक देशों के 600 से अधिक विश्वविद्यालयों और स्कूलों में हिंदी की पढ़ाई हो रही है। दुनिया के सबसे ताकतवर देश अमेरिका में बोली जाने वाली शीर्ष दस भाषाओं में हिंदी भी शामिल है। रूस के कई विश्वविद्यालयों में हिंदी साहित्य पर शोध हो रहे हैं। अनेक रूसी विद्वानों ने हिंदी साहित्य के महान ग्रंथों का अनुवाद किया है। एशियाई देश जापान में भी हिंदी भाषा का बहुत अधिक सम्मान है। जापान में प्रोफ़ेसर तोशियो तनाका ने हिंदी के महान साहित्यकार भीष्म साहनी के उपन्यास 'तमस' का जापानी भाषा में अनुवाद किया है। प्रोफ़ेसर कोगा ने 'जापानी—हिंदी कोष' की रचना की है। उन्होंने महात्मा गांधी की आत्मकथा का भी जापानी भाषा में अनुवाद किया है। प्रोफ़ेसर मिज़ोकामी प्रत्येक वर्ष जापान में हिंदी का एक नाटक तैयार करते हैं और उसका मंचन भारत में करते हैं। उन्होंने गांधीजी के सेवाग्राम में रहकर हिंदी सीखी। गौर करने वाली बात यह कि जापान और भारत के लोक साहित्य में काफ़ी समानता है। मणिपुरी एवं राजस्थानी भाषा की लोककथाओं एवं जापानी भाषा की लोककथाओं में काफ़ी समानता है।

एक सर्वेक्षण के मुताबिक, आज विश्व में आधा अरब लोग हिंदी बोलते हैं और तकरीबन एक अरब लोग हिंदी बखूबी समझते हैं। वेब, विज्ञापन, संगीत, सिनेमा और बाज़ार ऐसा कोई क्षेत्र नहीं बचा है, जहाँ हिंदी अपना पाँव पसारती न दिख रही हो। दुनिया के अधिकांश देशों में हिंदी फ़िल्मों ने धूम मचा रखी है। हिंदी भाषा की यह असाधारण उपलब्धि कही जाएगी कि जिन देशों में भाषा को विचारों की पोशाक एवं राष्ट्रों के जीवन का महत्त्वपूर्ण हिस्सा समझा जाता है, वहाँ भी हिंदी भारतीय संस्कृति की आत्मा के रूप में तेज़ी से अपना पाँव पसार रही है। अब प्रश्न उठता है कि क्या कारण है कि ये देश हिंदी को अपना रहे हैं? तो इसका एकमात्र उत्तर है — उनके लिए भारत को समझने हेतु यह ज़रूरी है कि वे हिंदी को जाने। वे यह मानते हैं कि हिंदी के माध्यम से ही भारत से मज़बूत सांस्कृतिक संबंध जोड़े जा सकते हैं। इसी प्रकार मॉरीशस, फ़िजी, सूरीनाम तथा अन्य देशों के प्रवासी भारतीय भी अपनी मूल संस्कृति को सुरक्षित रखने के लिए इस भाषा को सुरक्षित रखना चाहते हैं।

हिंदी एक मानक अंतरराष्ट्रीय भाषा कैसे बने

कई भारतीयों के मन में यह प्रश्न उठता है कि हिंदी विश्व की सबसे ज़्यादा बोली जाने वाली भाषा जब बन चुकी है, तो फिर यह संयुक्त राष्ट्र संघ की भाषा क्यों नहीं बन पायी? इसका उत्तर काफ़ी कुछ देश के भीतर हिंदी को लेकर विद्यमान स्थिति में छिपा हुआ है। क्योंकि हिंदी अभी तक प्रयोजनमूलक भाषा के रूप में पूर्ण रूप से स्थापित नहीं हो पाई हैं। विश्व स्तर पर हिंदी की मज़बूती के लिए यह ज़रूरी है कि हम हिंदी को अपने घर में भी सम्मान का हकदार बनाए। अंग्रेज़ी, चीनी, अरबी, स्पैनिश, फ़्रेंच इत्यादि के साथ ही हिंदी विश्व की सबसे ज़्यादा बोली जाने वाली भाषा है। लेकिन इसकी तुलना अगर अन्य अंतरराष्ट्रीय भाषाओं से करें, तो यह कई मामलों में पिछड़ी नज़र आती है। इसमें सबसे बड़ी कमी मानकता की है। हिंदी को अंतरराष्ट्रीय भाषा के रूप में स्थापित होने के लिए यह ज़रूरी है कि हिंदी समस्त भारतीय भाषाओं एवं अन्य भाषाओं से अपनी ज़रूरत के हिसाब से शब्दों को लेने में ज़रा भी संकोच न करें। विशेष रूप से ऐसे शब्द जो सहज एवं सरल रूप से हिंदी में रच—बस गये

हों। यानी हिंदी का शब्द–भंडार तकनीकी रूप से समृद्ध और मानक हो।

हिंदी को विश्वभाषा व संयुक्त राष्ट्रसंघ की भाषा बनाने में सबसे प्रमुख दिक्कत वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली को लेकर है। वर्तमान में गढ़े गए शब्दों में अस्पष्टता, अस्वाभाविकता एवं अंग्रेज़ी के शब्दानुवाद की छाप दिखती है। जैसे – टेक्नोलॉजी को तकनीक जैसे सरल शब्द में बदला गया, ऐसे प्रयोग की ज़्यादा ज़रूरत है। अलेक्ज़ेंडर की जगह सिकंदर जैसे शब्द को अपनाने की ज़रूरत है। यूरोपीय भाषाओं की तुलना में फ़ारसी, तुर्की एवं अरबी भाषाओं के शब्द हमारी भाषा एवं संस्कृति के ज़्यादा नज़दीक है।

अंग्रेज़ी के प्रचलन में आ चुके शब्दों को अपनाने में भी कोई बुराई नहीं है। हमें शुद्धतावादी दृष्टिकोण छोड़ना होगा। वैज्ञानिक व तकनीकी शब्दावली की दुरूहता दूर होते ही हिंदी अपने–आप सर्वमान्य हो जाएगी। ज़रूरत सिर्फ़ इतनी है कि हम इसे विज्ञान और वाणिज्य की भाषा बनाने की दिशा में सार्थक प्रयास करें और यह सोचें कि हिंदी सीखने के इच्छुक देशों के लिए किस प्रकार हिंदी संसाधन स्रोत बन सकती है।

हिंदी एक जीवंत भाषा है। सातवें विश्व हिंदी सम्मेलन को संबोधित करते हुए सूरीनाम के राष्ट्रपति ने कहा था – *''भारतीय सांस्कृतिक परंपराओं को जीवंत रखने के लिए भाषा एक महत्त्वपूर्ण कुंजी है। हिंदी भारतीयता की नींव का पत्थर है और धन–संपत्ति है, जिसका अनुभव करते हुए हम विकास करना चाहते हैं। उत्साहवर्धक विचार हमें प्राचीन हिंदी संस्कृति से प्राप्त होते हैं।''*

आज पूरी दुनिया उदारीकरण, वैश्वीकरण, भूमंडलीकरण जैसे शब्दों के ज़रिये एक विश्व ग्राम के रूप में परिणत होती जा रही है। अधिकांश देश व्यापार एवं तकनीक के सहारे आपस में जुड़े हुए दिखाई पड़ रहे हैं। इस भूमंडलीकरण के कारण विश्व ग्राम के पटल पर हिंदी की भूमिका एक राष्ट्रभाषा, जनभाषा, संपर्क भाषा, अंतरराष्ट्रीय भाषा के रूप में ज़्यादा प्रमुखता के साथ उजागर हुई है। हिंदी या हिंदुस्तानी ने प्रारंभ से ही जनभाषा के रूप में भारतवर्ष को जोड़ा है; इसकी संस्कृति को दुनिया से परिचित कराया है। हिंदी आज बाज़ार, समाज एवं राष्ट्र के साथ पूरे विश्व की भाषा बन चुकी है। हिंदी की विश्व व्यापकता ने अपना परचम पूरे विश्व में लहराया है। वैश्विक भारत के सपनों को साकार करने में हिंदी का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

जब कोई भाषा किसी देश, काल, स्थान या स्थान विशेष की संस्कृति की समझ के साथ सीखी जाती है, तो उसकी छाप हमेशा गहरी होती है। हिंदी के साथ भी ऐसा है। ऐसे में दुनिया भर में हिंदी के प्रसार से हमारी संस्कृति भी सुरक्षित रहेगी। परंतु, इसके लिए यह ज़रूरी है कि देश एवं विदेश में इसकी व्यापक माँग पैदा की जाए। माँग तभी पैदा होगी जब हम दुनिया को इसकी उपयोगिता का अहसास करा सकें। हमें इस बात पर गर्व होना चाहिए कि हम विश्व के दूसरे बड़े उपभोक्ता बाज़ार है, इसलिए लोग हमारी भाषा सीख रहे हैं। इसके बनिस्बत हम आधारभूत सुविधाओं का इतना विकास कर लें और वस्तुओं, सेवाओं, प्रौद्योगिकी आदि की गुणवत्ता तथा प्रतिस्पर्धी कीमत का एक ऐसा मुकाम हासिल कर लें कि हमारी वस्तुओं की चाहत और रोज़गार की तलाश में दुनिया हमारे पास चलकर आए और हमारी भाषा सीखे।

समग्रतः हिंदी को विश्व पटल पर सशक्त भाषा के रूप में स्थापित करने एवं भारतीय संस्कृति के प्रसार में इसकी भूमिका के लिए यह ज़रूरी है कि वह देश की भाषाओं में ही नहीं, बल्कि अंतरराष्ट्रीय स्तर पर उपलब्ध समस्त ज्ञान–विज्ञान के साहित्य और साहित्यिक–सांस्कृतिक गतिविधियों को अन्य लोगों तक पहुँचाने का सफल माध्यम बने। साथ ही, हिंदी भाषा की संजीवनी शक्ति यानी इसकी जीवंतता को बनाए रखना बेहद ज़रूरी है। इसी जीवंतता के बल पर गिरमिटिया लोगों ने इसे संजोकर रखा और यही संजीवनी शक्ति दुनिया भर में भारतीय संस्कृति के प्रसार में भी सहायक सिद्ध होगी। छठे विश्व हिंदी सम्मेलन के अवसर पर जारी अपने संदेश में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने कहा था – *''हिंदी हमें स्वत्व से जोड़ती है, भारतीयता की ओर मोड़ती है और संकीर्णता को तोड़ती है। भारत का साहित्य, संगीत, सभ्यता और संस्कार अपनी भाषा में ही परिचित हुआ है। भारत की सभी भाषाएँ, भारत माता के आँगन की फुलवारी के समान है और संविधान द्वारा घोषित राजभाषा होने के नाते हिंदी के पुरोधाओं पर यह दायित्व है कि वे इस फुलवारी को भी सींचे तथा हिंदी को भारत की सर्वमान्य भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने में सहायक वातावरण बनाएँ।''*

अंत में, वैश्विक स्तर पर सशक्त भारत की दस्तक को परवाज़

देने में हिंदी निश्चय ही अपनी जीवंतता के बल पर सहायक सिद्ध होगी। आइए हम मिलकर अपनी हिंदी लय को और मधुरता दें और प्रखरता प्रदान करें –

कण–कण में हिंदी,
जन–जन में हो हिंदी।
रग–रग में हो हिंदी,
विश्व कहे बस,
हिंदी, हिंदी, हिंदी ?

संदर्भ स्रोत :

1. इग्नू स्नातकोत्तर (हिंदी) की अध्ययन सामग्री।
2. विकिपीडिया – विश्व हिंदी सम्मेलन से संबंधित तथ्य ।
3. दैनिक जनसत्ता, हिंदुस्तान दैनिक के विभिन्न अंकों में प्रकाशित खबरें।

hindisewi@gmail.com
ss220768@obc.co.in

मुझे पक्का विश्वास है कि किसी दिन हमारे द्रविड़ भाई–बहन गम्भीर भाव से हिंदी का अध्ययन करने लगेंगे। आज अंग्रेज़ी भाषा पर अधिकार प्राप्त करने के लिए वे जितनी मेहनत करते हैं, उसका आठवां हिस्सा भी हिंदी सीखने में करें, तो बाकी हिन्दुस्तान जो आज उनके लिए बन्द किताब की तरह है, उससे वे परिचित होंगे और हमारे साथ उनका ऐसा तादात्म्य स्थापित हो जाएगा जैसा पहले कभी नहीं था।

– महात्मा गांधी

हिंदी का ई-संसार और जन-माध्यम

13. हिंदी, वेब और ऑनलाइन साहित्यिक पत्रकारिता - श्री रोहित कुमार 'हैप्पी'

14. ब्रिटेन में हिंदी मीडिया का इतिहास और वर्तमान - डॉ. जवाहर कर्नावट

15. गांधी की पत्रकारिता का भारतीय मॉडल - डॉ. कमल किशोर गोयनका

16. डॉ. कमल किशोर गोयनका का प्रवासी साहित्य एवं अन्य प्रवासी पत्रिकाएँ - श्री कृष्ण वीर सिंह सिकरवार

17. भाषाई विकास में लिप्यंतरण की भूमिका - डॉ. राकेश शर्मा

18. सिंगापुर : मीडिया में हिंदी - डॉ. संध्या सिंह

19. फ़िल्मों के माध्यम से भारतीय संस्कृति का संरक्षण - डॉ. शशि दुकन

हिंदी, वेब और ऑनलाइन साहित्यिक पत्रकारिता

— श्री रोहित कुमार 'हैप्पी'
न्यूज़ीलैंड

वेब पर हिंदी साहित्यिक पत्रकारिता की शुरुआत व इसे स्थापित करने में प्रवासी भारतीयों की विशेष भूमिका रही है। हिंदी वेब साहित्यिक पत्रकारिता पर चर्चा करने से पहले कुछ तथ्य स्पष्ट करना शोधार्थियों के लिए हितकर होगा। इंटरनेट पर जो पहले तीन साहित्यिक प्रकाशन उपलब्ध हुए, वे थे :

- इंटरनेट पर हिंदी का पहला प्रकाशन 'भारत–दर्शन' (1997)। इसका मुद्रित प्रकाशन पहले ही 1996 से प्रकाशित हो रहा था। 1997 में जब इसका वेब संस्करण उपलब्ध करवाया गया, तब यह पत्रिका इंटरनेट पर विश्व का पहला हिंदी प्रकाशन कहलायी। वेब पर इससे पहले कोई हिंदी प्रकाशन नहीं था।
- हिंदी वेब साहित्यिक पत्रकारिता के इस आरंभिक दौर में 'भारत–दर्शन' के बाद 1999 में अमेरिका से 'बोलोजी' प्रकाशित होने लगी, जिसमें कुछ पृष्ठ हिंदी के होते थे। श्री राजेन्द्र कृष्ण इसका प्रकाशन करते थे। उस समय इसके हिंदी पृष्ठों का संपादन श्रीमती पूर्णिमा बर्मन करती थीं। यह इंटरनेट पर हिंदी साहित्य का दूसरा प्रकाशन था। बाद में 'बोलोजी' का संस्करण केवल अंग्रेज़ी में प्रकाशित होने लगा, क्योंकि इन्होंने 'हिंदी नेस्ट' नाम से अपना एक अन्य हिंदी वेब प्रकाशन आरंभ किया। इस समय 'बोलोजी' (अंग्रेज़ी) का संपादन श्री राजेन्द्र कृष्ण व 'हिंदी नेस्ट' का संपादन मनीषा कुलश्रेष्ठ कर रही हैं।
- हिंदी वेब साहित्यिक पत्रिका का तीसरा प्रकाशन श्रीमती पूर्णिमा बर्मन का 'अभिव्यक्ति' था, जो 2000 में शारजाह से प्रकाशित हुआ। बाद में पूर्णिमा जी ने 'अनुभूति' का वेब प्रकाशन किया। दोनों प्रकाशन निरंतर वेब पर प्रकाशित हो रहे हैं।

दिलचस्प बात यह है कि उपरोक्त तीनों प्रकाशन भारत से प्रकाशित न होकर न्यूज़ीलैंड, अमेरिका व शारजाह से प्रकाशित हुए थे। ये तीनों प्रकाशन प्रवासी भारतीयों द्वारा प्रकाशित व संपादित हो रहे थे। यह तथ्य कि हिंदी वेब साहित्यिक–पत्रकारिता विदेश से आरंभ हुई और इसको आगे बढ़ाने वाली अन्य मुख्य पत्र–पत्रिकाएँ भी विदेश की धरती से ही वेब पर आईं, कई शोधार्थियों को हतप्रभ कर सकता है।

हिंदी वेब साहित्यिक–पत्रकारिता के विदेश में अंकुरित होने के कारण

इसका एक विशेष कारण, भारत से विदेश में आ बसे उन सभी लोगों, जिनकी रुचि पठन–पाठन में थी का साहित्यिक तुष्टि खोजना था। यह सरलता से समझा जा सकता है। चूँकि जिस देश में वे आ बसे थे, वहाँ अपनी भाषा में पढ़ने व साहित्यिक अभिरुचि के अनुरूप सामग्री उपलब्ध नहीं थी। यह मुख्य कारण था। दूसरा कारण यह था कि विकसित देशों में जनसामान्य को इंटरनेट सरल सुलभ था। वेब होस्टिंग, डोमेन इत्यादि पाना अपेक्षाकृत आसान था।

हमारे अपने अनुभव के अतिरिक्त अभिव्यक्ति हिंदी पत्रिका की संस्थापक श्रीमती पूर्णिमा बर्मन भी अपना अनुभव साझा करते हुए मुख्य कारण इस प्रकार बताती हैं —

- भारत में उस समय इंटरनेट की गति, सुविधाएँ, जानकारी नहीं थी। मेरी पत्रिका के पाठक ही भारत में गिने चुने थे।
- जो लोग कंप्यूटर पर काम कर रहे थे, वे सब कंप्यूटर के विद्यार्थी थे या इंजीनियर थे। हिंदी में कुछ साहित्यिक काम करने में समर्थ नहीं थे।
- तकनीकी काम हिंदी में करना और भी मुश्किल था, क्योंकि तकनीकी पढ़ाई तो अभी तक भारत में अंग्रेज़ी में ही होती है। आज भी कठिन ही है।
- कंप्यूटर बहुत महंगे थे और हिंदी मध्यवर्गीय लोगों की भाषा है, अतः मध्य वर्ग के पास उसे खरीदने की सामर्थ्य नहीं थी।

उपरोक्त के अतिरिक्त पूर्णिमा जी बताती हैं कि उनके पास समय भी था और पत्रकारिता का अनुभव भी। वे वेब डिज़ाइनिंग भी जानती थीं और साहित्य में रुचि भी थी।

वैश्विक स्तर पर भारतीय वेब पत्रकारिता और हिंदी वेब पत्रकारिता

वैश्विक स्तर पर यदि हम भारतीय वेब पत्रकारिता और हिंदी वेब पत्रकारिता पर दृष्टिपात करें, तो भारतीय पत्रकारिता में वेब पत्रकारिता का आरंभ 1995 में अंग्रेज़ी समाचार–पत्र 'द हिंदू' से हुआ।

भारत में हिंदी वेब पत्रकारिता का उदय 1997 के अंत में दैनिक जागरण से हुआ और उसके बाद 1998 में अमर उजाला व दैनिक भास्कर ने भी वेब पर अपनी उपस्थिति दर्ज की। 1999 में वेब दुनिया और नई दुनिया ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया, लेकिन विश्व पटल पर हिंदी वेब पत्रकारिता न्यूज़ीलैंड के माध्यम से आरंभ हो चुकी थी। दैनिक जागरण ने अपने आरंभिक दौर में साहित्य के अंतर्गत कुछ समय तक भारत–दर्शन की कड़ी (लिंक) जोड़े रखी थी।

कुछ वर्षों के बाद बी.बी.सी. हिंदी जैसे मीडिया दिग्गजों ने भी वेब मीडिया की महत्ता को समझते हुए 2001 में अपना वेब संस्करण आरम्भ किया।

उस समय में जब इंटरनेट आम नहीं था तब 'भारत–दर्शन' का प्रकाशन कैसे संभव हुआ?

1996 के शुरुआती दिनों में न्यूज़ीलैंड की एक लाइब्रेरी में पहले–पहल इंटरनेट को जानने व इसका उपयोग करने का अवसर मिला। जब किसी हिंदी पत्र–पत्रिका को खोजना चाहा, तो कोई परिणाम नहीं आया। भारतीय (इंडियन) पत्र–पत्रिका खोजने पर 'द हिंदू' के दर्शन हुए, जो अंग्रेज़ी में था। लाइब्रेरियन से इस बारे में पूछा, तो उसने कुछ देर खोजने में सहायता करने के बाद इस बात की पुष्टि की कि 'हिंदी' का कोई प्रकाशन इंटरनेट पर नहीं है। बस तभी दिमाग में यह आया कि यदि नहीं है, तो होना चाहिए और 'भारत–दर्शन' को इंटरनेट पर प्रकाशित करने के काम में जुट गए। परिणामस्वरूप कुछ समय बाद 'भारत–दर्शन' इंटरनेट पर प्रकाशित होने लगा।

इंटरनेट बहुत तेज़ गति से आगे बढ़ रहा है। बहुत से संसाधन जो आरंभिक काल में अत्यधिक लोकप्रिय और उपयोगी थे, आज उनमें से अनेक अनुपस्थित हैं। इसी प्रकार किसी समय में अत्यंत लोकप्रिय रहीं हिंदी की अनेक वेबसाइट बंद हो चुकी हैं और अनेक हिंदी वेब प्रौद्योगिकी में तेज़ी से आए परिवर्तनों का दंश झेल रही हैं। आज यह आवश्यक है कि वेब प्रकाशक को वेब पत्रकारिता, उपयोग किए जाने वाले संसाधनों और आधुनिक प्रौद्योगिकी की जानकारी हो।

गूगल से पहले सर्च इंजिन और वेब ब्राउज़र

'गूगल' आधिकारिक तौर पर सितंबर 1998 में लोकार्पित हुआ था। हिंदी वेब पत्रकारिता गूगल के आने से पहले अपनी उपस्थिति दर्ज करवा चुकी थी, लेकिन गूगल के आने के पश्चात् बहुत से बदलाव आए और वर्तमान में तो गूगल ने हिंदी भाषा व अन्य भारतीय भाषाओं के प्रचार–प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

लेकिन उस समय जब 'गूगल' अपने अस्तित्व में नहीं आया था, तब भी कई सर्च इंजिन व डायरेक्ट्रीज़ उपलब्ध थे। आइए, उस समय पर भी एक दृष्टिपात करें। गूगल से पहले के काल में आर्ची (Archie), एक्साइट (Excite), याहू (Yahoo), हॉटबोट (HotBot), वेबक्रॉलर (WebCrawler), अल्टाविस्टा (AltaVista), इन्फ़ोसिक (Infoseek), लियकोस (Lycos), आस्क जीवस (Ask Jeeves), आस्क डॉट कॉम (Ask.com), मेटाक्रॉलर (MetaCrawler), डॉगपाइल (Dogpile), एमएसएन सर्च (MSN Search) जो अब बिंग (Bing) के रूप में विद्यमान है, एओएल सर्च (AOL Search), गो डॉट कॉम (Go.com), नेटस्केप सर्च(Netscape Search), ऑलद वेब (All The Web) इत्यादि मुख्य थे।

आज अनेक वेब ब्राउज़र उपलब्ध हैं, लेकिन '90 के दशक में नेटस्केप नेविगेटर (Netscape Navigator), इंटरनेट एक्सप्लॉरर (Internet Explorer) और लिनेक्स (Lynx) मुख्य वेब ब्राउज़र थे। सबसे पहला वेब ब्राउज़र 1990 में आया था, जिसका नाम था आर्ची (Archie) और उसके बाद वर्ल्डवाइडवेब (WorldWideWeb) लेकिन इसका यह नाम वेब वाले वर्ल्ड

वाइड वेब (World Wide Web) के साथ भ्रम पैदा कर रहा था, इसी कारण से बाद में भ्रम से बचने के लिए इसका नाम 'नेक्सस' (Nexus) कर दिया गया था। इस ब्राउज़र को सर टिम बर्नर्स ली (Sir Tim Berners Lee) द्वारा विकसित किया गया था। उस समय वेब विचरण (Web Browsing) हेतु सीमित विकल्प थे।

वर्तमान हिंदी वेब पत्रकारिता की दिशा और दशा

इंटरनेट पर हिंदी वेब पत्रकारिता (1997) के आरंभ के पश्चात् 2000 तक आते–आते अनेक पत्र–पत्रिकाएँ वेब पर अपनी उपस्थिति दर्ज करवाने लगी थीं और धीरे–धीरे अनगिनत हिंदी पत्र–पत्रिकाएँ वेब पर उपलब्ध हो गईं। हिंदी ब्लॉगिंग आने से एक नया क्रांतिकारी परिवर्तन देखने को मिला।

आज हिंदी वेब पत्रकारिता दो दशकों से भी अधिक की हो चुकी है, लेकिन अभी भी गंभीर ऑनलाइन हिंदी पत्रकारिता में अनेक सुधारों की आवश्यकता है। न्यू मीडिया का मुख्य उद्देश्य होता है, संचार की तेज़ गति लेकिन अधिकतर हिंदी मीडिया इस बारे में सजग नहीं है। ऑनलाइन रिसर्च करने पर आप पाएँगे कि अनेक पत्र–पत्रिकाओं के सम्पर्क उपलब्ध नहीं, या काम नहीं कर रहे और यदि काम करते हैं, तो सम्पर्क करने पर उनका उत्तर पाना बहुधा कठिन है।

दूसरी ओर यह भी देखा जा रहा है कि अधिकतर पत्र–पत्रिकाओं के पारंपरिक मीडिया और वेब मीडिया के पत्रकार एक ही हैं, यह निःसंदेह संभव है और आर्थिक दृष्टि से भी न्यायोचित है, लेकिन हमें यह ध्यान रखना होगा कि वेब मीडिया में लेखन थोड़ा भिन्न है और उसके लिए कुछ अतिरिक्त कार्यकुशलता की भी आवश्यकता होती है। एक वेब पत्रकार को इंटरनेट का अच्छा ज्ञान, वेब लिंक्स, वेब मेटा टैग्स (Meta Tags), वेब ग्राफ़िक्स और इंटरनेट पर शोध में उपयोग किए जाने वाले संसाधनों की जानकारी होना बहुत लाभकर है। यदि पत्रकार वेब पृष्ठ व वेब विश्लेषण, विवेचन व अनुसंधान की भी जानकारी रखता हो, तो 'सोने पर सुहागा।' इसकी आवश्यकता क्यों है? आज इंटरनेट पर 'कथ्यों' की भरमार है और इनकी उपस्थिति का मूल कारण है, लेखक को अपने विषय की जानकारी न होना और 'तथ्यों' की पड़ताल न करना। इस समय हिंदी पत्र–पत्रिकाओं में 'शोध–पत्रों' के नाम पर 'कथ्य' प्रकाशित हो रहे हैं। शोध में 'कथ्य' नहीं 'तथ्य' होने चाहिए। पहले तो पत्रकार को अपना विषय भली–भांति पता हो और वह उसे तथ्यों की कसौटी पर जाँचे, उसके बाद संपादक का उत्तरदायित्व है कि वह सामग्री को जाँचकर प्रकाशनार्थ भेजे। आज पत्रकारिता अपने नैतिक मार्ग से भी भटकती प्रतीत होती है। पत्रकारों का एक नैतिक कर्त्तव्य भी है कि वे सत्य उजागर करें। उनका काम किसी को लाभ–हानि पहुँचाना न होकर केवल सत्य की खोज हो। पाठक को भी जागरूक होने की आवश्यकता है, आँख मूँदकर किसी भी पत्र–पत्रिका पर विश्वास करने के स्थान पर जब किसी विषय पर आशंकित हों तो लेखक/पत्रकार से प्रश्न करें। वेब पर प्रकाशित सामग्री की गुणवत्ता और विश्वसनीयता की यदि कुछ दशकों पहले प्रकाशित पुस्तकों की सामग्री से तुलना करें, तो निःसंदेह पिछली पुस्तकों की सामग्री अपेक्षाकृत गुणवत्ता और विश्वसनीयता की कसौटी पर खरी उतरती है। यह बात औसतन रूप से देखी गई है। इसका कारण है, उस समय के लेखकों का अपने विषय पर सुदृढ़ पकड़ रखना और गहन शोध करके 'तथ्य' एकत्रित करना। वेब ने प्रकाशन को सरल सुलभ तो बना दिया, लेकिन इसकी गुणवत्ता और इसकी विश्वसनीयता पर प्रश्न चिह्न लगा दिया है। आज पठन–पाठन के लिए सामग्री की उपलब्धता का प्रश्न नहीं है, अपितु सही सामग्री के चयन का प्रश्न है। जिस विश्वास के साथ मुद्रित पुस्तकों के संदर्भों का उल्लेख कर दिया जाता था, उसकी तुलना में हिंदी के वेब पृष्ठों की गुणवत्ता और विश्वसनीयता कहाँ ठहरती है? निःसंदेह, कुछ हिंदी वेब प्रकाशक इस ओर ध्यान दे रहे हैं, लेकिन सामान्य तौर पर अंधाधुंध प्रकाशन हो रहा है। यदि किसी एक वेबसाइट पर वर्तनी की त्रुटि है, तो आप पाएँगे कि दर्जनों वेबसाइट पर ऐसी ही सामग्री पायी जाएगी, क्योंकि सभी ने उसी मूल साइट से नकल की होती है। हमें पाठकों का विश्वास जीतने के लिए अपनी प्रकाशन सामग्री की गुणवत्ता और विश्वसनीयता पर ध्यान देना होगा। अन्यथा आने वाली पीढ़ी 'कथ्यों' को 'तथ्य' समझकर ज्ञान से वंचित रह जाएगी।

सोशल मीडिया पर फैलती अप्रामाणिक व आधारहीन सामग्री

की भरमार को निरस्त करने का एकमात्र उपाय है – अपने विषय पर पकड़ वाले लेखक, साहित्यकार, पत्रकार और इतिहासकार वेब व सोशल मीडिया पर प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध करवाएँ। यह बहुत आवश्यक है, अन्यथा अप्रामाणिक व आधारहीन उपलब्ध सामग्री सहजता से एक सामान्य पाठक के लिए सच बनती जा रही है। ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी की नवीनतम रिपोर्ट (The Global Disinformation Order: 2019 Global Inventory of Organised Social Media Manipulation) बताती है कि सोशल मीडिया पर भ्रांतियाँ फैलाने का काम व्यक्तिगत रूप से ही नहीं, बल्कि आज 70 देशों में सूचना और समाचारों को प्रभावित करने के लिए बड़े सुनियोजित ढंग से काम होता है।

सूचना से छेड़छाड़ करने के 2019 में 70 देशों में साक्ष्य मिले हैं। यह किस गति से बढ़ रहे हैं, इसकी पुष्टि इस बात से हो जाती है कि 2018 में सूचना से छेड़छाड़ करने वाले देशों की संख्या 48 थी और 2017 में यह संख्या 28 थी। इस बारे में ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी की रिपोर्ट बताती है ''प्रत्येक देश में कम–से–कम एक राजनीतिक पार्टी या सरकारी एजेंसी है, जो आंतरिक स्तर पर सार्वजनिक दृष्टिकोण को आकार देने के लिए सोशल मीडिया का उपयोग कर रही है।''

हमारे परम्परागत मीडिया को आत्म मंथन करना होगा कि आखिर हमारी वेब उपस्थिति के अर्थ क्या हैं? क्या हम अपने मूल उद्देश्यों में सफल हुए हैं? क्या हम केवल इसलिए अपने वेब संस्करण निकाल रहे हैं, क्योंकि दूसरे प्रकाशन–समूह ऐसे प्रकाशन निकाल रहे हैं?

विश्व हिंदी सचिवालय निभा सकता है महत्त्वपूर्ण भूमिका

विश्व हिंदी सचिवालय वेब पर हिंदी की गुणवत्ता और विश्वसनीयता को स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

विश्व हिंदी सचिवालय वेब पत्रकारिता, मोबाइल पत्रकारिता और न्यू मीडिया में नए शोध और अनुसंधान को बढ़ावा दे सकता है। हिंदी वेब की गुणवत्ता व उसके स्तर को स्थापित करने में अहम भूमिका निभा सकता है और हिंदी में संसाधन साझा (Content Sharing) कर सकता है। सचिवालय के 'विश्व हिंदी पत्रिका' प्रकाशन को ई–बुक (e-Book) विशेषतः ई–पब (e-pub) के रूप में उपलब्ध करवाकर, विस्तृत पाठक वर्ग तैयार कर सकता है। सचिवालय प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध करवा सकता है। हिंदी शिक्षण को किसी सीमा तक एकरूपता दी जा सकती है और जिस देश में हिंदी पढ़ायी जाए वहाँ की स्थानीय सामग्री का समावेश आवश्यक है। हम हिंदी पढ़ाने पर विदेशों में ज़ोर दे रहे हैं, लेकिन जब तक विदेशों में हिंदी व्यवसाय से नहीं जुड़ती, रोज़गार के अवसरों से नहीं जुड़ती, तब तक हिंदी या किसी भी अन्य भारतीय भाषा का अपने उद्देश्य में सफल होना कठिन है। भारत–दर्शन एक ऑनलाइन हिंदी शिक्षण साइट का परीक्षण कर रहा है। इसी तरह का काम संयुक्त रूप व सामूहिक रूप से किया जा सकता है, ताकि अंतरराष्ट्रीय स्तर पर इसका उपयोग हो सके।

ज़रा सोचिए

Top Ten Languages Used in the Web - April 30, 2019
(Number of Internet Users by Language)

TOP TEN LANGUAGES IN THE INTERNET	World Population for this Language (2019 Estimate)	Internet Users by Language	Internet Penetration (% Population)	Internet Users Growth (2000 - 2019)	Internet Users % of World (Participation)
English	1,485,300,217	1,105,919,154	74.5%	685.7%	25.2%
Chinese	1,457,821,239	863,230,794	59.2%	2,572.3%	19.3%

Spanish	520,777,464	344,448,932	66.1%	1,425.8%	7.9%
Arabic	444,016,517	226,595,470	51.0%	8,917.3%	5.2%
Portuguese	289,923,583	171,583,004	59.2%	2,164.8%	3.9%
Indonesian/ Malaysian	302,430,273	169,685,798	56.1%	2,861.4%	3.9%
French	422,308,112	144,695,288	34.3%	1,106.0%	3.3%
Japanese	126,854,745	118,626,672	93.5%	152.0%	2.7%
Russian	143,895,551	109,552,842	76.1%	3,434.0%	2.5%
German	97,025,201	92,304,792	95.1%	235.4%	2.1%
TOP 10 LANGUAGE S	5,193,327,701	3,346,642,747	64.4%	1,123.0%	76.3%
Rest of the LANGUAGE WORLD	2,522,895,508	1,039,842,794	41.2%	1,090.4%	23.7%
TOTAL	7,716,223,209	4,386,485,541	56.8%	1,115.1%	100.0%

NOTES: Top Ten Languages Internet Stats were updated in April 30, 2019.
स्रोतः इंटरनेट वर्ल्ड stats https://www.internetworldstats.com/stats7.htm

क्या कारण है कि भारत में करोड़ों इंटरनेट उपभोक्ता होने पर भी भारत की कोई भी भाषा इंटरनेट पर उपयोग की जाने वाली भाषाओं में अपना स्थान नहीं रखती? मुख्य हिंदी की वेबसाइट्स के लाखों पाठक हैं, फिर भी हिंदी का कहीं स्थान न होना, किसी भी हिंदी प्रेमी को सोचने पर मजबूर कर देगा कि आखिर ऐसा क्यों है? हमें बहुत से प्रश्नों के उत्तर खोजने होंगे और इनके समाधान के लिए ठोस कदम उठाने होंगे। हिंदी पर गोष्ठियों और सम्मेलनों के साथ–साथ हिंदी वेब और प्रौद्योगिकी की कार्यशालाएँ हों। सबसे बड़ी बात, विदेश में हिंदी का प्रचार–प्रसार करना है, तो पद, पुरस्कार और कुर्सी की राजनीति को छोड़ ईमानदारी से हिंदी पर काम हो।

संदर्भ :

- Internet World Stats https://www.internetworldstats.com/stats7.htm [Accessed 15 Sept 2019]
- The Global Disinformation Order: 2019 Global Inventory of Organised Social Media Manipulation, University of Oxford Available at: https://comprop.oii.ox.ac.uk/research/cyber-troops2019/ [Accessed 26 Sept 2019]
- गगनांचल, अक्टूबर–दिसम्बर 2002, पृष्ठ 36
- विश्वजाल पर प्रवासियों की अभिव्यक्ति – पूर्णिमा वर्मन
- **Hindi: Journals & Magazines, The University of British Columbia** http://guides.library.ubc.ca/c.php?g=k307090&p=k2048675
- न्यू मीडिया : उद्भव, विकास और भविष्य – रोहित कुमार 'हैप्पी', पृष्ठ 16, पत्रकारिता का बदलता स्वरूप और न्यू मीडिया संपादक – डॉ. अशोक अरोड़ा ,
- हिंदी नेस्ट http://hindinest.com
- न्यूज़ीलैंड की हिंदी पत्रकारिता जनकृति (विमर्श केंद्रित अंतरराष्ट्रीय मासिक ई–पत्रिका) ISSN 2454-272, Vol.1, issue.9, November 2015, http://www.jankritipatrika.com/#sthash.fD8PR9IM.dpuf
- हिंदुस्तान लाइव https://www.livehindustan.com/blog/shabd/story-hindi-diwas-2017-know-all-about-thousands-of-years-of-hindi-1508868.html [Accessed 30 Sept 2019]

ब्रिटेन में हिंदी मीडिया का इतिहास और वर्तमान

– डॉ. जवाहर कर्नावट
भोपाल, भारत

ब्रिटेन ने अपने लगभग दो सौ वर्षों के शासनकाल में जिस प्रकार भारत में एक छोटा ब्रिटेन बनाया था, उसी प्रकार आज ब्रिटेन में एक छोटा भारत बस गया है। वर्ष 1999–2000 में ब्रिटेन की अनुमानित जनसंख्या 56.9 मिलियन थी और इसमें भारतवंशियों की संख्या थी 1.3 मिलियन अर्थात् 2.11 प्रतिशत, किंतु अब अनुमानित जनसंख्या लगभग 65.13 मिलियन है और भारतवंशियों की संख्या लगभग 1.5 मिलियन है। इस प्रकार जातीय अल्पसंख्यकों का सबसे बड़ा समूह ब्रिटेन में भारतवंशियों का ही है। शेष सभी देशों के यहाँ बसे लोगों की संख्या उनसे कम ही है।

ब्रिटेन में हिंदी पत्रकारिता की शुरूआत सन् 1883 से मानी जाती है। पत्रकारिता के इतिहासकारों ने उत्तरप्रदेश के प्रतापगढ़ जनपद की एक देशी रियासत कालाकांकर के राजा रामपाल सिंह द्वारा प्रकाशित 'दैनिक हिन्दुस्तान' को प्रथम हिंदी दैनिक पत्र की मान्यता प्रदान की थी, जिसका प्रकाशन सन् 1885 में प्रारम्भ हुआ था। इसके पूर्व राजा रामपाल सिंह ने हिन्दुस्तान का त्रैमासिक प्रकाशन इंग्लैण्ड में लंदन से सन् 1883 में किया था। इसका प्रकाशन सन् 1883 से 1885 तक हुआ। प्रारंभ में यह हिंदी तथा अंग्रेज़ी में प्रकाशित होता था। किंतु कुछ समय पश्चात् इसमें उर्दू को भी शामिल किया गया। इस पत्र के द्वारा राजा रामपाल सिंह ने ब्रिटिश संसद में भारतीयों को प्रतिनिधित्व देने की पुरजोर वकालत की। परिणामस्वरूप सन् 1986 में ब्रिटिश संसद में सर सैयद अहमद को सदस्यता प्राप्त हुई। यह पत्र इंग्लैंड की धरती पर भारतीय राष्ट्रीयता का डंका बजाने वाला पहला पत्र माना गया। हालाँकि ब्रिटिश लाइब्रेरी, लंदन के एशिया सेक्शन में मैंने इसके सन्दर्भ ढूँढने की बहुत कोशिश की, किंतु इसकी एक भी प्रति नहीं मिल पाई। जब कि विश्व के विभिन्न देशों से प्रकाशित अनेक हिंदी समाचार–पत्र वहाँ देखने को मिले।

लंदन की ब्रिटिश लाइब्रेरी में हिंदी समाचार–पत्रों की खोजबीन में मुझे एक ऐसा समाचार–पत्र देखने को मिला, जिसकी कल्पना भी नहीं थी। यह समाचार–पत्र है – 'तस्वीरी अख़बार'। इस समाचार–पत्र में केवल तस्वीरें प्रकाशित होती थीं और तस्वीरों का विवरण चार भाषाओं – हिंदी , तमिल, उर्दू और अंग्रेज़ी में प्रकाशित होता था। इस अखबार के 15 अक्तूबर 1919 के अंक में प्रकाशित निम्नलिखित बिंदुओं से तस्वीरी अखबार के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त हो पायी है –

1. समाचार–पत्र का शीर्षक भी चार भाषाओं क्रमशः हिंदी, तमिल, उर्दू और अंग्रेज़ी में प्रकाशित है।
2. मुख्य पृष्ठ पर ही चार भाषाओं में दर्शाया गया है – ''प्रति मास में दो बार प्रकाशित''
3. अखबार के मुख पृष्ठ पर एक बड़ी तस्वीर छपी है, जिसका विवरण भी चार भाषाओं में है तथा अन्य पृष्ठों पर छोटी तस्वीरों के विवरण भी चार भाषाओं में प्रकाशित हुए हैं ।

इस अख़बार के अंतिम पृष्ठ पर प्रेस लाइन इस तरह प्रकाशित है –

''यह पत्र मिलफ़ॉर्ड लेन प्रेस स्ट्रेराड लंदन में मुद्रित हुआ। सब प्रकार का अनुसंधान (पूछताछ) उक्त पते से करना चाहिए।''

इस प्रकार तस्वीरी अखबार समाचार–पत्र की विषयवस्तु अन्य समाचार–पत्रों से भिन्न थी। इस अखबार से यह तथ्य भी सामने आया कि 1919 में लंदन में अंग्रेज़ी के साथ हिंदी, तमिल और उर्दू का भी मुद्रण कार्य होता था।

19वीं सदी के छठे दशक में ब्रिटेन के खुले निमंत्रण पर बहुत बड़ी संख्या में भारतीयों का आप्रवासन इंग्लैंड में हुआ। इस दौरान अनेक भारतीय संस्थाएँ बनीं। सामाजिक एवं सांस्कृतिक आधार के साथ उनका मुख्य लक्ष्य था भारतीयों की एकजुटता। भारतीयों की सामाजिकता पनपने लगी। साथ ही धीरे–धीरे स्वतंत्र अभिव्यक्ति के द्वार भी खुलने लगे। यह निश्चय किया गया कि भारत के साथ जुड़े रहने के लिए और विदेश में भी अपने आधार को मज़बूत बनाने के लिए यह नितांत आवश्यक है कि स्वयं को

उस सांस्कृतिक भाव–भूमि से अलग न किया जाए, जो उनके वर्चस्व की शक्ति है, उनकी अपनी पहचान है। अपनी भाषा को उन्होंने इसका एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण जोड़क तत्व माना।

इसी भावना को दृष्टिगत रखते हुए सातवें दशक में हिंदी में अनेक पत्र–पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। इंग्लैंड में बसी प्रख्यात हिंदी लेखिका उषा राजे सक्सेना का मुझे हस्तलिखित 'प्रवासिनी' पत्रिका का अंक प्राप्त हुआ। मई 1966 में इस पत्रिका का प्रकाशन श्री धर्मेंद्र गौतम के सम्पादन में हिंदी प्रचार परिषद्, लंदन द्वारा किया गया। इस हस्तलिखित पत्रिका में भारत के राष्ट्रपति स्व. डॉ. राजेन्द्र प्रसाद का पत्र भी प्रकाशित हुआ है। इसके अलावा तत्कालीन उपराष्ट्रपति डॉ. ज़ाकिर हुसैन, गृहमंत्री श्री गुलज़ारीलाल नन्दा एवं रक्षा मंत्री श्री यशवंतराव चव्हाण की शुभकामनाएँ भी प्रकाशित की गई हैं।

डॉ. राधाकृष्णन ने अपने 19 मई 1966 के पत्र में स्वतंत्रता अंक की शुभकामनाएँ देते हुए पत्रिका की छपाई का प्रबंध होने की आशा भी व्यक्त की है। इस प्रकार ब्रिटेन में हिंदी पत्रकारिता की एक नयी शुरुआत हुई। इसी प्रयास को आगे बढ़ाते हुए 1967 में भारतीय स्वतंत्रता–दिवस के उपलक्ष्य में 'चेतक' द्विभाषिक (हिंदी–अंग्रेज़ी) पत्रिका की शुरुआत हुई। श्री नरेश भारतीय के सम्पादन में भारतीय युवक संघ की ओर से इस पत्रिका को भी हस्तलेख में छपवाकर निकाला गया। इस पत्र के संपादक श्री नरेश भारतीय ने लंदन से प्रकाशित पुरवाई के जुलाई–सितम्बर 2002 अंक में अपनी भावनाएँ व्यक्त करते हुए 'चेतक' के बारे में लिखा – ''सरपट दौड़ा था चेतक, क्योंकि उसे आप्रवासी भारतीयों के समक्ष उभरती चुनौतियों का सफल सामना करने के लिए तथा रणभूमि में उन्हें विजयी बनाने के लिए भारतीय युवाओं की एक प्रेरणा बनना था। लेकिन क्यों नहीं बचा रह सका चेतक? क्या हुआ उसका? कहाँ है अब वह?'' आगे वे लिखते हैं ''चेतक और प्रवासिनी की जीवन–यात्रा साधनों के अभाव के कारण बहुत लम्बी नहीं रह पाई। तीन–चार वर्ष जीये दोनों ही। इस पर भी प्रयोग प्रभावी था, सफल था। हिंदी पत्रकारिता की नींव रखी जा चुकी थी, विदेश में राष्ट्रभाषा के महत्त्व को रेखांकित किया जा चुका था।''

इसी श्रृंखला में ब्रिटेन में हिंदी पत्रकारिता की मशाल जलाए रखने का कार्य अमरदीप साप्ताहिक से हुआ। श्री जगदीश मित्र कौशल के सम्पादन में अमरदीप की शुरुआत 23 मार्च 1971 को हुई। उस समय पश्चिमी देश यू.के. में हिंदी का समाचार–पत्र शुरू करना आसान नहीं था। श्री कौशल 1966 में जालंधर (पंजाब) से इंग्लैंड आए थे और दो साल की कड़ी मेहनत के बाद 1968 में साउथ हॉल में मकान खरीदकर स्थायी रूप से बस गए। फिर 1970 में हिंदी साहित्य सभा यू.के. के नाम से एक हिंदी संस्था स्थापित कर उसके महासचिव बन गए।

उसी सभा के अंतर्गत 8 अगस्त 1970 में साउथ हॉल में एक विशाल हिंदी सम्मेलन किया गया, जिसमें उस समय के भारतीय उच्चायुक्त श्री आपा.बी. पंत मुख्य अतिथि थे। यह समारोह अत्यंत सफल रहा। इस समारोह के बारे में संपादक श्री कौशल ने प्रवासी संसार पत्रिका के जनवरी–मार्च 2014 में प्रकाशित आलेख यू.के. में 'अमरदीप' के शानदार तीस साल में स्वयं लिखा है –

''लोगों में हिंदी प्रचार–प्रसार के प्रति बड़ा उत्साह था। उस समारोह में हिंदू, सिख, मुसलमान सभी सम्मिलित थे और पंत साहब के शब्दों में पश्चिमी देशों में होने वाला यह इतना बड़ा पहला समारोह था। इस समारोह को बी.बी.सी. टेलीविजन ने कवर किया तथा इसके लिए बी.बी.सी. एशियन कार्यक्रम के निदेशक श्री महेन्द्र कौल स्वयं उपस्थित थे। बस फिर क्या था, चारों ओर से मुझ पर दबाव बढ़ने लगा कि मैं हिंदी प्रचार–प्रसार के कार्यक्रम को आगे बढ़ाऊँ तथा एक हिंदी साप्ताहिक भी यू.के. में शुरू करूँ। इस आग्रह को मैंने भी भारतीय संस्कृति के प्रचार के सपने को आगे बढ़ाने के लिए पहला पग समझकर एक चुनौती के रूप में स्वीकार किया और उसके लिए सामान लेने के लिए भारत चला गया। वहाँ पर 23 फ़रवरी 1970 को उस समय के राष्ट्रपति श्री वी.वी. गिरि से भेंट कर उनका आशीर्वाद प्राप्त किया और हिंदी की लीडिंग आदि लेकर इंग्लैंड वापस आ गया। 19 मार्च 1971 को कंपनी रजिस्ट्रेशन ऑफ़िस में 'अमरदीप' को रजिस्टर्ड करा दिया गया।''

इस प्रकार 'अमरदीप' की शुरुआत सरदार भगतसिंह के जन्मदिन 23 मार्च 1977 को ज़ोर–शोर से हुई। श्री कौशल के साथ अनुभवी पत्रकार सरदार ज्ञानी अजायब सिंह भी जुड़ गए। छोटे से प्रेस में लीडिंग के साथ समाचार के शीर्षक

बनाए जाते तथा विशेष रूप से बनाए गए ओलम्पिया हिंदी टाइपराइटर पर टाइप करके समाचार तैयार किए जाते। 1974 में 'अमरदीप' का कार्यालय लंदन में खोल दिया गया।

इस प्रकार 3–4 सालों में 'अमरदीप' अपने पैरों पर मज़बूती से खड़ा हो गया। इस समाचार–पत्र की प्रसिद्धि के कारण ही ब्रिटेन की महारानी ने 1976–77 को जुबली वर्ष के समारोह में कुछ एथनिक कार्यकर्ताओं के साथ 'अमरदीप' के संपादक को भी आमंत्रित किया। 1979 में अमरदीप साप्ताहिक के 8 वर्ष पूरे होने के अवसर पर लंदन के हिल्टन होटल में एक विशेष समारोह 'अमरदीप नाइट' का आयोजन किया, जिसमें इंग्लैंड के अनेक गण्यमान्य व्यक्ति शामिल हुए। 'अमरदीप' के भारतीय पर्वों पर अनेक विशेषांक प्रकाशित हुए। प्रवासी भारतीयों को एकजुट करने तथा उनकी समस्याओं के निराकरण में भी 'अमरदीप' ने सार्थक भूमिका का निर्वाह किया।

हिंदी के प्रचार–प्रसार में भी 'अमरदीप' का योगदान सराहनीय रहा। ब्रिटेन की सरकार द्वारा गठित 'स्वैन कमेटी' के माध्यम से प्रवासियों के लिए सामुदायिक भाषा की सिफ़ारिश में भी अमरदीप की प्रमुख भूमिका रही। इस रिपोर्ट से हिंदी के प्रचार–प्रसार में काफ़ी सहायता मिली। 'अमरदीप' में समाचारों के अतिरिक्त लघुकथाएँ, लेख, कविताएँ, पाक विधियाँ, चुटकुले आदि भी प्रकाशित होते रहते हैं। समय–समय पर इसमें धारावाहिक उपन्यास भी छापे जाते हैं। 'अमरदीप' ने लगभग 30 वर्षों तक इंग्लैंड की धरती पर हिंदी पत्रकारिता का अलख जगाए रखा।

सन् 1967 में ज्योति प्रिंटर्स से हिंदी–गुजराती मासिक पत्र 'सर्जन' तथा इसके बाद अंग्रेज़ी और हिंदी में 'आर्य सन्देश' मासिक पत्रिका प्रकाशित होने का ज़िक्र श्री कामता कमलेश के 'वैचारिकी' पत्रिका (कोलकाता) के सितम्बर–अक्तूबर 2013 अंक में प्रकाशित लेख से मिलता है। किंतु इनका कोई अंक अभी तक देखने को नहीं मिला है। ब्रिटिश लाइब्रेरी के एशिया विभाग में 'नवीन वीकली' नामक हिंदी समाचार–पत्र भी मुझे देखने को मिला। यह पत्र 1975 में लंदन से प्रकाशित हुआ था, किंतु इसके कुछ अंक ही प्रकाशित हो पाए।

यू.के. हिंदी समिति की ओर से 'हिंदी' त्रैमासिक पत्र का प्रकाशन जुलाई 1990 में हुआ। इसके संस्थापक–संपादक श्री प्रेमचंद सूद थे। लंदन से ही सन् 1997 में पुरवाई त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन यू.के. हिंदी समिति के माध्यम से श्री पद्मेश गुप्त के संपादन में प्रारंभ हुआ। 'पुरवाई' का प्रकाशन प्रवासी लेखन को प्रोत्साहित करने में मील का पत्थर साबित हुआ। इसमें संदेह नहीं कि विश्व और भारत के बीच 'पुरवाई' एक सार्थक साहित्यिक सेतु बनकर उभरी। 'पुरवाई' के लेखकीय संसार में जहाँ भारत से कमलेश्वर, इंदु जैन, रामदरश मिश्र, कमल कुमार, डॉ. शिवमंगलसिंह 'सुमन', गोविंद पंत, केदारनाथ सिंह, कुँवर बेचैन, विक्रम सिंह, केशरीनाथ त्रिपाठी, बेकल उत्साही, अशोक चक्रधर, नरेश शांडिल्य, अनिल शर्मा आदि शामिल हैं, तो ब्रिटेन से सत्येन्द्र श्रीवास्तव, उषा राजे, पद्मेश गुप्त, प्राण शर्मा, नरेश भारतीय, दिव्या माथुर, सोहन राही, गौतम सचदेव, शैल अग्रवाल, तितिक्षा शाह, दिवाकर शुक्ल, तेजेन्द्र शर्मा, तोषी अमृता आदि शामिल हैं। ब्रिटेन के अतिरिक्त 'पुरवाई' में अमेरिका, जापान, मॉरीशस त्रिनिदाद, फ़िजी, नॉर्वे, रोमानिया, हंगरी आदि जैसे देशों के रचनाकारों का भी योगदान रहा है। वस्तुतः आज ब्रिटेन में हिंदी के कई ऐसे रचनाकार हैं, जिनकी रचनाएँ पहली बार 'पुरवाई' में प्रकाशित हुईं और साथ ही कुछ ऐसे भी लोग हैं, जिन्होंने 'पुरवाई' के लिए ही लिखना आरम्भ किया और आज देश–विदेश की पत्र–पत्रिकाओं में छपकर ख्याति अर्जित कर रहे हैं।

पुरवाई पत्रिका ने पिछले 20 वर्षों में विदेश की हिंदी पत्रकारिता में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। दिनांक 7 नवंबर 2010 को नेहरू केंद्र, लंदन में यू.के. हिंदी समिति की बीसवीं वर्षगांठ के अवसर पर यू.के. में हिंदी पत्रकारिता पर सेमिनार आयोजित हुआ था। इस अवसर पर 'पुरवाई' के संपादक श्री पद्देश गुप्त ने पुरवाई के पिछले 13 सालों की उपलब्धियों और कार्यों का उल्लेख करते हुए ठीक ही कहा कि *''पुरवाई पत्रिका एक अंतरराष्ट्रीय अभियान है। यह अभियान है नए रचनाकारों के मंच का प्रवासी भावनाओं की अभिव्यक्ति का और अभियान विश्व के हिंदी लेखकों को जोड़ने का''।* अब 'पुरवाई' का रूप प्रिंट से बदलकर डिजिटल हो गया है। लंदन के कथाकार श्री तेजेंद्र शर्मा इसका संपादन कर रहे हैं। आजकल लंदन से जनवाणी समाचार–पत्र का प्रकाशन भी हो रहा है ।

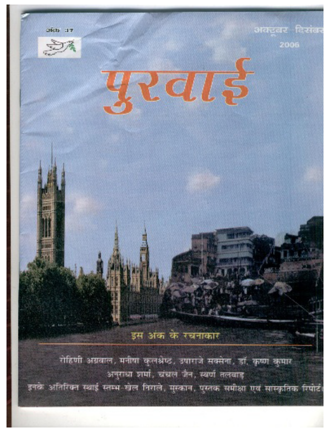

ब्रिटेन में हिंदी रेडियो

भारत की जनता को भारत के साथ ही विश्व की घटनाओं से हिंदी में परिचित कराने हेतु बी.बी.सी. हिंदी सेवा की साधारण–सी शुरुआत 11 मई 1940 को हुई। उस समय भारत में ब्रिटिश राज ही था। दुनिया दूसरे विश्वयुद्ध की लपटों में घिरी हुई थी। लाखों भारतीय सैनिक अपनी भूमि से दूर नाज़ी सेनाओं से जूझ रहे थे। ऐसे में स्वदेश में अपनी भाषा में खबरों से अवगत कराने के लिए बी.बी.सी. ने हिंदी में दस मिनट के प्रसारण की शुरुआत की। बी.बी.सी. विश्व सेवा का यही प्रसारण कुछ दशकों में एक से बढ़ते–बढ़ते चार सभाओं में हर रोज़ होने लगा और 1980 में हुए एक सर्वेक्षण के अनुसार बी.बी.सी. के हिंदी श्रोताओं की नियमित संख्या साढ़े तीन करोड़ से ऊपर पहुँच चुकी थी। इस प्रकार लंदन के बुश हाउस की पाँचवी मंज़िल पर एक कक्ष का यह एकांश हिंदी का सम्पूर्ण रेडियो स्टेशन हो गया, जिसमें श्रोताओं को समाचारों के साथ–साथ उनकी समीक्षा, व्यापार का आर्थिक उतार–चढ़ाव, विज्ञान की उपलब्धियाँ, खेल–कूद, संगीत, मनोरंजन की सारी सामग्री घर बैठे हर रोज़ मिल जाती थी। भारत से आने वाले अतिथियों में कोई नेता, कोई लेखक, कोई संगीतज्ञ, कोई कलाकार ऐसा नहीं हो सकता था, जिससे यहाँ वार्ता न हुई हो। 1940 से प्रारंभ हुई यह सेवा टेलीविजन क्रांति की भेंट चढ़ गई।

अब इसी बुश हाउस से बी.बी.सी. हिंदी की वेब सेवा प्रारंभ हो चुकी है, जो विश्वभर के समाचारों को इंटरनेट के माध्यम से उपलब्ध कराती है।

बी.बी.सी. हिंदी सेवा (रेडियो) बंद होने के बाद श्री अवतार लिट ने अपना गैर कानूनी रेडियो स्टेशन शुरू किया – 'सीमा रेडियो'। यह रेडियो एफ़.एम. चैनल पर आता था। इसकी पहुँच कम थी। गैरकानूनी होने के कारण डिपार्टमेंट ऑफ़ ट्रेड एण्ड इंडस्ट्री (DTI) छापामारी कर मशीनें आदि उठा ले जाता था। किंतु अवतार लिट डटे रहे। लंदन में एक और भी गैरकानूनी रेडियो था – संगम रेडियो। किंतु जनता ने इन रेडियो चैनलों को कानूनी रूप देने के लिए हस्ताक्षर कैम्पेन चलवाया। समर्थन में पत्र भिजवाए और अंततः कानूनी तौर पर 1413 एफ़.एम. पर लाइव हो गया। लंदन का भारतीय कानूनी रेडियो लाइव हो गया – इस प्रकार युनाइटेड किंग्डम में बहुत से कानूनी और गैरकानूनी रेडियो शुरू हुए, लेकिन यहाँ के हिंदी रेडियो का इतिहास सनराइज़ रेडियो के संघर्ष की दास्तान का पर्यायवाची है और श्री रवि शर्मा सनराइज़ रेडियो के पर्याय के रूप में सामने आए। श्री शर्मा का कहना है कि बी.बी.सी. में काम करके पत्रकारिता की भूख तो शांत हो जाती है, लेकिन आपके भीतर का कलाकार असंतुष्ट रह जाता है। इसके लिए कमर्शियल रेडियो ही सही जगह है। आज सनराइज़ रेडियो ब्रिटेन में अत्यंत लोकप्रिय हो चुका है। सनराइज़ रेडियो के ज़रिए यह प्रयास किया जा रहा है कि परिवार के तौर पर भारतवर्ष अपनी संस्कृति, त्यौहार, रीति–रिवाजों को ज़िन्दा रखें, तभी विश्व में हमारे लिए सम्मान होगा।

आज इंग्लैण्ड में टेलीविजन पर भारत से 'स्टार', 'ज़ी', 'सोनी', 'बी4यू' आदि चैनल आसानी से उपलब्ध हैं, किंतु वे

भारत के चैनल होने के कारण स्थानीय प्रवृत्ति की कमी सनराइज़ रेडियो जैसे संचार माध्यमों ने पूरी कर दी।

इस प्रकार ब्रिटेन में भारतीयों को अपनी भाषा और संस्कृति से जोड़े रखने में हिंदी पत्र–पत्रिकाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही।

सन्दर्भ :

1. ब्रिटेन में हिंदी – उषा राजे सक्सेना
2. 'पुरवाई' पत्रिका के विभिन्न अंक
3. 'विश्व हिंदी समाचार' पत्रिका का अक्टूबर – दिसंबर अंक, 2010, मॉरीशस
4. स्मारिका – बी.बी.सी. हिंदी के पचास वर्ष

jkarnavat@gmail.com

भारतवर्ष की राजभाषा चाहे जो हो और जैसी भी हो पर इतना निश्चित है कि भारतवर्ष की केन्द्रीय भाषा हिंदी है। लगभग आधा भारतवर्ष उसे अपनी साहित्यिक भाषा मानता है, साहित्यिक भाषा अर्थात् उसके हृदय और मस्तिष्क की भूख मिटाने वाली, करोड़ों की आशा–आकांक्षा, अनुराग–विराग, रुदन–हास्य की भाषा।

– हज़ारीप्रसाद द्विवेदी

गांधी की पत्रकारिता का भारतीय मॉडल

– डॉ. कमल किशोर गोयनका
दिल्ली, भारत

महात्मा गांधी बौद्धिक संसार में अध्ययन के शाश्वत विषय हैं। गांधी का जीवन तो हम भूलते जा रहे हैं, किंतु उनके विचारों की व्यापक दुनिया हमारा पीछा नहीं छोड़ रही है। नाथूराम गोडसे ने गांधी को तीन गोलियों से मारा था और हम विगत 70 वर्षों से उन्हें असंख्य गोलियों से मारते आ रहे हैं, परंतु गांधी हैं कि मरते ही नहीं। गांधी ने मशीनी सभ्यता के दुष्परिणामों के विरुद्ध विश्व को चेताया था तथा ग्रामीण एवं प्राकृतिक जीवन के निरंतर नाश से उत्पन्न होने वाले संकटों से सावधान किया था, परंतु विज्ञान एवं तकनीक जिस प्रकार जीव–सृष्टि के अस्तित्व के लिए संकट पैदा कर रही है, तब हमें गांधी की याद आती है और हम उनके विचारों में समाधान ढूँढने लगते हैं, लेकिन यह भी सत्य है कि गांधी के विचारों से कोई जागृति, कोई चिंतन तथा सभ्यता की दिशा मोड़ने की कोई कल्पना भी दिखाई नहीं देती और गांधी केवल बौद्धिक बहस के केंद्र बनकर रह जाते हैं। गांधी का वैचारिक वाङ्मय बहुत व्यापक है और यह कहा जा सकता है कि जीवन का कोई ऐसा विषय नहीं है, जिसपर गांधी ने विचार न किया हो और संभवतः यह भी एक कारण है कि विश्व की भाषाओं में जितने लेख तथा पुस्तकें गांधी पर लिखी गई हैं, उतनी किसी विश्व नायक पर न लिखी गई होंगी। इस सत्य के बावजूद यह भी सच है कि गांधी की पत्रकारिता और उनके पत्रकार के रूप में उनके अनुभवों को उनके देहावसान के बाद ही भुला दिया गया, जबकि लगभग चार दशकों तक उन्होंने पत्रकारिता की, अंग्रेज़ी–हिंदी–गुजराती–तमिल–उर्दू आदि भाषाओं की पत्रकारिता की और अंग्रेज़ी भाषा के साथ भारतीय भाषाओं की पत्रकारिता को भी समान महत्त्व दिया और इस रूप में वे पहले राष्ट्रीय पत्रकार थे। गांधी स्वयं को शौकिया पत्रकार कहते थे, लेकिन वे वास्तविक अर्थ में राष्ट्रीय पत्रकार थे और अंग्रेज़ी पत्रकारिता से वे वैश्विक पत्रकार बन गये थे। अतः भारत में गांधी जैसा कोई शौकिया पत्रकार नहीं हुआ, जिसने अपने राष्ट्र की धड़कनों और संघर्षों एवं सरोकारों को अपने समाचार–पत्रों का मूलाधार बनाकर राष्ट्रीय जागरण किया हो तथा अपनी राष्ट्रीय प्रतिबद्धताओं एवं चिंताओं के बावजूद विश्व की पत्रकारिता में अपने विचारों, कार्यों तथा आंदोलनों के पदचापों को अंकित किया हो। गांधी अपनी कर्मशीलता एवं विचारों के कारण राजनीति, धर्म, समाज, संस्कृति, अर्थ, आदि क्षेत्रों में महान बने और पत्रकारिता के क्षेत्र में भी उनका योगदान एवं उनकी महत्ता अस्वीकार नहीं की जा सकती।

गांधी की पत्रकारिता का इतिहास 4 जून, 1903 से आरंभ होता है, जब 'इंडियन ओपिनियन' का पहला अंक प्रकाशित हुआ और इस प्रवेशांक में गांधी का अग्रलेख 'अपनी बात' चार भाषाओं में छपा, लेकिन गांधी के इस दायित्व को ग्रहण करने तक की पृष्ठभूमि को समझना और जानना आवश्यक है। गांधी ने इंग्लैंड बैरिस्टरी करने जाने तक कोई समाचार–पत्र नहीं पढ़ा था, जबकि इंग्लैंड जाने के विदाई समारोह में उनके वक्तव्य का अंश 'काठियावाड़ टाइम्स' के 12 जुलाई, 1888 के अंत में छपा था। गांधी इंग्लैंड पहुँचे, तो दलपतराम शुक्ल के सुझाव पर उन्होंने लगभग एक घंटे तक 'डेली टेलीग्राफ़', 'डेली न्यूज़' आदि अंग्रेज़ी समाचार–पत्र पढ़ना शुरू किया, 'वेजिटेरियन' समाचार–पत्र में लेख छपवाये और उसमें ही उनका विदाई भाषण तथा उनसे लिया इंटरव्यू प्रकाशित हुआ। इस प्रकार गांधी 22 वर्ष की आयु तक अंग्रेज़ी समाचार–पत्रों की दुनिया के अंग बन गये थे और वे जब वकालत करने एवं सेठ अब्दुल्ला का मुकदमा लड़ने के लिए दक्षिण अफ़्रीका पहुँचे, तो उनकी पगड़ी एवं 'अनवेलकम विज़िटर' की समाचार–पत्रों में खूब चर्चा हुई, तो वे तीन–चार दिन में ही अनायास प्रसिद्ध हो गये और जब उन्होंने अदालत से वकालत करने का प्रमाण–पत्र लिया, तो 'वकील सभा' के विरोध करने पर समाचार–पत्रों ने गांधी का साथ दिया और गांधी के समर्थन तथा वकीलों की निंदा के समाचार प्रकाशित किये और इस प्रकार फिर समाचार–पत्रों ने गांधी की प्रसिद्धि बढ़ाने तथा उनके समर्थन में वातावरण बनाने में योगदान दिया। इसके बाद गांधी को दक्षिण

अफ़्रीका में लगभग बीस वर्ष तक रहने और प्रवासी भारतीयों के लिए संघर्ष करने का अवसर भी समाचार–पत्र की एक खबर से मिला। गांधी सेठ अब्दुल्ला का मुकदमा निपटाकर अंतिम रूप से भारत लौट रहे थे और उनका विदाई समारोह था कि गांधी ने एक अखबार में 'इंडियन फ्रेंचाइज' शीर्षक खबर देखी, जिसमें हिंदुस्तानियों से मताधिकार छीनने का सुझाव छपा था। गांधी ने इसका अर्थ सेठ अब्दुल्ला को समझाया कि हिंदुस्तानियों की आज़ादी एवं स्वाभिमान को नष्ट करने की साजिश की जा रही है। इसपर वह भोज–समारोह संघर्ष समिति में बदल गया। गांधी ने नेटाल में रहने का निर्णय किया, बिल के विरोध में प्रार्थना–पत्र धारा–सभा को भेजा, समाचार–पत्रों में खबर छपी यद्यपि बिल पास हो गया, लेकिन गांधी ने बिल के विरोध में उपनिवेश मंत्री लॉर्ड रिपन को अर्जी भेजी और भारत एवं इंग्लैंड के अखबारों को भी भेजी और भारत के 'टाइम्स ऑफ इंडिया' तथा इंग्लैंड के 'टाइम्स' ने इस अर्जी का समर्थन करते हुए इसे प्रकाशित किया और इस प्रकार गांधी पत्रकारिता के लिए एक विषय बनते चले गये। इसी प्रकार के दो प्रसंगों का उल्लेख भी जरूरी है। गांधी जनवरी, 1897 में दक्षिण अफ़्रीका पहुँचे तो गोरों ने उनका बड़ा विरोध किया, उन पर कई आरोप लगाये और गोरों की भीड़ उन्हें फाँसी देने के लिए नारे लगाती रही, लेकिन गांधी ने गोरों के इस आक्रमण को दोष न मानते हुए उनपर मुकदमा करना अस्वीकार कर दिया। समाचार–पत्रों ने इस बार भी गांधी का साथ दिया, उन्हें निर्दोष माना और गांधी ने भी 13 अप्रैल, 1897 को 'नेटाल मक्युरी' को अपना स्पष्टीकरण भेजा और गांधी की प्रतिष्ठा बढ़ी। गांधी 1896 में जुलाई–दिसंबर तक भारत में रहे थे और वे कोलकाता, प्रयाग, राजकोट, पूना आदि स्थानों पर समाचार–पत्रों के संपादकों से मिले थे। 'पायोनियर' ने उनके पत्रों–लेखों को प्रकाशित करने का आश्वासन दिया, 'स्टेट्समैन' तथा 'इंग्लिशमैन' ने उनकी लंबी मुलाकातें छापीं और इस प्रकार वे अंग्रेज़ी पत्रकारिता एवं संपादकों से अपने संबंध बनाने में सफल हुए। वे कई समाचार–पत्रों के नियमित पाठक थे, संपादकों को प्रकाशनार्थ पत्र लिखते थे और संपादकों से निजी संबंध बनाये रखते थे। गांधी ने समाचार–पत्रों के समुचित उपयोग की कला सीख ली थी। गांधी ने 27–28 वर्ष की आयु तक यह समझ लिया था कि वे समाचार–पत्रों से ही अपने विचारों का एवं कार्यों का विस्तार कर सकते हैं, प्रवासी भारतीयों में स्वाधीनता एवं स्वाभिमान की चेतना उत्पन्न कर सकते हैं तथा साम्राज्यवादी शासकों तक अपनी बात पहुँचा सकते हैं। संभवतः गांधी भारतीयों में अकेले थे, जो अपने समकालीनों में समाचार–पत्र की जादुई शक्ति को सबसे अधिक पहचानते थे और उसका अपने उद्देश्यों के लिए उपयोग करते थे।

गांधी की पत्रकारिता का श्रीगणेश दक्षिण अफ़्रीका के उनके प्रवास काल में हुआ। गांधी के महत्त्वपूर्ण कार्यों तथा विचारों का आरंभ प्रायः दक्षिण अफ़्रीका से ही हुआ, इसी कारण इतिहासकार मानते हैं कि गांधी को महात्मा गांधी दक्षिण अफ़्रीका ने ही बनाया। गांधी 34–35 वर्ष तक आते–आते अंग्रेज़ी पत्रकारिता की शक्ति समझ चुके थे और पत्रकारिता की रीति–नीति, विचार एवं उद्देश्यपरकता, प्रबंधन तथा मुद्रण एवं विवरण आदि जानने की प्रक्रिया में थे, लेकिन उसके आर्थिक पक्ष पर संभवतः उनकी गहरी दृष्टि नहीं थी, फिर भी वे भारत से प्रेस तथा उसके लिए एक व्यक्ति की व्यवस्था करना चाहते थे। वे इसमें असफल हुए, तो उन्हें जब सन् 1903 में अवसर मिला, तब उन्होंने पत्रकारिता में अपना कदम रखा और 4 जून, 1903 को 'इंडियन ओपिनियन' का पहला अंक प्रकाशित हुआ। इस कार्य में मदनजीत ने उनका सहयोग किया और अपनी प्रिंटिंग प्रेस से प्रकाशित किया। इस प्रवेशांक में तथा बाद के कई अंकों में गांधी ने अपने उद्देश्यों का स्पष्टीकरण किया। उन्होंने लिखा कि *''हिंदुस्तानियों के दुखों एवं दोषों को दूर करने के साथ उन्हें शिक्षित तथा मज़बूत बनाना चाहता हूँ तथा 'साम्राज्य की सेवा' तथा 'साम्राज्य भावना का पोषण' करके उनकी न्यायवृद्धि को जाग्रत करना चाहता हूँ।''* इस नीति का यह लाभ हुआ कि अनेक अंग्रेज़ उनके सहायक बने, अंग्रेज़ी समाचार–पत्रों ने उनकी मदद की और यूरोप के अनेक बुद्धिजीवी उनके समर्थक बने। गांधी इस लड़ाई को अपने आत्म–बल से ही लड़ना चाहते थे, परंतु वे समाचार–पत्र की शक्ति को भी जान गये थे, अतः उन्होंने लिखा कि जिस लड़ाई का आधार आंतरिक बल हो, तो वह अखबार के बिना चलाई जा सकती है, किंतु साथ ही मेरा अनुभव यह भी है कि 'इंडियन ओपिनियन' के होने से हमें कौम को आसानी से शिक्षा दे सकने

और संसार में जहाँ–जहाँ हिंदुस्तानी रहते हैं, वहाँ–वहाँ हमारी हलचलों की खबरें भेजने में आसानी हुई, जो दूसरी रीति से संभव नहीं। लड़ाई में 'इंडियन ओपिनियन' एक बड़ा उपयोगी और सबल साधन बना। गांधी ने माना कि पत्रकारिता में आत्म–बल के मिलने से उसकी प्रभाव शक्ति में वृद्धि होती है, क्योंकि उसका मूलाधार सेवा और समाज–हित है। समाचार–पत्र निजी नहीं समाज की संपत्ति है, अतः जनता ही उसकी मालिक है और यदि संचालकों में स्वदेशाभिमान है, तो कर्मचारी निम्नतम वेतन पर भी काम करेंगे।

गांधी ने अपने जीवन में, सन् 1903 से 30 जनवरी, 1948 तक चार समाचार–पत्र निकाले – 'इंडियन ओपिनियन', 'नवजीवन', 'यंग इंडिया', तथा 'हरिजन'। इसके अतिरिक्त 'बाम्बे क्रॉनिकल' तथा 'सत्याग्रही' का उल्लेख भी मिलता है, परंतु एक–दो अंकों के बाद ही ये समाचार–पत्र बंद हो गये। इस प्रकार ये चार समाचार–पत्र गांधी की पत्रकारिता के मूलाधार हैं और उसकी प्रकृति एवं विचार–दर्शन को समझने के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध कराते हैं। 'इंडियन ओपिनियन' जून, 1903 से जुलाई, 1914 तक गांधी के संपादकत्व में निकला और उसके बाद सन् 1958 तक मणिलाल गांधी और सुशीला गांधी के नेतृत्व में निकलता रहा। 'नवजीवन' और 'यंग इंडिया' सन् 1919 से जनवरी, 1932 तक और 'हरिजन' 11 फ़रवरी, 1933 से 30 जनवरी, 1948 तक गांधी के संपादकत्व में निकलता रहा, लेकिन इन समाचार–पत्रों का इतिहास अनेक बाधाओं और विपत्तियों से भरा पड़ा है। 'इंडियन ओपिनियन' से 'हरिजन' तक कई बार प्रकाशन बंद हुआ, प्रेस और कार्यालय की तलाशी हुई, पुराने रिकॉर्ड नष्ट किये गये और प्रेस सेंसरशिप का शिकार होना पड़ा। गांधी कई बार जेल में रहे, उनकी अनुपस्थिति में दूसरों ने संपादन का दायित्व उठाया और जुर्माना न जमा करने पर समाचार–पत्र के प्रकाशन पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इतने विकट अवरोधों तथा कठोर बाधाओं के होने पर भी गांधी का साहस, धैर्य तथा अभिव्यक्ति की व्याकुलता कभी कम नहीं हुई। सन् 1908 में कस्तूरबा बीमार पड़ी, तो वे जेल में थे और अपनी मुक्ति के लिए जुर्माना अदा करने को तैयार न थे और जब 'नवजीवन' पर प्रतिबंध लगा, तो उसकी दस हज़ार प्रतियाँ साइक्लोस्टाइल मशीन से मुद्रित करके बाँटी गईं। गांधी में स्वराज्य, स्वतंत्रता, स्वाभिमान, राष्ट्रोत्धार तथा लोक जागरण की इतनी प्रबल प्रतिबद्धता थी कि जेल की सलाखें, अपनी एवं पत्नी की बीमारी तथा सरकारी दंडात्मक कार्यवाहियाँ उनकी पत्रकारिता की मशाल को बुझा न सकीं। आप सहमत होंगे कि पत्रकार के रूप में गांधी जैसी सरकारी सेंसरशिप से टक्कर तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए सब कुछ समर्पित करने की क्षमता आपातकाल में केवल रामनाथ गोयनका में दिखाई देती है। मैं उस समय जेल में था और मैंने देखा कि बड़े–बड़े पत्रकार राग दरबारी के हिस्से बन गये थे। क्या यह स्वाधीन भारत में इमरजेंसी युग की उपलब्धि थी कि गांधी जैसी आत्मबली एवं आत्म बलिदानी वाली पत्रकारिता तानाशाही की गुलाम बन कर रह गई थी और दमन एवं दासता के विरुद्ध लेखनी निस्तेज हो गई थी? यह भारतीय पत्रकारिता का अंधकार युग था जबकि देश को गांधी की पत्रकारिता की लोकतंत्र की रक्षा के लिए आवश्यकता थी। यह और भी खेदजनक है कि भारतीय पत्रकारों ने संकट की इस घड़ी में गांधी की पत्रकारिता को याद तक नहीं किया।

गांधी ने अपनी पत्रकारिता के लगभग चार दशकों में पत्रकारिता का एक भारतीय मॉडल बना लिया था, बल्कि यह कहना उपयुक्त होगा कि दक्षिण अफ़्रीका में उन्होंने अपनी पत्रकारिता के आधारभूत तत्त्वों का निर्धारण कर लिया था और जब उन्होंने भारत में अपनी पत्रकारिता शुरू की, तब उन्होंने उन्हीं तत्वों तथा विशेषताओं का उपयोग किया और यदाकदा उनकी पुष्टि के साथ उनका विस्तार किया और दृढ़ता से उनका पालन किया। इनमें सर्वप्रमुख पत्रकारिता को देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता का आधार देना था। उनके संपूर्ण जीवन के कार्यों तथा विचारों में भारत माता का पुत्र होने तथा उसके हित के लिए अपना सब कुछ अर्पित करने का संकल्प है। उनके चार समाचार–पत्रों में 'इंडियन', 'यंग इंडिया', 'नवजीवन' तथा 'हरिजन' सभी के केंद्र में भारत की गुलाम जनता तथा उसके उद्धार की प्रबल कामना है। गांधी ने लिखा है कि पत्रकारिता उनका लक्ष्य नहीं है, बल्कि वह भारतीय स्वराज्य संघर्ष में उसके पूरक के रूप में ही उसका उपयोग है। इंग्लैंड में बैरिस्टरी करते समय अपने भारतीय

संस्कारों की रक्षा की, दक्षिण अफ़्रीका में अदालत के आदेश पर भी अपनी भारतीय पगड़ी नहीं उतारी, 'नेटाल इंडिया कांग्रेस' की स्थापना की, 'इंडियन ओपिनियन' में 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' तथा उसके नेताओं के समाचार छापते रहे और भारतीय पत्रकारों एवं समाचार—पत्रों से संपर्क बनाया, दक्षिण अफ़्रीका में भारतीयों के स्वाभिमान एवं अधिकारों की लड़ाई लड़ी, 'हिंद स्वराज' पुस्तक में भारत को एक राष्ट्र माना और भारतीय संस्कृति को सर्वश्रेष्ठ रूप में स्थापित किया और भारत आने पर तो उनकी पत्रकारिता की बुनियाद ही भारत को दासता से मुक्ति का संघर्ष था। गांधी ने अपनी पत्रकारिता में हिंदी, तमिल, उर्दू, गुजराती आदि भारतीय भाषाओं को महत्त्व देकर अपनी राष्ट्रीयता एवं देशाभिमान का परिचय दिया। पत्रकार के रूप में गांधी ने नये राष्ट्रीय समाचार—पत्रों का स्वागत किया, उन्हें अपने संदेश दिये, दूसरे समाचार—पत्रों की विपत्ति के समय उनका समर्थन किया और 'हिंदुस्तान टाइम्स' जैसे समाचार—पत्रों को निकम्मा मानते हुए उनकी कटु आलोचना से भी पीछे नहीं रहे। गांधी ने अंग्रेज़ी में पत्रकारिता की और अंग्रेज़ी में खूब लिखा भी, पर उन्हें इससे बहुत प्रसन्नता नहीं हुई। उन्होंने लिखा कि उनके लिए अंग्रेज़ी में अखबार निकालना इसलिए ज़रूरी है कि वे मुट्ठी—भर अंग्रेज़ी भाषियों तक अपनी बात पहुँचाना चाहते हैं, लेकिन वे भारतीय जनता तक तो भारतीय भाषाओं से ही पहुँच सकते हैं। गांधी की इस भाषा—नीति ने उन्हें देश के अधिकांश भाषा—क्षेत्रों तक पहुँचा दिया और इसके मूल में उनकी राष्ट्रीयता ही थी, जो उन्हें देश के लोक जीवन का सर्वाधिक स्वीकृत राष्ट्रनायक बना रही थी। अपनी इसी राष्ट्रभक्ति तथा राष्ट्रीय हित के लिए वे बार—बार कहते हैं कि वे अपने देश के लिए जीते हैं और उसी के लिए मरेंगे। गांधी की यही राष्ट्र निष्ठा उनकी पत्रकारिता में फलती—फूलती दिखाई देगी। गांधी की पत्रकारिता का आधार भारत और भारतीयता है और दक्षिण अफ़्रीका तथा भारत में उनके स्वराज्य संघर्ष के आधार भी यही थे — सत्य, अहिंसा, सहयोग, स्वाधीनता, नैतिकता, शुद्धता, प्रामाणिकता, धन एवं यश से विमुखता और लोक जागरण एवं लोक शिक्षा तथा देशहित के लिए निजता का त्याग। गांधी की पत्रकारिता उनके राजनीतिक उद्देश्यों की पूरक थी, इस कारण भी दोनों के उद्देश्यों, लक्ष्यों, कार्यप्रणालियों और उनके मूल में प्रेरक विचारों का एक रूप होना स्वाभाविक था। गांधी स्वयं को 'शौकिया संपादक' कहते थे, किंतु वे पूर्ण पत्रकार थे, स्वकर्मी और सर्वज्ञ थे। दक्षिण अफ़्रीका में तो उन्होंने प्रेस की मशीन तक चलाई, पाठकों का हिसाब—किताब रखा, कर्मचारियों को काम बाँटा और वितरण तक पर ध्यान रखा। गांधी ने लिखा कि वे हर सप्ताह समाचार—पत्र में अपनी आत्मा उड़ेलते हैं। वे आजीविका कमाना अपराध तथा सेवा भाव को सर्वोच्च कर्त्तव्य मानते थे। उनके विचारानुसार पत्रकार को देशसेवक होना चाहिए, कलम पर अंकुश होना चाहिए, सरकारी सेंसरशिप का विरोधी होना चाहिए तथा जुर्माना आदि आर्थिक दंड की अदायगी न करके जेल जाने तथा जान तक देने को तैयार रहना चाहिए। गांधी कहते हैं कि समाचार—पत्र एक ज़बरदस्त ताकत है और संपादक की निरंकुशता नाशवान है और बाहरी निरंकुशता और भी अधिक विषैली है, अतः आत्मानुशासन तथा अंदर का अंकुश ही लाभदायक है। गांधी प्रेस की स्वतंत्रता के समर्थक थे और स्वराज्य के लिए भाषण, सभा—सम्मेलन तथा मुद्रण की स्वतंत्रता चाहते थे। गांधी ने तिलक की उक्ति को उद्धृत किया है कि स्वतंत्रता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और उसे मैं लेकर रहूँगा। गांधी कई बार सेंसरशिप से दंडित हुए, जेल गये, प्रेस बंद हुई, परंतु वे पत्रकारों से कहते रहे कि सरकार सब कुछ कर सकती है, लेकिन आपकी कलम नहीं छीन सकती और न वाणी और यदि वह छीन भी ले, तो सरकार राष्ट्र का संकल्प नहीं दबा सकती। गांधी का यह संकल्प हमें तब दिखाई देता है, जब वे सेंसरशिप की अवज्ञा करके 'यंग इंडिया' और 'नवजीवन' को हस्तलिखित रूप में निकलवाते हैं और 'इंडिपेंडेंट', 'मदरलैंड' आदि समाचार—पत्रों का आपातकाल में हस्तलिखित समाचार—पत्र निकालने का समर्थन करते हैं और लिखते हैं कि हस्तलिखित समाचार—पत्र एक असाधारण समय के लिए असाधारण विरोचित उपाय है। गांधी तो सरकारी तथा संपादकीय दोनों की निरंकुशता के विरोधी हैं, लेकिन आज़ादी के लिए संपादक—पत्रकार द्वारा जान देने को गौरवमय सौभाग्य मानते हैं। गांधी पत्रकारिता को 'चौथा स्तंभ' मानते हैं और 'पत्रकार संघ' द्वारा पत्रकारों के लिए एक आचार—संहिता बनाने पर बल देते हैं। वे कहते हैं कि समाचार—पत्रों की स्वतंत्रता एक बहुमूल्य

अधिकार है, लेकिन रोकथाम की कोई आंतरिक व्यवस्था होनी चाहिए। आज देश में हर भाषा के पत्रकार–संघ हैं, लेकिन कोई आचार–संहिता ऐसी नहीं है, जो शत–प्रतिशत व्यवहार में आती हो।

गांधी समाचार–पत्र के संवाददाता और संवाद समितियों के दायित्व पर तथा उनके सत्यासत्य पर गंभीरता से विचार करते हैं। गांधी इंग्लैंड में युद्ध संवाददाता बन चुके थे और दक्षिण अफ़्रीका में रायटर के एक झूठे समाचार के कारण गोरों की भीड़ द्वारा पीटे गये और कठिनाई से अपनी जान बचा सके। गांधी ने लिखा है कि पत्रकारिता में सब कुछ अच्छा नहीं है और उसकी नैतिकता एवं प्रतिबद्धता में असत्य, पक्षपात, दायित्वहीनता और अश्लीलता का विषैला चेहरा छिपा है जो इस पवित्र कार्य को कलंकित करता है। गांधी इसी कारण झूठे समाचार, अफ़वाहों तथा गोपनीय एवं निजी पत्र–व्यवहार, भेंट, समझौता आदि का प्रकाशन घोर अनैतिक मानते हैं। वे खोजी पत्रकार के विरुद्ध हैं और जब किसी अखबार ने सुभाषचंद्र बोस तथा जिन्ना के साथ उनके निजी पत्र–व्यवहार को प्रकाशित कर दिया, तो उनके लिए यह असहनीयता तथा अनैतिकता का प्रसंग था। गांधी इस निरंकुश एवं स्वच्छंद पत्रकारिता के विरोधी थे। गांधी इसे अयोग्य आचरण का अपराध कहते हैं और पत्रकारिता के लिए 'शुद्ध प्रामाणिकता का और सच्चे व्यवहार' की नीति को सर्वोपरि मानते हैं। इस विचार के कारण गांधी एक बार तानाशाह बनकर सभी समाचार–पत्रों को बंद करना चाहते हैं, क्योंकि वे देश के शत्रु हैं, अतः वे 'बाइबिल', 'कुरान' और 'गीता' नहीं हैं। अतः ऐसे समाचार–पत्रों का बहिष्कार करना चाहिए।

गांधी की पत्रकारिता में समाचार–पत्र का प्रबंधन और उसका अर्थतंत्र महत्त्वपूर्ण अंग है। हमारी पत्रकारिता इस संबंध में बहुत कम जानती है। गांधी के समय में समाचार–पत्र प्रकाशन उद्योग नहीं था और न मीडिया के शिक्षण आदि की कोई व्यवस्था थी। गांधी पत्रकारिता में आने तक संपादकों को पत्र लिखना, समाचार प्रकाशित कराना, इंटरव्यू देना और संपादकों को मित्र बनाने की कला जान चुके थे। समाचार–पत्र के प्रबंधन के दो मुख्य भाग हैं – एक समाचार–पत्र का प्रकाशन विवरण तंत्र तथा दूसरा उसका आर्थिक तंत्र, जो उसके आर्थिक साधनों की व्यवस्था करता है। गांधी ने 'इंडियन ओपिनियन' के पहले अंक के प्रकाशन का अनुभव अपनी आत्मकथा में 'पहली रात' शीर्षक से लिखा है। समाचार–पत्र कैसे तैयार हुआ, छपा और विवरण के लिए रेलवे स्टेशन तक पहुँचा, उसकी बड़ी रोचक कहानी आपको उसमें मिलेगी। गांधी को संपादक के रूप में कई काम करने होते थे – समाचारों का चयन, समाचारों की कतरनें खरीदना, संवाद समितियों से संपर्क, मशीन और कर्मचारियों की व्यवस्था, कंपोज़िंग तथा प्रूफ़ रीडिंग की देखभाल, लेखकों से संपर्क, अनुवाद, आय–व्यय का लेखा–जोखा रखना, पाठकों के पत्रों के उत्तर, समाचार–पत्र का विवरण तथा पाठकों की संख्या बढ़ाना आदि लगभग सभी काम गांधी के द्वारा ही होते थे। समाचार–पत्र का संपादन, प्रकाशन, वितरण और हिसाब–किताब सब गांधी के हाथ में था और उनके प्रबंधन में उनका निर्णय अंतिम था। इस प्रबंधन में उसके आर्थिक पक्ष में कुछ ऐसी मौलिकता एवं विशिष्टता थी कि स्वाधीन भारत में उसे अपनाने की हिम्मत किसी में नहीं थी। गांधी ने बैरिस्टरी करते समय हिसाब–किताब रखना और किफ़ायत से रहना सीख लिया था और जिसे वे सारा जीवन करते रहे। 'इंडियन ओपिनियन' के कार्यकाल में गांधी की आर्थिक स्थिति कमज़ोर होती गई और उन्हें अपनी जेब से हज़ारों पाउंड लगाने पड़े। यदि उन्हें टाटा से पच्चीस हज़ार रुपयों की मदद नहीं मिलती, तो 'इंडियन ओपिनियन' बंद हो गया होता। उन्हें दक्षिण अफ़्रीका में पत्रकारिता के लिए कुल एक लाख बीस हज़ार रुपयों की मदद मिली थी। इस अनुभव से गांधी ने आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी होने की नीति बनाई, घाटे में होने पर समाचार–पत्र को बंद करने की सोची, ग्राहकों को मालिक बनाया और उन्हें नये–नये ग्राहक बनाने की जिम्मेदारी सौंपी, लेकिन अपनी नैतिकता, शुद्धता एवं समाज हित के लिए विज्ञापन का बहिष्कार करते रहे। गांधी का मत था कि विज्ञापन पश्चिमी पत्रकारिता की बुराई है, जो मूल उद्देश्यों से भटकाती है और पाठकों को भ्रम में रखती है। विज्ञापन अभिशाप है और उससे मुक्ति आवश्यक है, अन्यथा उन्हें नैतिक, विश्वसनीय और समाजोपयोगी बनाना होगा। गांधी की आर्थिक नीति में समाचार–पत्र से लाभ होने पर उसे सामाजिक कार्यों में लगाने का संकल्प था। 'नवजीवन' तथा 'यंग इंडिया' से पचास

हज़ार का लाभ हुआ, तो गांधी ने उसे गरीबों के उत्थान में लगाया और इसकी सूचना समाचार–पत्रों में प्रकाशित की। गांधी की अर्थनीति में व्यक्ति के आर्थिक हितों पर पूर्णतः अंकुश था तथा वे चाहते थे कि संपादक और मालिक पत्रकारिता को आजीविका का साधन न बनायें और कर्मचारी अवैतनिक या कम वेतन पर काम करें, लेकिन गांधी के अलावा किसी अन्य के द्वारा ऐसा करना असंभव ही था। गांधी ने भारत आकर अपनी आजीविका की कभी चिंता नहीं की। समाज ने उन्हें इतना धन दिया कि उन्हें राष्ट्रीय कार्यों में कभी धन का अभाव नहीं रहा और इसके साथ घनश्यामदास बिड़ला और जमना प्रसाद बजाज जैसे मारवाड़ी पूंजीपतियों का आर्थिक सहयोग भी उन्हें मिला हुआ था। गांधी का यह ऐसा आदर्श था, जो केवल गांधी अथवा गांधी का कोई प्रतिरूप व्यक्ति ही कर सकता था।

गांधी की पत्रकारिता के इस विवेचन से यह कहा जा सकता है कि वे 'फ़्रीलांस जर्नलिस्ट' नहीं थे, जैसा कि वे स्वयं को कहते थे, बल्कि वे राष्ट्रीय पत्रकार थे और थे सर्वज्ञ एवं सर्वकर्मी। गांधी संपादक थे, प्रबंधक थे, नीति नियामक थे, अर्थतंत्र एवं प्रकाशन के नियंत्रक थे और उनका कोई बॉस या अधिकारी नहीं था, लेकिन यह सब ब्रिटिश दासता से मुक्ति और स्वराज्य संघर्ष के लिए था और भारत का कल्याण तथा भारतीयता की रक्षा मुख्य लक्ष्य था। गांधी समझ गये थे कि समाचार–पत्रों में लोक–जागरण एवं लोक–चेतना में परिवर्तन तथा राष्ट्रीय अस्मिता को जाग्रत करने की अद्भुत शक्ति है और इसी कारण वे अपने कार्यों, विचारों, सिद्धांतों तथा प्रतिमानों को चार दशकों तक अपने चार समाचार–पत्रों के द्वारा देश–विदेश में प्रचारित–प्रसारित करते रहे और इसके लिए उन्होंने अंग्रेज़ी के साथ भारतीय भाषाओं का भरपूर उपयोग किया। गांधी जानते थे कि वे भारतीय भाषाओं में समाचार–पत्र निकालकर ही देश के सभी क्षेत्रों तक पहुँच सकते हैं। उनकी चिंताएँ राष्ट्रीय–सांस्कृतिक थीं और इसके लिए संपूर्ण भारत को एक साथ जाग्रत करना आवश्यक था। गांधी ने इस प्रकार अपना एक पत्रकारिता दर्शन निर्मित किया, उसे अभिनव एवं विशिष्ट रूप में पत्रकारिता का भारतीय मॉडल बनाया, जिसमें राष्ट्र और समाज के हित में संपूर्णतः निजी लाभ एवं स्वामित्व का परित्याग है और सत्यता, नैतिकता एवं प्रामाणिकता के साथ लोक सेवा का संकल्प है। गांधी राजनीति की तरह पत्रकारिता में भी विशिष्ट एवं अकेले हैं और इसमें भी वे सर्वोत्तम परंपराओं की रचना करते हैं। गांधी की पत्रकारिता–दर्शन भारतीय पत्रकारिता का आदर्श दर्शन कहा जा सकता है, जिसे आज की पत्रकारिता छोड़ चुकी है, लेकिन उनकी यह चिंता हमें सावधान करती है कि समाचार–पत्र दुरुस्त नहीं होंगे और अपने धर्म को नहीं पहचानेंगे, तो आज़ादी किस काम की होगी? आज पत्रकारिता की जो दुर्दशा है, उसमें गांधी की इस चिंता–चेतावनी की सार्थकता अवश्य है कि नई नस्ल के पत्रकार और मालिक पत्रकारिता की पतनशीलता पर सोचें और गांधी से कुछ सीखें। गांधी का यह पत्रकारिता मॉडल उन्हें भारतीय प्रतिमानों की आत्मा से परिचित कराता रहेगा और उसकी प्रतिष्ठा पुनः स्थापित की जा सकेगी।

kkgoyanka@gmail.com,
khsvicechairmangoyanka@gmail.com

हिंदी को आप हिंदी कहें या हिन्दुस्तानी, मेरे लिए तो दोनों एक ही है। हमारा कर्तव्य यह है कि हम अपना राष्ट्रीय कार्य हिंदी भाषा में करें।

– महात्मा गांधी

डॉ. कमल किशोर गोयनका का प्रवासी साहित्य एवं अन्य प्रवासी पत्रिकाएँ

– श्री कृष्ण वीर सिंह सिकरवार
भोपाल, भारत

प्रेमचंद साहित्य के विशेषज्ञ के रूप में देश ही नहीं विदेशों में विख्यात प्रसिद्ध विद्वान आलोचक डॉ. कमल किशोर गोयनका आज किसी परिचय के मुहताज नहीं हैं। उनको सम्पूर्ण देश प्रेमचंद साहित्य के खोजी आलोचक के रूप में जानता है; उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व प्रेमचंदमय है तथा प्रेमचंद साहित्य पर किया गया कार्य आज हिंदी साहित्य जगत् में ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जितना कार्य डॉ. गोयनका ने प्रेमचंद साहित्य को लेकर किया है, उतना ही कार्य उन्होंने प्रवासी साहित्य पर भी किया है तथा आज वह प्रवासी साहित्य के प्रमुख हस्ताक्षर है। प्रस्तुत आलेख का केन्द्र बिंदु डॉ. कमल किशोर गोयनका का प्रवासी साहित्य व प्रवासी साहित्य पर केन्द्रित पत्रिकाएँ हैं। आशा है पाठकों को यह नवीन प्रस्तुति अवश्य पसंद आएगी। प्रस्तुत आलेख में प्रवासी साहित्य पर केन्द्रित मुख्य–मुख्य पत्रिकाओं का विश्लेषण करने का एक छोटा–सा प्रयास किया गया है।

प्रवासी भारतीय साहित्य अथवा प्रवासी हिंदी साहित्य की विवेचना विद्वान आलोचक अपने–अपने तरीके से विभिन्न प्रकार से करते रहे हैं। लेकिन मूल रूप से इसका अर्थ एक ही है; भारतीय मूल के विदेशों में रहने वाले लेखकों द्वारा किया गया सृजनात्मक लेखन प्रवासी साहित्य अथवा प्रवासी हिंदी साहित्य कहलाता है। भारतीय मूल के लोग समस्त विश्व में फैले हुए हैं, उन्होंने विदेशों को अपनी कर्मभूमि बनाया है और जिन्होंने हिंदी को केन्द्र में रखकर या माध्यम बनाकर जो साहित्य लिखा है, वह प्रवासी साहित्य है। प्रवासी हिंदी साहित्य के अन्तर्गत कविताएँ, उपन्यास, कहानियाँ, नाटक, एकांकी, महाकाव्य, खंडकाव्य, अनुदित साहित्य, यात्रा वर्णन, आत्मकथा आदि का प्रचुर मात्रा में सृजन हुआ है तथा यह यात्रा आज भी निर्बाध रूप से जारी है। उल्लेखनीय है कि 'प्रवासी' शब्द के उद्‌भव व विकास के संबंध में डॉ. कमल किशोर गोयनका स्पष्ट करते हैं कि ''इस शब्द का उद्‌भव महात्मा गांधी के दक्षिण अफ़्रीका के प्रवास के समय हुआ था, जब वे प्रवासी भारतीयों के अधिकार और स्वाभिमान की रक्षा के लिए संघर्ष कर रहे थे।'' (1)

इक्कीसवीं सदी का प्रारंभ होने तक पचास से भी अधिक साहित्यकार भारत में अपनी पुस्तकें प्रकाशित करवा चुके थे। वेब पत्रिकाओं का विकास हुआ, तो ऐसे साहित्यकारों को एक खुला मंच मिल गया और पाठकों तक पहुँचने का रास्ता भी। आज प्रवासी साहित्य पर केन्द्रित कई पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं, जो प्रवासी साहित्य को प्रचुर मात्रा में प्रकाशित कर रही हैं। वर्तमान प्रवासी साहित्यिक पत्रिकाओं पर प्रकाश डालने से पहले प्रवासी साहित्य की कुछ ऐतिहासिक यात्रा से पाठकों को अवगत कराना चाहता हूँ।

प्रवासी साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को परिभाषित करते हुए डॉ. गोयनका कहते हैं कि ''साहित्य में प्रेमचंद पहले लेखक थे, जिन्होंने अमेरिका से लौटे एक भारतीय प्रवासी के मातृभूमि प्रेम पर 'यही मेरी मातृभूमि है' कहानी की सन् 1908 में रचना की। इसके उपरान्त पं. बनारसी दास चतुर्वेदी ने प्रवासी भारतीयों के जीवन को देश के सम्मुख उजागर करने का कार्य किया। उन्होंने फ़िजी में 21 वर्ष रहे एक भारतीय के अनुभवों को शब्दबद्ध किया, जो 'फ़िजी द्वीप के मेरे इक्कीस वर्ष' शीर्षक से प्रकाशित हुए। चतुर्वेदी जी ने सन् 1918 में 'प्रवासी भारतवासी' तथा 'फ़िजी के भारतीय' पुस्तकों की भी रचना की। इससे फ़िजी, मॉरीशस, सूरीनाम आदि देशों में गए भारतीयों के शोषण और त्रासदी की ओर भारतीयों का ध्यान गया और पत्र–पत्रिकाओं में इन प्रवासी भारतीयों के जीवन पर लेख छपते रहे। सम्भवतः इसी से प्रभावित होकर प्रेमचंद ने मॉरीशस के प्रवासी भारतीय के जीवन पर 'शुद्रा' कहानी लिखी, जो 'चाँद' के नवम्बर, 1926 के अंक में प्रकाशित हुई। 'चाँद' का यह प्रवासी अंक था, जिसमें यह कहानी प्रकाशित हुई थी। कवि हरिवंशराय बच्चन जब अपने शोधकार्य के लिये इंग्लैंड गये, तब उन्होंने वहाँ से लौटकर 'प्रवासी की डायरी' लिखी, जो सन् 1962 में प्रकाशित हुई। इसके

उपरान्त मॉरीशस के अभिमन्यु अनत का प्रसिद्ध उपन्यास 'लाल पसीना' सन् 1977 में एक पत्रिका में धारावाहिक रूप में छपा तथा सोमावीरा एवं उषा प्रियम्वदा अमेरिका पहुँचकर वहाँ के प्रवासी जीवन पर कहानियाँ लिखकर भारत भेजती रही।'' (2)

प्रवासी साहित्य की यह यात्रा सन् 1908 से शुरू हुई तथा इस यात्रा ने आज हिंदी साहित्य की दुनिया में व्यापक रूप धारण कर लिया है। वर्तमान में प्रवासी साहित्य पर केन्द्रित कई पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं, जो हिंदी साहित्य के साथ–साथ प्रवासी साहित्य पर भी प्रमुखता के साथ सामग्री प्रकाशित कर रही हैं।

डॉ. सुधा ओम ढींगरा एक पत्रकार, कहानीकार, स्टेज कलाकार, उपन्यासकार व टी.वी. आदि के क्षेत्र में विशेष रूप से सक्रिय रही हैं और आज प्रवासी साहित्यकार के रूप में हिंदी प्रचारिणी सभा, कनाडा से प्रकाशित अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका 'हिंदी चेतना' के रूप में हिंदी की बहुमूल्य सेवा कर रही है। भारतीय प्रवासी साहित्यकारों की रचनाओं के साथ–साथ भारतीय रचनाकारों की रचनाओं को भी प्रमुख रूप से पत्रिका में स्थान मिलता है। पत्रिका के माध्यम से पाठकों को साहित्य की समस्त गतिविधियों से रूबरू कराया जाता है, जो सुधाजी के उत्कृष्ट संपादकीय की एक मिसाल हैं। पत्रिका की वेबसाइट www.hindichetna.com पर जुलाई 2009 से अब तक के सभी अंक पी.डी.एफ़. फ़ाइल के रूप में पाठकों को मिलेंगें। उल्लेखनीय है कि पत्रिका के परामर्श मण्डल में भारत के विख्यात आलोचक, प्रेमचंद साहित्य विशेषज्ञ डॉ. कमल किशोर गोयनका जी का पत्रिका को उत्कृष्ट बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। पद्मश्री विजय चोपड़ा भारत, पूर्णिमा वर्मन शारजाह, अफ़रोज ताज अमेरिका, निर्मला आदेश कनाडा, विजय माथुर कनाडा आदि प्रवासी रचनाकारों का पत्रिका को नई ऊँचाइयों पर पहुँचाने में उल्लेखनीय योगदान रहा है।

वैश्विक हिंदी चिंतन की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका 'विभोम स्वर' है। इस पत्रिका के साथ–साथ 'शिवना साहित्यिकी' नामक पत्रिका का भी प्रकाशन किया जाता है। इन दोनों पत्रिकाओं के संपादक श्री पंकज सुबीर एवं संरक्षक तथा प्रमुख संपादक डॉ. सुधा ओम ढींगरा जी है। सुधा ओम ढींगरा एक अच्छी लेखिका एवं प्रसिद्ध त्रैमासिक पत्रिका 'हिंदी चेतना' की मुख्य संपादिका भी है। यह पत्रिका आज देश ही नहीं विदेश में भी अपनी एक प्रतिष्ठा कायम कर चुकी है। पत्रिका का प्रकाशन मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल से लगभग 40 कि.मी. दूर सीहोर से किया जा रहा है। पत्रिका का प्रकाशन अभी हाल ही में अप्रैल–जून 2016 से होना प्रारंभ हुआ है। पत्रिका के अभी तक जितने भी अंक प्रकाशित हुए हैं, उन अंको में प्रकाशित सामग्री ने पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया है। आशा है प्रकाशित सामग्री आगे भी पाठकों का मार्गदर्शन करती रहेगी। पत्रिका में प्रवासी साहित्य एवं शोध आलेखों के अलावा, साक्षात्कार, व्यंग्य, भाषांतर, दोहे, कविताएँ, कहानियाँ, गज़लें, संस्मरण, दृष्टिकोण, आलोचना, किस्सागिरी, डायरी, खबर कथा, फ़िल्मी दुनिया से, पुस्तक समीक्षाएँ एवं साहित्यिक समाचार के तहत प्रस्तुत सामग्री पाठकों के लिए बहुमूल्य साबित होती है। पत्रिका की बेवसाइड www.vibhomswar.com पर पत्रिका के प्रवेशांक अप्रैल–जून 2016 से लेकर वर्तमान अंक पी.डी.एफ़. फ़ाइल के रूप में रखे गये हैं। इस त्रैमासिक पत्रिका की एक प्रति की कीमत 50 रुपये, वार्षिक 200 रुपये, दो वर्ष 400 रुपये, पाँच वर्ष 1000 रुपये एवं आजीवन सदस्यता 3000 रुपये हैं।

भोपाल, मध्य प्रदेश से ही 'प्रवासी भारतीयों की ई–मासिक पत्रिका' 'गर्भनाल' का प्रकाशन किया जाता है। यह पत्रिका पूर्व में प्रिन्ट रूप में प्रकाशित की जाती रही थी, परन्तु आज यह वेबजाल www.garbhnaal.com पर ई–पत्रिका एवं सीमित प्रिन्ट रूप में प्रकाशित की जा रही है। पत्रिका अपनी ज़मीन से दूर रहने वाले प्रवासी भारतीयों की आवाज़ को रखने के मंच के तौर पर एक मंच प्रदान करने का प्रयास कर रही है। 'गर्भनाल' आप्रवासी भारतीयों की मासिक ई–पत्रिका है, जो हर महीने पी.डी.एफ़. के रूप में वितरित की जाती है। इसे लगभग 50 हज़ार ई–मेल पतों पर भेजा जाता है। यह प्रयास अनवरत जारी है, दुनिया भर के हिंदी प्रेमियों ने इसे प्रोत्साहित किया और सराहा है। यह एक संपूर्ण साहित्यिक पत्रिका है। इस पत्रिका में हिंदी की दशा व दिशा के साथ–साथ, उसके स्वरूप व उसके विकास को प्रमुखता के साथ प्रकाशित किया जाता है। धार्मिक चर्चाएँ भी इस पत्रिका की एक प्रमुख खूबी है, जिसमें पाठकों के समक्ष रामायण, महाभारत, गीतासार आदि से संबंधित विभिन्न

रचनाकारों के विचार प्रमुखता से रखे जाते हैं। इस पत्रिका की संपादिका श्रीमती सुषमा शर्मा जी साहित्य की इस बहुरंगी यात्रा के लिए बधाई की पात्र है, जो इतनी बढ़िया साहित्यिक पत्रिका पाठकों तक निर्बाध रूप से पहुँचा रही हैं। पत्रिका की साइट पर पत्रिका के प्रथम प्रकाशन (नबंवर 2006) के बाद से वर्तमान अंक तक पी.डी.एफ़. फ़ाइल के रूप में संजोकर रखे गये हैं। पाठक नए अंकों के साथ–साथ पुराने अंकों को भी देख व पढ़ सकते हैं। इस लिहाज़ से यह एक सराहनीय कदम है। पत्रिका के परामर्श मंडल में डॉ. हाइंस वर्नर वेसलर (स्वीडन), डॉ. राघवेन्द्र झा (ऑस्ट्रेलिया), डॉ. दिनेश श्रीवास्तव (ऑस्ट्रेलिया), श्री अनिल जनविजय (रूस), श्री अजय भट्‌ट (बैंकॉक), श्री ललित मोहन जोशी (ब्रिटेन), श्री देवश पंत (अमेरिका), श्री उमेश तांबी (अमेरिका), श्री बी.एन. गोयल (कनाडा), श्रीमती आशा मोर (ट्रिनिडाड), डॉ. ओम विकास (भारत), डॉ. रविन्द्र अग्निहोत्री (भारत) आदि है। पत्रिका में मन की बात, डायरी, संस्मरण, विचार, विमर्श, व्याख्या, शोध, कहानी, कविता, रम्य–रचना, बातचीत, आपस की बात आदि विधाओं के तहत हिंदी साहित्य व प्रवासी साहित्य को प्रमुखता के साथ प्रकाशित किया जाता है।

www.vasudha1.webs.com पर टोरंटो, कनाडा से प्रकाशित साहित्यिक त्रैमासिक पत्रिका 'वसुधा' का प्रकाशन किया जाता है। पत्रिका का संपादन व प्रकाशन श्रीमती स्नेह ठाकुर जी कर रही हैं, जो भारत के राष्ट्रपति द्वारा पुरस्कृत लिम्का बुक रिकॉर्ड होल्डर से सम्मानित हैं तथा भारत के राष्ट्रपति द्वारा राष्ट्रपति भवन में 'हिंदी सेवी सम्मान' से सम्मानित हो चुकी हैं। इस पत्रिका में स्तरीय रचनाओं को शामिल कर प्रकाशित किया जाता है, जो रुचिकर एवं पठनीय है। पत्रिका का प्रकाशन पिछले 15 वर्षों से किया जा रहा है। पत्रिका के अभी तक 57 अंक प्रकाशित किए जा चुके हैं। पत्रिका की वेबसाइड पर आरंभिक अंक से लेकर वर्तमान अंक तक पी.डी.एफ़. फ़ाइल के रूप में पाठकों के अवलोकन हेतु रखे गये हैं। इस लिंक को पाठकों द्वारा देखा जाना उचित होगा।

'जनकृति' साहित्यिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक संस्था द्वारा प्रकाशित की जाने वाली बहुभाषी अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका है। पत्रिका का प्रकाशन मार्च 2015 से प्रारंभ हुआ था, जिसका उद्देश्य सृजन के प्रत्येक क्षेत्र में विमर्श के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण विषयों को पाठकों के समक्ष रखना है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए पत्रिका में साहित्य, कला, मीडिया, शोध, शिक्षा, दलित एवं आदिवासी, समसामायिक विमर्श स्तंभ रखे गए हैं। साथ ही अनुवाद, साक्षात्कार, प्रवासी साहित्य, जैसे महत्त्वपूर्ण स्तंभ पत्रिका को स्थाई महत्त्व प्रदान करते हैं। पत्रिका का एक उद्देश्य सृजन क्षेत्र के हस्ताक्षरों समेत नव लेखकों को प्रमुख रूप से मंच देना है। पत्रिका में शोधार्थी और शिक्षक हेतु शोध आलेख का स्तंभ भी है, जिसमें शोध आलेख प्रकाशित किए जाते हैं। पत्रिका का प्रमुख उद्देश्य समाज एवं सृजनकर्मियों के मध्य एक वैचारिक वातावरण तैयार करना है।

पत्रिका के परामर्श मंडल में डॉ. सुधा ओम ढींगरा (अमेरिका), प्रो. सरन घई (कनाडा), प्रो. अनिल जनविजय (रूस), प्रो. राज हीरामन (मॉरीशस), प्रो. उदयनारायण सिंह (कोलकाता), श्री ओमकार कौल (दिल्ली), प्रो. चौथीराम यादव (उत्तर प्रदेश), डॉ. हरीश नवल (दिल्ली), डॉ. हरीश अरोड़ा (दिल्ली), डॉ. रमा (दिल्ली), डॉ. प्रेम जन्मजय (दिल्ली), प्रो. जवरीमल पारख (दिल्ली), श्री पंकज चतुर्वेदी (मध्यप्रदेश), प्रो. रामशरण जोशी (दिल्ली), डॉ. दुर्गा प्रसाद अग्रवाल (राजस्थान), श्री पलाश विश्वास (कोलकाता), डॉ. कैलाश कुमार मिश्र (दिल्ली), प्रो. शैलेन्द्र कुमार शर्मा (उज्जैन), ओम पारिक (कोलकाता), प्रो. विजय कौल (जम्मू), प्रो. महेश आनंद (दिल्ली), निसार अली (छत्तीसगढ़) आदि हैं। पत्रिका के संपादक श्री कुमार गौरव मिश्र हैं। पत्रिका के विदेश प्रतिनिधि डॉ. अनीता कपूर (केलिफ़ोर्निया), डॉ. शिप्रा शिल्पी (जर्मनी), श्री राकेश माथुर (लंदन), मीना चोपड़ा (टोरंटो, कनाडा), पूजा अनिल (स्पेन), अरुण प्रकाश मिश्र (स्लोवेनिया), ओल्या गपोनवा (रशिया), सोहन राही (यूनाइटड किंगडम), पूर्णिमा वर्मन (यू.ए.ई.), डॉ. गंगा प्रसाद 'गुणशेखर' (चीन) आदि हैं।

सृजन के प्रत्येक क्षेत्र जैसे कविता, नवगीत, कहानी, लघुकथा, व्यंग्य, नाटक, सिनेमा, रंगमंच, आलोचना, समीक्षा में विमर्श को स्थापित करने के उद्देश्य से इस पत्रिका को प्रकाशित किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त पत्रिका में कई विमर्श स्तंभ है, जैसे शोध–विमर्श, बाल–विमर्श, लोक–विमर्श, सिने–विमर्श, रंग–विमर्श,

स्त्री–विमर्श, दलित एवं जनजाति–विमर्श, भाषिक विमर्श, शिक्षा–विमर्श एवं संपूर्ण विश्व में हिंदी के विकास हेतु हो रही गतिविधियों के लिए हिंदी विश्व नाम से स्तंभ रखा गया है। पत्रिका सृजन क्षेत्र से जुड़े सभी सृजनकर्मियों का स्वागत करती है। यह पत्रिका जहाँ एक ओर विश्व पटल पर सृजन क्षेत्र के प्रमुख हस्ताक्षरों को प्रस्तुत करती है, वहीं दूसरी ओर सृजन क्षेत्र में कदम रख रहे नव लेखकों के लिए एक अंतरराष्ट्रीय मंच भी प्रदान करती है।

www.viswahindi.com बेवसाइट पर भारत और मॉरीशस सरकार की द्विपक्षीय संस्था विश्व हिंदी सचिवालय द्वारा प्रकाशित वार्षिक शोध पत्रिका 'विश्व हिंदी पत्रिका' उपलब्ध होती है। इस पत्रिका में विश्व भर में हिंदी से संबंधित शोध के साथ–साथ प्रवासी साहित्य पर प्रचुर मात्रा में सामग्री प्राप्त होती है। अंतरराष्ट्रीय स्तर की इस पत्रिका में विश्व के कोने–कोने से हिंदी विद्वानों, रचनाकारों, शिक्षाविदों, भाषाविदों, तकनीकीविदों, अध्येताओं, पत्रकारों आदि की रचनाएँ प्रकाशित होती हैं। इस पत्रिका की छपाई आर्ट पेपर पर की गई है, जो अंतरराष्ट्रीय स्तर की मानक पत्रिकाओं में रखने योग्य कही जाएगी। पत्रिका की बेवसाइट पर वर्ष 2009 से लेकर वर्तमान अंकों को पी.डी.एफ़. फ़ाइल के रूप में रखा गया है। अभी तक पत्रिका के दस अंक प्रकाशित किए जा चुके हैं।

सचिवालय की दूसरी पत्रिका का नाम है 'विश्व हिंदी समाचार'। यह एक त्रैमासिक सूचना–पत्र है। इसमें दुनिया भर में हिंदी से जुड़ी भाषायी तथा साहित्यिक गतिविधियों के समा. चार प्रकाशित किए जाते हैं और इस तरह यह हिंदी प्रेमियों के लिए एक त्रैमासिक संदर्भ ग्रंथ का कार्य करती है। यह वर्ष 2008 से ही नियमित रूप से प्रकाशित हो रही है तथा आज उसे विश्व के कोने–कोने में हिंदी प्रेमियों का स्नेह प्राप्त है। पत्रिका के विभिन्न अंकों में मॉरीशस एवं भारत के अतिरिक्त, कनाडा, इंग्लैंड, कतार, संयुक्त अरब अमीरात, मिस्त्र, चीन, रूस, ओमान, कुवैत, सूरीनाम, दक्षिण अफ़्रीका, फ़िजी आदि देशों में घटित होने वाली महत्त्वपूर्ण हिंदी विषयक घटनाओं तथा आयोजनों का विवरण दिया जाता रहा है। पत्रिका के संपादकीय में हर बार हिंदी से जुड़ा कोई महत्त्वपूर्ण तथा ज्वलंत मुद्दा उठाया जाता है। इसके कलेवर, साज–सज्जा व आकर्षक प्रस्तुति की भी बहुत प्रशंसा होती रही है। पत्रिका की बेवसाइट पर वर्ष जून 2008 से लेकर वर्तमान अंकों को पी.डी.एफ़. फ़ाइल के रूप में रखा गया है। वर्ष 2018 से विश्व हिंदी सचिवालय द्वारा विश्व हिंदी साहित्य का प्रकाशन प्रारंभ किया गया है, जिसमें विश्व भर के रचनाकारों की मौलिक रचनाएँ प्रकाशित हो रही हैं।

'प्रवासी दुनिया.कॉम' एवं 'प्रवासी टुडे.कॉम' जैसी वेबसाइटों के माध्यम से प्रवासी फ़िल्म उत्सव के आयोजन व अंतरराष्ट्रीय हिंदी उत्सवों में सहयोग के माध्यम से प्रवासी मीडिया समूह प्रवासियों को भारत से जोड़ने के प्रयास में अपनी भूमिका का निर्वाह कर रहा है। जून 2005 में ब्रिटेन के हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स में 'प्रवासी टुडे' के प्रकाशन के साथ इस समूह की स्थापना डॉ. पद्देश गुप्त, अनिल जोशी, दिव्या माथुर, डॉ. सत्येन्द्र श्रीवास्तव, सरोज शर्मा, तितिक्षा शाह, के.के. श्रीवास्तव, नरेश भारतीय जैसे प्रमुख प्रवासियों के सहयोग से की गई थी। प्रवासी मीडिया समूह ने अक्षरम के साथ मिलकर अंतरराष्ट्रीय हिंदी उत्सवों के आयोजन और हिंदी ज्ञान प्रतियोगिता और अंतरराष्ट्रीय स्तर के कार्यक्रमों के माध्यम से वैश्विक स्तर पर हिंदी को प्रतिष्ठित करने का कार्य किया है। वैश्वीकरण के इस दौर में प्रवासी भारतीयों को जोड़ने के विशाल अभियान में इंटरनेट के माध्यम से प्रवासी टुडे.कॉम व प्रवासी दुनिया.कॉम की स्थापना से वैश्विक स्तर पर लाखों की संख्या में प्रवासी जुड़े और देखते–देखते यह दोनों वेबसाइट अपनी–अपनी भाषाओं में शीर्षस्थ वेबसाइट बन गई, जिन्हें इस समय लगभग 175 देशों के 6600 शहरों के 10000 प्रवासी रोज़ पढ़ते हैं। पत्रिका, वेबसाइट और कार्यक्रमों के माध्यम से प्रवासी मीडिया समूह विश्व भर के प्रवासियों को भारत से जोड़ने का सबसे बड़ा मंच बन गया है।

लंदन से संचालित साहित्य जगत की प्रमुख और चर्चित पत्रिका 'पुरवाई' त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन किया जाता है। पत्रिका के संपादक श्री तेजेन्द्र शर्मा हैं जो खुद एक प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं तथा लंदन में रहकर हिंदी साहित्य जगत की सेवा कर रहे हैं। पत्रिका में शोध–आलेख, कहानी, यात्रा–वृत्तान्त, व्यंग्य, कविताएँ, दोहे, गज़लें, लघुकथाएँ, पुस्तक समीक्षा आदि साहित्यिक सामग्री के साथ प्रवासी साहित्य को भी प्रमुखता

प्रदान की जाती है।

चीन से निकलने वाली साहित्य की पहली अंतरराष्ट्रीय पत्रिका 'इंदु संचेतना' का प्रकाशन होता है। यह हिंदी साहित्य की त्रैमासिक पत्रिका है। पूर्व में यह पत्रिका 'संचेतना' शीर्षक से प्रकाशित होती थी। अभी हाल ही में इस पत्रिका का नाम बदलकर 'इंदु संचेतना' कर दिया गया है। पत्रिका के प्रमुख संरक्षक एवं प्रधान संपादक डॉ. गंगाप्रसाद शर्मा 'गुणशेखर' एवं उपसंपादक श्री राहुल देव है। पत्रिका के परामर्श मंडल में प्रोफ़ेसर प्रेम सुमन शर्मा, प्रोफ़ेसर पवन अग्रवाल, प्रोफ़ेसर योगेन्द्र प्रताप सिंह, प्रोफ़ेसर दिविक रमेश, डॉ. प्रणव शास्त्री, डॉ. बलजीत श्रीवास्तव हैं। भारत में इसका प्रकाशन सीतापुर, उत्तरप्रदेश से किया जा रहा है। पत्रिका में आलेख, व्यंग्य, नाटिका, कविता, गज़ल, नवगीत, हाइकु, कहानी, शोध–पत्र, पुस्तक समीक्षा आदि के साथ प्रवासी साहित्य पर शोधपूर्ण सामग्री पत्रिका को गरिमा प्रदान करती है। पत्रिका ने हाल ही में अक्टूबर–दिसम्बर, 2017 का अंक 'विश्व भाषा विशेषांक' के रूप में प्रकाशित किया है। इस पत्रिका का अगला अंक 'व्यंग्य विशेषांक' के रूप में प्रकाशित किया जाएगा, जिसे पाठकों द्वारा देखा जाना उचित होगा।

विश्व हिंदी साहित्य परिषद् भाषा, साहित्य और संस्कृति के उन्नयन एवं उत्कर्ष हेतु हमेशा खुला मंच प्रदान करती है। इन्हीं विचारों को गति प्रदान करने के लिए विश्व हिंदी साहित्य परिषद् देश में ही नहीं, अपितु विश्व के अनेक देशों में हिंदी का प्रचार–प्रसार एवं उन्नयन के लिए प्रयासरत है। विश्व हिंदी साहित्य परिषद् की स्थापना वर्ष 2011 में राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हिंदी भाषा, साहित्य एवं संस्कृति के प्रति जागरूकता, विकास, विस्तार एवं प्रतिष्ठा हेतु की गयी थी। विश्व हिंदी साहित्य परिषद् का उद्देश्य हिंदी का प्रचार–प्रसार करना, उत्तम साहित्य का प्रकाशन तथा हिंदी एवं भारतीय भाषाओं का समग्र विकास करना है। परिषद् साहित्य, संस्कृति एवं आधुनिक सोच की एक त्रैमासिक पत्रिका 'आधुनिक साहित्य' का प्रकाशन विगत 6 वर्षों से कर रही है। साहित्य, भाषा एवं संस्कृति को समर्पित इस पत्रिका ने अल्प अवधि में ही देश–विदेश के पाठकों में एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। पत्रिका आधुनिक साहित्य एवं नए रचनाकारों और सुदीर्घ साहित्य समाज के बीच एक सेतु के रूप में स्थापित हो चुकी है। आधुनिक साहित्य का लक्ष्य है कि भारतीय संस्कृति, भाषा एवं परंपराओं को मज़बूत करने के लिए उत्तम साहित्य सर्वसुलभ हो सके।

पत्रिका के संपादक श्री आशीष कुमार कंधवे एवं उपसंपादक सोहनलाल एवं रजनी सेठ हैं। विशेष संवाददाता रजनी शर्मा (अमेरिका) और राखी बंसल (ब्रिटेन) हैं। पत्रिका का प्रकाशन शालीमार बाग, नई दिल्ली से किया जा रहा है। पत्रिका में कविता, कहानी, अवलोकन, शोध–आलेख, परिचर्चा, यात्रा–वृत्तांत, पुस्तक समीक्षा, गीत, गज़ल आदि साहित्यिक सामग्री के साथ प्रवासी साहित्य पर भी भरपूर सामग्री संकलित की जाती है। पत्रिका ने विभिन्न विशेषांकों का भी प्रकाशन किया है। यह विशेषांक हिंदी साहित्य जगत् में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इन महत्त्वपूर्ण विशेषांकों में 'प्रवासी कहानी विशेषांक', 'विश्व हिंदी सम्मेलन पर विशेष', 'इंग्लैड का समकालीन हिंदी साहित्य', 'विजयेन्द्र स्नातक विशेषांक', 'मॉरीशस पर विशेष अंक' आदि पाठकों के बीच अत्यंत लोकप्रिय हुए हैं।

विश्व हिंदी न्यास, न्यूयॉर्क से त्रैमासिक पत्रिका 'हिंदी जगत' का प्रकाशन पिछले 18 वर्षों से निरन्तर रूप से किया जा रहा है। विश्व हिंदी न्यास का लक्ष्य विश्व में हिंदी का बोध तथा प्रयोग है। न्यास के उद्देश्य में सांस्कृतिक केन्द्रों तथा विभिन्न शिक्षा संस्थानों में हिंदी शिक्षण को प्रोत्साहन तथा हिंदी पीठों की स्थापना में योगदान करना है। हिंदी को संयुक्त राष्ट्र की एक अधिकृत भाषा बनाने की दिशा में प्रयत्न करना एवं भारतीय संस्कृति में निहित मूल्यों का प्रचार–प्रसार करना है। 'हिंदी जगत' त्रैमासिक पत्रिका के संपादक मंडल में डॉ. श्याम नारायण शुक्ल एवं संपादक प्रो. सुरेश ऋतुपर्ण हैं। सहायक संपादक इला प्रसाद हैं। पत्रिका में साक्षात्कार, कहानी, कविता, व्यंग्य, गज़ल, लघुकथा, यात्रावृत्त एवं शोध आलेख के तहत महत्त्वपूर्ण सामग्री संकलित की जाती है। भारत में पत्रिका का प्रकाशन नोएडा उत्तर प्रदेश से किया जा रहा है। विश्व हिंदी न्यास बाल साहित्य पर केन्द्रित एक अन्य पत्रिका 'बाल हिंदी जगत' का भी प्रकाशन करती है, जिसकी सम्पादिका अंचला सोब्रिन है।

उपरोक्त पत्रिकाओं के अलावा भी प्रवासी साहित्य की लोकप्रियता से परिचय कराने हेतु विभिन्न पत्रिकाएँ प्रवासी

साहित्य विशेषांक के रूप में अंक प्रकाशित करती रहती हैं। इस दिशा में पहला कदम उठाया था 'वर्तमान साहित्य' ने, प्रवासी महाविशेषांक निकालकर। वर्ष 2006 में प्रकाशित इस अंक के अतिथि संपादक थे डॉ. असगर वजाहत। अपने आप में यह विशेषांक इसलिए भी विशिष्ट था कि इसमें कई देशों के रचनाकारों के विभिन्न विधाओं में किए गए लेखन को न मात्र पहली बार एक मंच पर प्रस्तुत किया गया था, वरन उस लेखन की समीक्षा भी उपलब्ध थी। इसके बाद 'रचना समय' पत्रिका का 'प्रवासी कथा' विशेषांक श्री तेजेन्द्र शर्मा के अतिथि संपादकत्व में आया।

अमेरिका के प्रतिनिधि हिंदी कथाकारों पर केन्द्रित 'शोध दिशा' का 'प्रवासी कथा विशेषांक' प्रकाशित हुआ। इस विशेषांक में 21 कथाकारों की प्रतिनिधि कहानियों को संग्रहित किया गया, जो दो अंकों में कालक्रम से पाठकों के समक्ष आया। इसका पहला भाग जुलाई–सितम्बर 2010 में प्रकाशित हुआ, जिसमें 10 कहानियाँ एवं द्वितीय भाग में 11 कहानियाँ प्रकाशित हुईं। अमेरिका की पहली हिंदी कथाकार सोमावीरा की कहानी से लेकर, उषा प्रियवंदा, सुषम बेदी, कमला दत्त, रमेशचन्द्र धुस्सा, उमेश अग्निहोत्री, उषा कोल्हटकर, अनिल प्रभा कुमार, सुदर्शन प्रियदर्शिनी एवं सुधा ओम ढींगरा की कहानियाँ इस विशेषांक के आकर्षण का केन्द्र थीं। इस पत्रिका के माध्यम से अमेरिका की हिंदी कहानी का जो स्वरूप सामने आया, वो आलोचकों को पुनर्विचार पर मजबूर करेगा।

भारतीय संस्कृति संबंध परिषद्, नई दिल्ली से साहित्य, कला एवं संस्कृति के रूप में द्विमासिक पत्रिका 'गगनांचल' का प्रकाशन किया जाता है। इस पत्रिका ने अभी हाल ही में जनवरी–अप्रैल, 2017 अंक संयुक्तांक रूप में 'गिरमिटिया एवं अन्य प्रवासी साहित्य विशेषांक' के रूप में प्रकाशित किया है। पत्रिका के संपादक डॉ. हरीश नवल एवं सह संपादक डॉ. आशीष कंधवे है। पत्रिका में शोध आलेख, कहानियाँ, कविता, पुस्तक समीक्षा आदि के तहत प्रवासी साहित्य पर महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रकाशित की जाती है। प्रस्तुत संयुक्तांक विशेष रूप से 'गिरमिटिया एवं अन्य प्रवासी साहित्य' संदर्भो से युक्त है, जिसमें प्रो. महिपति जगन्नाथ शिवदास ने प्रवासी लेखन को परिभाषित किया है। श्रीमती स्नेह ठाकुर ने साहित्य व प्रवासी साहित्य पर दृष्टिपात करते हुए कुछ महत्त्वपूर्ण बिंदुओं को रेखांकित किया है तथा प्रवासी साहित्य विशेषज्ञ डॉ. विमलेश कांति वर्मा ने 'गिरमिटिया हिंदी' के संरक्षण की चर्चा की है और कुलपति डॉ. हरिमोहन शर्मा ने गिरमिटिया कविता का अनुशीलन किया है। डॉ. चन्द्रकांता किनरा की फ़िजी डायरी भी इस अंक का विशेष आकर्षण है। लगभग 208 पृष्ठों में फैली गिरमिटिया एवं प्रवासी साहित्य की यह यात्रा पाठकों के लिए बहुमूल्य साबित होगी, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। पाठकों द्वारा एक बार इस अंक को देखा जाना उचित होगा।

पत्रिका ने हिंदी जगत् के कई साहित्यकारों पर केन्द्रित विशेषांक भी प्रकाशित किए, जो पाठकों के बीच अत्यंत लोकप्रिय हुए। मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल में दिनांक 10–12 सितम्बर 2015 में दसवें विश्व हिंदी सम्मेलन के परिप्रेक्ष्य में प्रकाशित 'दसवां विश्व हिंदी सम्मेलन विशेषांक' जुलाई–अक्टूबर, 2015 (संयुक्तांक) अपनी शोधपूर्ण सामग्री के कारण आज भी ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। इसके अलावा पत्रिका के कई ऐतिहासिक विशेषांक शोध के रूप में पाठकों एवं मनीषियों हेतु उपयोगी एवं पठनीय है, इन विशेषांकों का विवरण इस प्रकार है – जुलाई–अक्टूबर, 2013 (संयुक्तांक) 'भारतेन्दु अंक', नवम्बर–दिसम्बर, 2013 'महावीर प्रसाद द्विवेदी' विशेषांक, जनवरी–फ़रवरी, 2014 का 'मलिक मोहम्मद जायसी' विशेषांक, मार्च–अप्रैल, 2017 'लोक जीवन साहित्य एवं संस्कृति, भाषा' अंक, मई–जून, 2014 'रहीम विशेषांक', सितम्बर–अक्टूबर, 2014 'प्रेमचंद विशेषांक', नवबंर–दिसम्बर, 2014 'कला, संस्कृति' अंक, जनवरी–फरवरी, 2015 'रसखान विशेषांक', मार्च–अप्रैल, 2015 भारतीय संस्कृति के विविध समृद्ध पक्ष और ऐतिहासिक तथ्य अंक, मई–जून, 2015 'अंतरराष्ट्रीय योग दिवस विशेषांक', नवबंर–दिसम्बर, 2015 'प्राचीन धरोहर एवं सांस्कृतिक विरासत विशेषांक', जनवरी–फ़रवरी, 2016 के अंक में निराला, सुभद्रा कुमारी चौहान, राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, इकबाल, कवि आलोचक दिनकर, कवि भवानी प्रसाद मिश्र से सम्बद्ध लेखों को प्रमुखता प्रदान की गयी। मार्च–अप्रैल, 2016 के अंक में प्रमुखतः कबीर, भारतरत्न डॉ. भीमराव अम्बेडकर,

कवि प्रदीप, कवि हरिवंश राय बच्चन, नई कहानी आंदोलन के प्रणेता मोहन राकेश, आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी से बातचीत, समान्तर सिनेमा पर केन्द्रित आलेख आदि को प्रमुखता दी गयी। मई–जून, 2016 के अंक में शिवपूजन सहाय, रामवृक्ष बेनीपुरी, माखनलाल चतुर्वेदी, भगवतीचरण वर्मा, किसान जीवन की समस्या, पं. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी का संस्मरण, वरिष्ठ पत्रकार रामबहादुर राय से बातचीत, ज्ञानपीठ प्राप्त कवि केदारनाथ से साक्षात्कार, लघुकथाएँ, कविताएँ खासकर युवा पीढ़ी के प्रतिनिधियों की रचनाशीलता को प्रमुखता दी गई है। सितम्बर–अक्टूबर, 2016 में सिनेमा एवं रंगमंच की परम्परा आदि पर पठनीय सामग्री संकलित की गयी है। नवबंर–दिसम्बर, 2016 के अंक में प्रमुख रूप से जम्मू कश्मीर, हिमाचल से लेकर पंजाब, उत्तराखण्ड और उत्तरपूर्व नागालैंड के अंचल में भाषाई संस्कृति के विभिन्न विषयों और विमर्शों आदि को संकलित किया गया है।

उपरोक्त पत्रिकाओं के साथ–साथ डॉ. कमल किशोर गोयनका द्वारा प्रवासी साहित्य पर किया गया कार्य आज शोध की दृष्टि से हिंदी साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। अगर किसी शोधार्थी को प्रवासी साहित्य पर कार्य करना है, तो उसे डॉ. गोयनका द्वारा किए गए कार्यों से गुज़रना ही पड़ेगा। ''डॉ. गोयनका ने सूरीनाम के विश्व हिंदी सम्मेलन के लिए 'विश्व हिंदी रचना' के नाम से एक ग्रंथ का सम्पादन किया, जिसमें पहली बार हिंदी के प्रवासी साहित्य की एक झलक देने की कोशिश की गई। न्यूयॉर्क के सम्मेलन में प्रवासी साहित्य के प्रतिनिधि रूप का परिचय देने के लिये 'साक्षात्कार' पत्रिका का सम्पादन किया, जिसका वहाँ लोकार्पण हुआ। इसके उपरान्त 'शब्दयोग', 'राजभाषा', 'मंजूषा', 'बुलन्द प्रभा' आदि पत्रिकाओं के प्रवासी साहित्य अंको का सम्पादन किया और इधर मॉरीशस के प्रसिद्ध हिंदी लेखक अभिमन्यु अनत पर लगभग दस पत्रिकाओं के विशेषांक निकलवाकर हिंदी के प्रवासी साहित्य के प्रति देश में रुचि उत्पन्न करने के लिए कार्य किया।'' (3) डॉ. गोयनका ने प्रवासी साहित्य पर केन्द्रित लगभग 8 पुस्तकों का संकलन–संपादन भी किया है। पाठकों के अवलोकन हेतु नीचे उनका भी विवरण दिया जा रहा है।

1. 'अभिमन्यु अनत : एक बातचीत', प्रकाशक – ज्ञान भारती, 4/14, रूपनगर, दिल्ली–110007, प्रथम संस्करण 1985 से प्रकाशित हुआ था। अभी हाल ही में इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण वर्ष–2017, प्रकाशक – ईशा ज्ञानदीप, ए.डी. 77ए, शालीमार बाग, नई दिल्ली–110088 से 'मॉरीशस के हिंदी साहित्यकार – अभिमन्यु अनत : एक बातचीत' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। डॉ. गोयनका की यह पुस्तक 'अभिमन्यु अनत : एक बातचीत' इंटरव्यू विधा की एक मौलिक चेष्टा है। हज़ारों किलोमीटर दूर बैठे मॉरीशस निवासी हिंदी लेखक अभिमन्यु अनत से पत्रों के द्वारा इंटरव्यू लेना साहित्य संसार की एक अनोखी घटना है। प्रस्तुत पुस्तक में डॉ. गोयनका द्वारा अक्टूबर 1981 से सितम्बर 1983 के बीच अभिमन्यु अनत को लिखे लगभग 30 पत्रों के उत्तर अब इस पुस्तक के रूप में हमारे सामने हैं। वास्तव में पत्र इंटरव्यू के द्वारा एक साहित्यकार के अन्तर्बाह्य को जानने का यह प्रयास हिंदी में पहली बार हुआ है, जो लेखक की सृजन–प्रक्रिया, परिवेश, तनाव तथा रचनाधर्मिता को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण तथा मौलिक सामग्री प्रदान करता है।

2. 'अभिमन्यु अनत : प्रतिनिधि रचनाएँ', प्रकाशक – नटराज प्रकाशन, ए–98, अशोक विहार, फ़ेज़–प्रथम, दिल्ली–110052, प्रथम संस्करण 1999 का द्वितीय संस्करण वर्ष–2017, प्रकाशक–परिमल प्रकाशन, 17, एम.आई.जी., बाघम्बरी आवास योजना, अल्लापुर, इलाहाबाद–211006 से प्रकाशित हुआ है। श्री अभिमन्यु अनत मॉरीशस के सर्वाधिक प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं। उन्होंने अपने साहित्य–कर्म से अपने देश की आत्मा को वाणी दी है तथा हिंदी भाषा की सर्जनात्मकता को वैश्विक रूप प्रदान किया है। वे मॉरीशस के गौरव हैं और उसे भारत से जोड़ने वाले सेतु है। इस पुस्तक में लगभग 25 पृष्ठों में डॉ. गोयनका द्वारा लिखी भूमिका में अभिमन्यु अनत के जीवन व कृतित्व की एक झाँकी प्रस्तुत कर दी गई है, विस्तारभय से उसे यहाँ नहीं दिया जा रहा है। अभिमन्यु अनत मॉरीशस के एकमात्र ऐसे हिंदी साहित्यकार हैं, जिनकी अभी तक सबसे अधिक हिंदी पुस्तकें (31 उपन्यास, 8 कहानी–संग्रह, 1 लघुकथा संग्रह, 5 नाटक, 5 कविता संग्रह, 3 जीवनी, 1 अनुवाद, 7 संपादकीय ग्रंथ, 4 प्रतिनिधि संकलन, 1 आत्मकथा संकलन, 2 सह–लेखन आदि)

प्रकाशित हुई हैं। एक लेखक के इतने विशाल रचना संसार में से प्रतिनिधि रचनाओं का चुनाव करना समुद्र में से मोती ढूँढने के समान ही श्रमसाध्य कार्य था, परन्तु डॉ. गोयनका ने पाठकों को अभिमन्यु अनत की प्रतिनिधि रचनाओं को परोसने का यह अद्‌भुत कार्य कर ही डाला। इस प्रतिनिधि संकलन में अभिमन्यु अनत के उपन्यास 'लाल पसीना' के आरम्भिक ग्यारह परिच्छेद, 9 कहानियाँ, 'रोक दो कान्हा' नामक सम्पूर्ण नाटक, ग्यारह आत्मकथा आलेख, 1 भेंटवार्ता, 11 लघुकताएँ, 11 संस्मरण एवं यात्रा–वृत्तांत, 18 के लगभग, व्याख्यान, लेख एवं संपादकीय, विभिन्न कविता संग्रहों से लगभग एक सैकड़ा कविताएँ आदि सामग्री संकलित की गयी हैं।

3. मॉरीशस की हिंदी कहानियाँ, प्रकाशक–साहित्य अकादमी, 35, फ़िरोज़शाह मार्ग, नई दिल्ली–110001, प्रथम संस्करण 2000 से प्रकाशित हुआ।

4. 'अभिमन्यु अनत : समग्र कविताएँ', प्रकाशक–इरावती प्रकाशन, बी–487, विकासपुरी, नई दिल्ली–110018, प्रथम संस्करण 1998 से प्रकाशित हुआ।

5. मॉरीशस के राष्ट्रकवि ब्रजेन्द्र कुमार भगत 'मधुकर' काव्य रचनावली, प्रकाशक–नटराज प्रकाशन, ए–98, अशोक विहार, फ़ेज़–प्रथम, दिल्ली–110052 से प्रकाशित हुआ।

6. 'हिंदी का प्रवासी साहित्य', प्रकाशक–अमित प्रकाशन, के.बी.–97, कविनगर, गाज़ियाबाद–201002, प्रथम संस्करण 2011 से प्रकाशित हुआ। प्रवासी साहित्य के अध्ययन एवं मूल्यांकन का कार्य करने का गौरव सर्वप्रथम डॉ. कमल किशोर गोयनका जी को जाता है, क्योंकि उन्होंने ही विस्तृत रूप से प्रवासी साहित्य को पाठकों के समक्ष रखा। प्रस्तुत पुस्तक के 503 पृष्ठों में प्रवासी साहित्य के उद्‌भव और विकास के साथ मॉरीशस, अमेरिका, इंग्लैंड, सूरीनाम आदि देशों में हिंदी में प्रकाशित प्रवासी साहित्य का गंभीरता पूर्वक अध्ययन, विवेचन और मूल्यांकन किया गया है। प्रवासी साहित्य पर इतनी विपुल मात्रा में सामग्री संकलित कर प्रकाशित होने वाली हिंदी में यह पहली पुस्तक है। इस पुस्तक का महत्त्व यह है कि यह पहली बार हिंदी के प्रवासी साहित्य का मूल्यांकन करके उसके वैश्विक स्वरूप से परिचय कराती है और उसे हिंदी साहित्य का अंग मानते हुए, उसे उचित मान्यता एवं प्रतिष्ठा देने का आह्वान करती है। 'हिंदी का प्रवासी साहित्य' के आरंभ में प्रवासी साहित्य का सर्वेक्षण, विदेशों की हिंदी पत्रकारिता आदि का परिचय है, उसके बाद मॉरीशस, अमेरिका, इंगलैंड, सूरीनाम आदि देशों के प्रवासी एवं भारतवंशी हिंदी लेखकों के साहित्य की विस्तृत चर्चा है, इसमें कुछ स्वतंत्र लेख हैं, कुछ भूमिकाएँ हैं, कुछ पुस्तक समीक्षाएँ हैं तथा कुछ पत्र हैं। अभी हाल ही में इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। इसमें कुछ नई सामग्री भी जोड़ी गई है। हिंदी में यह प्रवासी साहित्य पर पहली पुस्तक है, जो प्रवासी साहित्य के महत्त्व को रेखांकित करके उसकी झाँकी प्रस्तुत करती है। हिंदी आलोचना एवं शोध की दृष्टि से हिंदी के प्रवासी साहित्य पर यह पहली पुस्तक है, जिसका सर्वत्र स्वागत होना चाहिए। पाठकों के लिए प्रवासी साहित्य पर एक ही जगह इतनी विपुल मात्रा में सामग्री राहत प्रदान करती है। पुस्तक पूर्णतः पठनीय एवं संग्रहणीय है।

7. प्रवासी साहित्य : जोहान्सबर्ग से आगे, प्रकाशक–विदेश मंत्रालय, भारत सरकार, साउथ ब्लॉक, नई दिल्ली–110011, प्रथम संस्करण 2015 में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक को मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल में 10–12 सितम्बर, 2015 को हुए दसवें विश्व हिंदी सम्मेलन के उपलक्ष्य में; इससे पूर्व जोहान्सबर्ग (दक्षिण अफ़्रीका) में हुए विश्व हिंदी सम्मेलन के बाद प्रवासी लेखकों की रची एवं प्रकाशित रचनाओं को सम्मिलित करके प्रवासी साहित्य का नवीनतम रूप 'प्रवासी साहित्य : जोहान्सबर्ग से आगे' शीर्षक से पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया गया है। इस पुस्तक को विदेश मंत्रालय, भारत सरकार, साउथ ब्लॉक, नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित किया गया है। इसके तीन सहायक संपादक – डॉ. अवनिश अवस्थी, डॉ. सुधा ओम ढींगरा एवं डॉ. पुष्पिता अवस्थी है। यह सभी संपादक साहित्य जगत् में एक जाना–पहचाना नाम है। सुधा ओम ढींगरा कनाडा में रहती है, उनके द्वारा प्रवासी साहित्य पर किया गया कार्य आज हिंदी जगत् में अपना एक ऊँचा मकाम रखता है। पुस्तक के प्रधान संपादक डॉ. कमल किशोर गोयनका का संकलित आलेख 'प्रवासी साहित्य : एक सर्वेक्षण' प्रवासी साहित्य के संदर्भ में बहुत विस्तार से परिचय प्रदान करता है।

8. हिंदी प्रवासी साहित्य (तीन खण्डों में–खण्ड–1 कहानी, खण्ड–2 कविता, खण्ड–3 गद्य विधान), प्रकाशक–यश पब्लिकेशंस, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली–110032, प्रथम संस्करण 2016 में प्रकाशित हुआ। वर्ष

2011 में अमित प्रकाशन, गाज़ियाबाद से प्रकाशित 'हिंदी का प्रवासी साहित्य' का विस्तृत रूप 'हिंदी प्रवासी साहित्य' (तीन खण्ड) में देखने को मिलता है। 'हिंदी प्रवासी साहित्य' के प्रथम खण्ड 'कविता' में अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, इंग्लैड, कनाडा, खाड़ी देश दुबई, जर्मनी, डेनमार्क, नार्वे, नीदरलैंड, फ़िजी, मॉरीशस तथा सूरीनाम आदि 12 देशों के 90 कवियों की कविताएँ संकलित हैं। 'हिंदी प्रवासी साहित्य' का दूसरा खण्ड 'कहानी' से संबंधित है, अर्थात् इसमें प्रवासी लेखकों की कहानियाँ संकलित है। इस कहानी संकलन में कुल 44 कहानियाँ है जो अमेरिका, इंग्लैंड, आबूधाबी, कनाडा, जापान, डेनमार्क, नार्वे तथा मॉरीशस के प्रवासी एवं भारतवंशी लेखकों द्वारा लिखी गई हैं। इन कहानियों का संसार बड़ा व्यापक है, जो भारत के साथ भारतेतर देशों तक फैला हुआ है। यह एक ऐसा साहित्यिक संसार है, जो भारत के पाठक से लगभग अपरिचित ही था। प्रवासी कहानिकारों ने अपरिचित भारतीयों की इसी प्रवासी संसार को हिंदी पाठक के समक्ष उपस्थित किया और भारतीय प्रवासी जीवन की यथार्थ कहानियों का द्वार खोल दिया। इन कहानियों में नया भारतीय संसार है, नई अनुभूतियाँ और संवेदनाएँ हैं, जीवन को देखने–समझने का नया दृष्टिकोण है; दो मित्र संस्कृतियों में जीने के संघर्ष और उनके द्वंद्व को साकार करने की सफल चेष्टा है।

'हिंदी प्रवासी साहित्य' के खण्ड–3 में प्रवासी–लेखकों की गद्य में रची एवं प्रकाशित रचनाएँ संकलित हैं। इसमें गद्य की उन विधाओं की रचनाएँ हैं, जो लेखकों में कम लोकप्रिय हैं, लेकिन इनमें सर्जनात्मकता का दबाव कम नहीं है। ये विधाएँ हैं – आलेख, डायरी, पत्र, पुस्तक–समीक्षा, भूमिका, यात्रा–वृत्तान्त, लघुकथा, संपादकीय तथा साक्षात्कार आदि। इस खण्ड में सर्वाधिक रचनाएँ लेख के रूप में संकलित हैं। इनमें प्रमुखतः 'प्रवासी' शब्द तथा भारतेतर देशों के रचित साहित्य को 'प्रवासी साहित्य' कहने अथवा न कहने पर अच्छी बहस की गयी है। लगभग 20 लेखकों द्वारा लिखे गए 29 आलेख संकलित किए गए हैं। आलेख के बाद अन्य आठ विधाओं की रचनाएँ दी गई हैं। डायरी में डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल की जापान की डायरी का एक अंश लिया गया है। यह महत्त्वपूर्ण अंश है और जापान के जीवन एवं चिंतन को प्रस्तुत करता है। पत्र में कुछ पत्र दिए हैं, जो विभिन्न व्यक्तियों द्वारा लिखे गए हैं और पारस्परिक संबंधों की सुषमा को उजागर करते हैं। पुस्तक–समीक्षा में 9 लेखकों द्वारा 5 पुस्तक की समीक्षाएँ संकलित की गई हैं। भूमिका में दो लेखकों द्वारा लिखी 5 पुस्तकों की भूमिका दी गई है। तीन लेखकों के यात्रा–वृतान्त, 12 लेखकों की 10 लघुकथाएँ प्रकाशित की गई हैं। 8 लेखकों द्वारा विभिन्न पत्रिकाओं की संपादकीय संकलित की गयी है। 6 लेखकों के साक्षात्कार भी इस खण्ड में संकलित हैं। यह सभी प्रवासी रचनाधर्मिता उसकी संवेदना एवं चिंता तथा सृजनात्मक पक्षों को उद्‌घाटित करती है। यह एक प्रकार से बहुआयामी गद्यात्मक रचना संसार है, जिसकी एक झलक पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की गयी है।

समग्रतः कहा जा सकता है कि प्रवासी साहित्य आज हिंदी साहित्य के फलक पर चमकने वाले उस चाँद की तरह है, जिसकी चमक कभी फीकी नहीं पड़ सकती है। देश से प्रकाशित प्रवासी साहित्य पर केन्द्रित पत्रिकाएँ भी यही इशारा कर रही हैं। हिंदी साहित्य के साथ–साथ प्रवासी साहित्य भी पाठकों के बीच अत्यंत लोकप्रिय है तथा इस लोकप्रियता को ऊँचाई पर पहुँचाने वाले वे लेखक हैं, जो आज भी विदेशों में रहकर भी अपने देश के साहित्य के प्रति, गहरी जड़ों तक जुड़े हुए हैं तथा निरन्तर प्रवासी हिंदी साहित्य के प्रति अपनी सेवाएँ लेखन के रूप में प्रदान कर रहे हैं। उपरोक्त आलेख में प्रवासी साहित्य पर केन्द्रित प्रमुख पत्रिकाओं का उल्लेख किया जा चुका है। इन पत्रिकाओं के अलावा भी कई पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं, यहाँ स्थानाभाव के कारण उनका विवरण नहीं दिया गया है।

संदर्भ :

1. प्रवासी मिजाज कुछ जुदा, डॉ. कमल किशोर गोयनका, जनसत्ता दैनिक पत्र, 29 जनवरी, 2012
2. हिंदी का प्रवासी साहित्य : दशा और दिशा, डॉ. कमल किशोर गोयनका, आधुनिक साहित्य, त्रैमासिक पत्रिका, नई दिल्ली, जुलाई–सितम्बर, 2014
3. हिंदी का प्रवासी साहित्य : दशा और दिशा, डॉ. कमल किशोर गोयनका, आधुनिक साहित्य, त्रैमासिक पत्रिका, नई दिल्ली, जुलाई–सितम्बर, 2014

krishanveer74@gmail.com

भाषाई विकास में लिप्यंतरण की भूमिका

– डॉ. राकेश शर्मा
गोवा, भारत

भाषा सभ्य समाज का आधार है। समाज में संप्रेषण के अन्य माध्यम भी हो सकते हैं, किंतु भाषिक संप्रेषण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। भाषा का मूल रूप ध्वनि पर आधारित है, उन ध्वनियों को केवल सुना और समझा जा सकता है। भौतिकी के नियमानुसार ध्वनि की अपनी सीमाएँ हैं, क्योंकि ध्वनि क्षणिक है और उसका विस्तार अत्यंत सीमित है। अतः भाषा के विस्तार और ज्ञान को संचित करने के लिए मानव समाज ने लिपियों का अविष्कार किया, जिसकी सहायता से आदिकाल के ज्ञान का संरक्षण संभव हो पाया। इन बातों से ज्ञात होता है कि भाषा जब पूर्ण रूप से विकसित हो गई, तभी लिपियों का विकास किया गया। ध्वनियाँ जब लिपिबद्ध हो जाती हैं, तब वे न केवल स्थाई हो जाती हैं बल्कि उसमें सन्निहित ज्ञान का क्षेत्र भौगोलिक सीमाओं से परे हो जाता है। अतः लिपियाँ भी मानव सभ्यता के विकास की वो औज़ार बनीं, जिसने इतिहास और भूगोल दोनों की सीमाओं को तोड़ दिया।

कालांतर में मानव समाज का कलेवर इतना विस्तृत होता चला गया कि वह एक भाषा के माध्यम से विश्व में व्याप्त संपूर्ण ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता था, इसलिए अनुवाद की परम्परा का विकास हुआ। अनुवाद का मूल उद्देश्य यह था कि मानव किसी भी स्रोत भाषा के ज्ञान को प्राप्त करके उसे लक्ष्य भाषा में आगे आने वाली पीढ़ियों तक आसानी से तथ्यगत प्रमाण के साथ दे सके और ज्ञान किसी राष्ट्र या जाति की सीमा में बंधकर न रह जाए। वस्तुतः लिप्यंतरण (Transliteration) की प्रक्रिया से अनुवाद–प्रक्रिया का अर्थ ग्रहण किया जाता है, जो सर्वथा दोषपूर्ण है। अनुवाद एक भाषा की प्रत्येक इकाई और उससे प्रतिपादित होनेवाले अर्थ का दूसरी भाषा की इकाइयों और अर्थ में परिवर्तित करने की प्रक्रिया है, जबकि लिप्यंतरण एक भाषा की लिपि का दूसरी भाषा की लिपि में परिवर्तन है। परंतु लिप्यंतरण के संदर्भ में दो लिपि व्यवस्था पाई जाती है। पहली वह व्यवस्था, जो प्रत्येक भाषिक–व्यवस्था के अंतर्गत गठित होती है, जैसे हिंदी के संदर्भ में 'अ' के लिए 'a', 'क' के लिए 'ka' आदि। दूसरी वह व्यवस्था है, जो अंतरराष्ट्रीय संघ ने अंतरराष्ट्रीय लिपि बनाई है, जिसमें वर्णों को वैज्ञानिक रूप से रखा गया है।

सामान्यतः किसी एक लेखन पद्धति में लिखे जाने वाले शब्द या पाठ को किसी अन्य लेखन पद्धति में लिखने को लिप्यन्तरण (transliteration) कहते हैं। लिप्यन्तरण=k लिपि + अन्तरण। उदाहरण के लिए जापानी में लिखा है:ひらがな, इसको देवनागरी में इस तरह लिख देते हैं: हिरागाना – तो हमने लिप्यन्तरण कर दिया।

लिप्यंतरण के लिए नियमों का एक समुच्चय निर्धारित किया गया होता है। ये नियम इस बात का ध्यान रखते हुए बनाए जाते हैं कि –

- लिप्यंतरित पाठ से पुनः मूलपाठ बिना किसी त्रुटि के प्राप्त किया जा सके।
- नियम सरल एवं सहज हों ताकि एक साधारण व्यक्ति भी इन्हें याद करके इनका आसानी से व्यवहार कर सके।
- भाषा विज्ञानकी दृष्टि से लिप्यंतरण, दो लेखन पद्धतियों के बीच एक प्रतिचित्रण (mapping) है।

उदाहरण :

मेरा नाम सुरेश है (देवनागरी)
মেরা নাম সুরেশ হৈ (बांग्ला)
મેરા નામ સુરેશ હૈ (गुजराती)
ମେରା ନାମ ସୁରେଶ ହୈ (ओडिया)

लिप्यंतरण की आवश्यकता एवं उपयोग

कुछ प्रमुख उपयोग इस प्रकार हैं :

- किसी प्राचीन एवं कालातीत लेखन पद्धति या लिपि में लिखी चीज़ को किसी आधुनिक लिपि या आई.पी.ए. में परिवर्तित करके उसे जीवन्त बनाना,

- आई.पी.ए. या किसी अन्य वैज्ञानिक लिपि में लिखी चीज़ को किसी प्रचलित (व्यावहारिक) लिपि में परिवर्तित करना, ताकि उसे आसानी से समझा जा सके।
- किसी व्यवहारिक लिपि में लिखी चीज़ को आई.पी.ए. या किसी अन्य मानक वैज्ञानिक लिपि में परिवर्तित करना, ताकि लोग उस शब्द का सही उच्चारण समझ सकें।
- एक व्यावहारिक लिपि से दूसरी व्यावहारिक लिपि में परिवर्तित करना, ताकि अपनी लिपि की सहायता से दूसरी भाषा सीखी जा सके।
- किसी टंकण यंत्र या कंप्यूटर पर किसी लिपि में लिखने की सुविधा न हो, तो दूसरी लिपि (जिसमें यह सुविधा उपलब्ध हो) का उपयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए मोबाइल फ़ोन पर देवनागरी में एस.एम.एस. की सुविधा उपलब्ध न होने पर हिंदी संदेश को रोमन में लिखकर भेजा जाता है।
- लिप्यंतरण उनके लिए भी उपयोगी होता है, जो कोई भाषा तो बोलना और समझना जानते हैं, किन्तु उस भाषा की लिपि को नहीं पढ़ सकते।
- कुछ भाषाएँ कई लिपियों में लिखी जाती हैं।
- किसी एक भाषा में लिखते समय किसी दूसरी भाषा के शब्दों का परिचय देने के लिए।
- लिप्यंतरण का प्रयोग कभी–कभी साधारण कूट लेखन के लिए भी किया जाता है।

लिप्यन्तरण के प्रकार

1. ध्वन्यात्मक लिप्यन्तरण

2. मार्फ़ोलोजी पर आधारित – स्रोत भाषा के किसी वर्ण के लिए दूसरी भाषा के उस वर्ण का उपयोग किया जाता है, जो दिखने में कुछ समानता रखता हो।

3. मिश्रित – उपरोक्त दोनों विधियों का मिश्रण

4. कूटन (कोडिंग) – स्रोत भाषा के वर्णों के लिए लक्ष्य भाषा के वर्ण यादृच्छ्या (randomly) चुन लिए जाते हैं। यह मशीनों द्वारा लिखने–पढ़ने के लिए अधिक उपयुक्त है।

5. स्वच्छंद (Bizzarre) – बिना किसी सख्त नियम का पालन करते हुए स्रोत भाषा को लक्ष्य भाषा के वर्णों द्वारा लिखना।

मशीनी लिप्यंतरण

कम्प्यूटर सॉफ़्टवेयर की सहायता से एक भाषा या लिपि के शब्दों का किसी दूसरी भाषा या लिपि में ध्वन्यात्मक (फ़ोनेटिक) परिवर्तन मशीनी लिप्यंतरण (मशीन ट्रान्सलिटरेशन) कहलाता है। **John** को देवनागरी/हिंदी में जॉन लिखना लिप्यन्तरण का एक उदाहरण है।

उपयोग

- कम्प्यूटर के इस युग में मशीनी अनुवाद के साथ–साथ मशीनी लिप्यन्तरण आजकल बहुत उपयोगी हो गया है। मशीनी अनुवाद करते समय जिन शब्दों के तुल्य शब्द मशीन के शब्दकोश में नहीं मिलते (Out of vocabulary words) उनको कुछ नियमों का पालन करते हुए केवल लिप्यन्तरित कर दिया जाता है। अधिकतर लिप्यंतरण सेवाएँ वेब आधारित हैं।
- नामवाचक संज्ञाओं (प्रॉपर नाउन्स) का लिप्यन्तरण ही करना पड़ता है। जैसे **Mc Donald** कोमैक डोनाल्ड लिखना पड़ता है।
- कुछ तकनीकी शब्दों का अनुवाद करने के बजाय, उन्हें केवल लिप्यन्तरित करना बेहतर माना जाता है। जैसे **transistor** को ट्रान्ज़िस्टर लिखना अधिक उचित होगा न कि **transistor** लिखना।
- भारतीय भाषाओं में अधिकांश शब्द समान हैं, किन्तु भिन्न लिपि में लिखे होने के कारण उन्हें पढ़कर समझना/सीखना कठिन होता है। इनका केवल लिप्यन्तरण कर देने से दूसरी भारतीय भाषा समझने व सीखने में बहुत अधिक सुविधा मिल जाती है।

मशीनी लिप्यन्तरण की विधियाँ :

1. ध्वन्यात्मक प्रतिरूपण (फ़ोनीनिक मैपिंग)
2. शब्दकोश में शब्दयुग्म देखकर

3. मशीन शिक्षण द्वारा (मशीन लर्निंग बेस्ड)
4. नियमाधारित (रूल–बेस्ड)

विभिन्न भारतीय भाषी लिप्यंतरण सेवाएँ

भारतीय भाषाओं में लिप्यंतरण सेवा सर्वप्रथम लॅटिन कीबोर्ड से विभिन्न लिपियों में 'ध्वन्यात्मक' कीबोर्ड के रूप में विकास हुआ (उदाहरण 'ka' दबाने पर 'क' टाइप होना)। इस प्रकार के लिप्यंतरण का विकास भारतीय युनिकोड से पूर्व ही हो चुका था। यह विकास प्राथमिक रूप में लॅटिन कीबोर्ड से भारतीय ट्रेडिशनल फंट के सरल एण्ट्री के निमित्त विकसित हुआ था। भारतीय लिपियों में अन्तर–लिप्यंतरण इस के बाद विकसित हुआ।

सर्वप्रथम भारतीय यान्त्रिक लिप्यन्तरण का विकास किसने किया था, इस के बारे में आधिकारिक तथ्य उपलब्ध नहीं है। परन्तु अन्तरजाल के फैलाव व भारतीय युनिकोड के विकास के बाद भारतीय यान्त्रिक लिप्यन्तरण में एक प्रकार का ऊर्जा निर्माण कर दिया।

अन्तर–भारतीय भाषाओं के मशीनी लिप्यंतरण में कन्नड़–प्रमुख 'बरह' सॉफ़्टवेयर ने युनिकोड सहित विभिन्न पारंपरिक फ़ॉन्ट में यान्त्रिक लिप्यंतरण की सुविधा उपलब्ध कराई है। आलोक कुमार द्वारा विभिन्न भारतीय भाषाओं के मध्य टैक्स्ट के लिप्यंतरण के लिए गिरगिट नाम से तंत्र बनाया गया था, जो बहुत प्रसिद्ध रहा। इसके पश्चात् पीयूष भट्ट द्वारा भोमियो नामक वेबसाइट बनायी गयी, जो कि किसी वेब पेज की लिपि को रीयल टाइम में बदलकर दिखाता था। यह सेवा हिंदी चिट्ठाकारों में काफ़ी लोकप्रिय हुई। परन्तु कुछ समय बाद यह सेवा बन्द हो गई। इसके पश्चात् आलोक कुमार तथा डॉ. विपुल जैन नेगिरगिट का नया संस्करण बनाया, जो कि टैक्स्ट के अतिरिक्त वेब पेज की लिपि भी बदलकर दिखा सकता है। नवम्बर 2009 में गूगल ने भी विभिन्न भारतीय भाषाओं के मध्य लिप्यन्तरण सेवा का आरम्भ किया, जिसमें कि कई लिपियाँ सम्मिलित हैं।

अन्तरजाल निःशुल्क लिप्यंतरण सेवाएँ :

- Sanskript - देवनागरी एवं अन्य भारतीय भाषाओं का परस्पर लिप्यन्तरण का ऑनलाइन प्रोग्राम। यहाँ भारतीय भाषाओं और आईट्रन्स/हार्वर्ड–क्योटो आदि को भी परस्पर बदलने की सुविधा है।
- गिरगिट – यूनिकोडित उड़िया, कन्नड़, गुजराती, गुरमुखी, तमिल, तेलुगु, बांग्ला या मलयालम का परस्पर लिपि परिवर्तक प्रोग्राम
- अक्षरमुख – ब्राह्मी लिपि से व्युत्पन्न सभी लिपियों सहित iTrans में परस्पर लिपि बदलने का अत्यन्त उपयोगी ऑनलाइन औज़ार
- अक्षर–ब्रिज – देवनागरी एवं अन्य भारतीय लिपियों का रोमन एवं दक्षिणपूर्व एशिया की लिपियों के मध्य लिप्यंतरण हेतु एक विशाल मुक्त स्रोत
- ICU Transform Demo - यहाँ लगभग हरेक लिपि को किसी दूसरी लिपि में बदला जा सकता है।
- गिरगिट – ऑनलाइन जाल पृष्ठ लिप्यंतरक

srakesh@nio.org

सिंगापुर : मीडिया में हिंदी

– डॉ. संध्या सिंह
सिंगापुर

'के पॉप' संस्कृति हो या बॉलीवुड का प्रभाव, इनमें कुछ समानताएँ रही हैं; जैसे भाषा व संस्कृति के प्रति जागरूकता, प्यार, समझने या सीखने की ललक। संचार के फैले और फैलते जाल ने दुनिया को छोटा कर दिया है। आज इन्हीं माध्यमों ने भाषाओं की उपयोगिता को भी बढ़ा दिया है। कई भाषाएँ तो लोग सिर्फ़ अपनी रुचि के कारण ही सीख रहे हैं, चाहे वह रुचि भाषा में हो, संगीत में हो या संस्कृति में।

हिंदी में जिस तरह की शब्द सामर्थ्य और ज्ञान–विज्ञान के हर अनुशासन पर अपनी बात कहने की ताकत है, उसे नकारा नहीं जा सकता पर जब बात आती है प्रचार–प्रसार की और ख़ासकर विदेशों में हिंदी भाषा के प्रचार–प्रसार की, तो मीडिया का योगदान और अधिक हो जाता है। भारत से बाहर हिंदी को किसी भी योजना ने उतना महत्त्व नहीं पहुँचाया, जितना मीडिया ने। विदेशों में हिंदी मीडिया की बढ़ी ताकत ने एक ज़िम्मेदारी भी दी है कि सही भाषा के इस्तेमाल से नई पीढ़ी को भाषा के संस्कार दिए जाएँ।

मीडिया का क्षेत्र दिन–ब–दिन व्यापक होता जा रहा है। प्रिंट मीडिया या अन्य संचार माध्यमों के साथ ही हिंदी प्रदेशों के लोक कलाकारों, शास्त्रीय संगीत के कलाकारों, फ़िल्मों एवं नाटकों के कलाकारों ने विदशों में अपनी बेबाक प्रस्तुतियों एवं आकर्षक संवाद–शैली के माध्यम से विदेशियों में तो हिंदी के प्रति अनुराग पैदा किया ही है, भारतीयों को भी अपनी माटी से अधिक मज़बूती से जोड़ने में सहायता की है। बहुत सारे विदेशी पर्यटक और विद्वान हिंदी भाषा में प्रस्तुत अनेक प्रकार के कार्यक्रमों में रुचिपूर्वक भाग लेते हैं और कार्यक्रमों के माध्यम से भारत की सांस्कृतिक विविधताओं और भाषा का आनन्द उठाते रहे हैं।

विदेशी धरती पर भारत का जो रूप प्रस्तुत किया जाता रहा है, उसका प्रभाव सिंगापुर के लोगों पर बहुत ही गहरे तक पड़ा और निरन्तर पड़ रहा है। यहाँ विदेशियों को यह लगने लगा है यदि भारत को पूरी तरह जानना–समझना है, तो हिंदी को जानना व समझना किसी हद तक आवश्यक है। सांस्कृतिक चेतना के साथ भाषाई चेतना को जागृत करने की युक्ति बहुत ही प्रभावशाली मानी जाती है। हिंदी यदि सिंगापुर में तेज़ी से फैल रही है, तो उसके कई कारण हैं, जिन पर अभी चर्चा संभव नहीं है। पर जब बात आती है सिंगापुर में मीडिया में हिंदी किस प्रकार बढ़ी, तो यह बड़ा ही रोचक विषय बन जाता है, क्योंकि भारत से प्रसारित होने वाले चैनलों के पहले भी यहाँ मीडिया में हिंदी ने अपनी जगह बना ली थी। तो आइए वर्तमान जानने से पहले अतीत के कुछ पन्ने टटोले जाएँ।

सिंगापुरी मीडिया में पहले हिंदी का रूप बहुत अलग था। सन् 1996 के पहले सिंगापुर में भारत का कोई भी हिंदी चैनल नहीं था अतः लोगों के लिए मनोरंजन का माध्यम अन्य चैनलों पर प्रसारित होने वाले इक्के–दुक्के हिंदी–कार्यक्रम ही थे। लोग सन् 1996 के पहले 'टेलीविजन कॉर्पोरेशन ऑफ़ सिंगापुर–टी.सी.एस. 8' के अलावा हिंदी कार्यक्रमों के लिए कई मलेशियन चैनलों पर भी निर्भर रहते थे। चैनल 'टी.सी.एस. 8' पर हर महीने के आखिरी रविवार को हिंदी फ़िल्म का प्रसारण किया जाता था। फ़िल्मों के अलावा रामायण और महाभारत जैसे धार्मिक धारावाहिकों का प्रसारण भी 'टी.सी.एस.' पर होता था। यह चैनल अंग्रेज़ी शीर्षकों (सब्टाइटल) के साथ कार्यक्रमों का प्रसारण करता था, पर ऐसा नहीं है कि उस समय फ़िल्में या हिंदी कार्यक्रम देखने के लिए हिंदी भाषी समूह पूरी तरह से 'सब्टाइटल' पर ही निर्भर करता था। वे अपने भोजपुरी ज्ञान व हिंदी ज्ञान के आधार पर फ़िल्मों का लुत्फ़ उठाते थे। 'आर.टी.एम. 2' जो एक मलेशियन चैनल है, उस पर हर शुक्रवार को दोपहर में हिंदी फ़िल्म आती थी और एक गज़ब उत्साह उसके प्रति भारतीय समुदाय में रहता था। 'आर.टी.एम. 3' जिसे स्थानीय लोग 'टीवी तिगा' कहते थे, मलेशिया का निजी चैनल था, जिसका प्रसारण आधिकारिक तौर पर सिंगापुर में नहीं होता था, पर शनिवार को उस पर हिंदी फ़िल्म दिखाई जाती थी,

जिसको देखने की ललक लोगों में किसी भी तरीके से उस चैनल को पाने में दिखती थी। मलेशियन चैनलों पर दिखाए जाने वाले कार्यक्रमों में ज़्यादातर 'सब्टाइटल' मलय भाषा में ही रहते थे। यद्यपि पुराना भारतीय समूह मलय भाषा बोल सकता था, तथापि हिंदी फ़िल्मों को देखते समय ज़्यादातर बिना 'सब्टाइटल' के ही फ़िल्म का आनन्द उठाता था। 1996–97 के पहले वीडियो कैसेट्स का चलन व उसके प्रति सनक भी खूब दिखाई देती थी। यहाँ यह बात स्मरण करनी होगी कि हिंदी को द्वितीय भाषा के रूप में पढ़ने का अवसर सिंगापुर के लोगों को 90 के दशक से मिलना शुरू हुआ अतः उसके पहले पढ़ी हुई पीढ़ी मलय भाषा में ज़्यादा सहज थी। हिंदी या भोजपुरी सिर्फ़ घर में परिवार के कुछ सदस्यों तक ही सीमित थी।

ये तो बात हुई कि पहले सिंगापुर के हिंदी प्रेमी किस माध्यम से अपने मनोरंजन के रूप में हिंदी कार्यक्रमों को देखने की कोशिश करते थे। अब बात करते हैं वर्तमान की आज दुनिया के कई देशों में भारत के हिंदी चैनल आसानी से उपलब्ध हैं और लगभग हर भारतीय घर में कोई–न–कोई हिंदी चैनल अवश्य होता है। सिंगापुर में भी कई हिंदी चैनलों का प्रसारण होता है, लेकिन यह भी रोचक है कि सिंगापुर में सिर्फ़ भारतीय घरों में ही नहीं, बल्कि मलय घरों में भी हिंदी चैनल देखने वालों की बड़ी संख्या है। यहाँ बॉलीवुड फ़िल्में व टीवी सीरियल काफ़ी हिट हैं। सास–बहू के सीरियल भारत में भी लोग इतने चाव से शायद नहीं देखते हैं, जितने यहाँ। मनोरंजन के इस माध्यम के कारण यहाँ हिंदी आज भी घरों में बसी है।

भारत के हिंदी चैनलों के अलावा सिंगापुर के स्थानीय चैनलों पर हिंदी किस रूप में है यह जानना अधिक दिलचस्प है। सिंगापुर में मीडिया कॉर्पोरेशन वह माध्यम है, जिसके अंतर्गत टीवी या रेडियो चैनल प्रसारित किए जाते हैं। सिंगापुर की चौथी सरकारी भाषा तमिल में प्रसारित होने वाले चैनल का नाम 'वसंतम्' है। यह सिंगापुरी भारतीयों को ध्यान में रखकर प्रसारित किया जाता है। यह चैनल तमिल दर्शकों तक अपनी पकड़ बनाने का अच्छा माध्यम तो रहा ही है, साथ ही इस चैनल ने भिन्न भारतीय भाषाओं में फ़िल्में दिखाकर गैर तमिल भाषी दर्शकों को अपने घेरे में ले लिया है। हर शनिवार 'बॉलीवुड मस्ती' 'स्लॉट' में हिंदी 'ब्लॉक बस्टर' फ़िल्में दिखाई जाती हैं, जिसका काफ़ी लोग बेसब्री से इंतज़ार करते हैं। 'इंडियन पैनोरामा' 'स्लॉट' में भारत की प्रांतीय फ़िल्में जैसे मराठी, पंजाबी, तेलुगू, कन्नड़ आदि फ़िल्में दिखाई जाती हैं। शनिवार को कभी–कभी फ़िल्म दिखाने के बजाय आइफ़ा अवार्ड्स, ज़ी सिने अवार्ड्स जैसे कार्यक्रम चैनल प्रसारित करता है, जो बड़ा दर्शक वर्ग बटोरने में सहायक होता है। सिंगापुर के तमिलभाषी व मलय भाषी लोगों में भी बॉलीवुड मस्ती में हिंदी फ़िल्म का बेसब्री से इंतज़ार रहता है। अंग्रेज़ी अनुवादित शीर्षक पढ़कर वे पूरा आनन्द उठाने में लगे रहते हैं और हिंदी भाषी लोग, जो कोई भी दूसरा हिंदी चैनल नहीं लेते उनके लिए तो यही एकमात्र साधन बच जाता है।

यहाँ के हिंदी फ़िल्म थियेटर का नाम पहले 'बाम्बे टॉकिज़' था, जहाँ काफ़ी संख्या में नई हिंदी फ़िल्में ज़रूर लगती थीं, लेकिन अब तो 'गोल्डन विलेज' नाम से मशहूर सिनेमाघरों में भी लोकप्रिय हिंदी फ़िल्में सिर्फ़ लगने ही नहीं लगी हैं, बल्कि काफ़ी भीड़ भी इकट्ठी करने लगी हैं।

संगीत दुनिया का वह रस है, जो अपनी जगह हर इंसान के दिल में बना ही लेता है। संगीत मानव को मानव से जोड़ता है; संगीत मानव को संस्कृति से जोड़ता है, उसकी जड़ों की याद हमेशा उसके दिल में बरकरार रखता है। अगर बात हिंदी संगीत की हो, तो कहना ही क्या! भारत से दूर जाने के बाद लोगों को एक चीज़ हमेशा जोड़ती है और वह है बॉलीवुड। जहाँ बॉलीवुड फ़िल्मों ने हमारे दिलों पर राज किया है, वहीं बॉलीवुड संगीत ने दिलों के तार को झंकृत किया है। हिंदी रेडियो मस्ती 24×7 सिंगापुर का एकमात्र हिंदी रेडियो स्टेशन है, जो पहले शाम को 5 से 8 तक 16.3 एफ़.एम के नाम से हिंदी गाने सुनाता व हिंदी चर्चा करता रहता था, लेकिन अब यह 'ऑनलाइन' हो गया है, तो 24×7 हिंदी गीत और बातचीत सुनने को मिल सकती है। आसपास की ताज़ा 'गॉसिप', समाचारों का गुलदस्ता, मौसम का हाल, अपनों का खास दिन मनाना, बॉलीवुड तशन जैसे मस्ती भरे नामों के बीच यह एफ़.एम यहाँ के हिंदी गानों के प्रेमी लोगों का भरपूर मनोरंजन करता है। एक और रेडियो चैनल 16.8 रोज़ कुछ देर हिंदी गीतों की माला प्रस्तुत करता है। यह काफ़ी पुराना चैनल है। इस चैनल पर ज़्यादातर पुराने और कुछ नए गीत

सुनाए जाते हैं। रेडियो मस्ती 24×7 के आने से पहले यही लोगों में लोकप्रिय था। इसकी समय सीमा कम होने के कारण आज इसकी लोकप्रियता कम हो गई है। इस रेडियो चैनल पर तमिल गीत सुनाए जाते हैं और बीच में पाँच बजे शाम के आसपास हिंदी गीतों की माला आती है। यहाँ के तमिल वर्ग में यह चैनल अधिक लोकप्रिय है। तमिल वर्ग में बॉलीवुड का दीवानापन भरने का एक कारण यह आकाशवाणी केन्द्र भी है।

सिंगापुर में जब साहित्य और लेखन की बात चलती है, तब उस ओर दो–तीन साल पहले तक बहुत कम ही रुझान देखने को मिलता रहा। हिंदी में प्रिंट मीडिया की बात करें, तो यह कमी अभी भी खलती है, क्योंकि स्थानीय प्रकाशन का अभाव आज भी काफ़ी हद तक है। सन् 2018 में सिंगापुर से निकलने वाली पहली हिंदी पत्रिका (ऑनलाइन) 'सिंगापुर संगम' का श्री गणेश हुआ। इस पत्रिका के माध्यम से सिंगापुर के लेखकों को दुनिया से रूबरू करवाने का प्रयास शुरू हुआ है। कुछ लेखक अवश्य व्यक्तिगत स्तर पर दुनिया के अन्य भागों में अपनी रचनाओं से जुड़े रहे हैं। इस पत्रिका ने न सिर्फ़ लेखकों–साहित्यकारों बल्कि गृहणियों, हिंदी शिक्षकों और विद्यार्थियों को भी लिखने को प्रेरित किया है। सिंगापुर में हिंदी को द्वितीय भाषा के रूप में पढ़ाने की मान्यता प्राप्त है, जिस कारण हिंदी पढ़ने–सीखने वालों की बहुत बड़ी संख्या यहाँ है। इतना बड़ा विद्यार्थी वर्ग गिरमिटिया देशों को छोड़ शायद ही कहीं हो! अतः यहाँ के विद्यार्थियों की वाणी लोगों तक पहुँचे, तो यह हिंदी के भविष्य के लिए अधिक अच्छा होगा, क्योंकि हिंदी के असली वाहक तो यही हैं। हिंदी के वाहकों के साथ ही विदेशी भाषा के रूप में हिंदी सीख रहे छात्रों को भी यह पत्रिका अपने अनुभव लिखने के लिए प्रेरित करती है। पत्रिका अभी अपने परिपक्व रूप में नहीं है, क्योंकि नवांकुर को बढ़ने में समय लगता है, पर अगर सही देखभाल के साथ खाद–पानी मिलता रहे, तो वह अवश्य बढ़ेगा और फलेगा–फूलेगा।

संचार माध्यमों में हिंदी की उपस्थिति से सिंगापुर में हिंदी को और बल मिल रहा है। छात्र हों या वयस्क हिंदी से जुड़ने के मौके मिल रहे हैं और ये साबित हो रहा है कि हम कितने भी आधुनिक बनते जाएँ, सांस्कृतिक मूल्यों से भी अधिक जुड़ने की कोशिश में हैं। हिन्दुस्तान से बाहर यही चीज़ें शायद हिन्दुस्तान से जुड़े रहने का एहसास दिलाती हैं और मीडिया ये सब बख़ूबी कर रही है।

sandhyasingh077@gmail.com

यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है कि हमारी जाति की जीवित भाषा होने का गौरव प्राकृत को ही प्राप्त हुआ है, जो देववाणी संस्कृत की वरिष्ठतम पुत्री है और आज की भाषा में वह हिंदी अथवा हिन्दुस्तानी कहलाती है।

— विनायक दामोदर सावरकर

फ़िल्मों के माध्यम से भारतीय संस्कृति का संरक्षण

– डॉ. शशि दुकन
मॉरीशस

किसी भी देश, जाति, व्यक्ति की पहचान उसकी संस्कृति से होती है। अतः संस्कृति एक दिन की उपज नहीं। उसके लिए एक जोश और सतत प्रयास की आवश्यकता होती है। सतत साधना, त्याग के बाद ही संस्कृति का निर्माण परिष्कृत दिशा में होता है। संस्कृति में चेतना और व्यवहार, दोनों का अंतर्भाव है। वह मानव–जीवन की सरिता में क्रिया और भावों को जन्म देकर युग–तल पर अपने पदचिह्न अर्पित करती चली जाती है, जिसका आलिंगन सरस एवं मधुर होता है। व्यवहार और चेतना के सम्मिलन से जीवन संस्कारमय बनता है। संस्कृति उतनी ही पुरानी चीज़ है, जितनी मानवता, किंतु उसका विकास सहज है।

भारतीय संस्कृति प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है, जिसका गुणगान विश्व भर में मान–सम्मान एवं गौरव से किया जाता है। भारतीय संस्कृति विभिन्न पहलुओं में झलकती है, जैसे वेशभूषा, खान–पान, लोक–गीत, पर्व–त्यौहार, रहन–सहन, आचार–विचार, आदि। इन सब की अद्‌भुत निराली छवि हमें भारतीय सिनेमा के माध्यम से देखने को मिल जाती है। किसी भी देश में बनने वाली फ़िल्में वहाँ के समाज एवं रीति–रिवाज़ का आईना होती हैं और जहाँ भारतीय सिनेमा की बात होती है, तो आज हॉलीवुड फ़िल्मों के समान बॉलीवुड भी विश्व भर में अपनी लोकप्रियता और गौरवशाली फ़िल्मी यात्रा के लिए जाना जाता है।

फ़िल्म–निर्माण के क्षेत्र में भारत का विशेष स्थान है। भारतीय सिनेमा पूरी शताब्दी के संघर्षों और उतार–चढ़ाव से गुज़रते हुए आज विश्व में सबसे ज़्यादा फ़िल्मों का निर्माण करने वाला उद्योग बन गया है। आज भारतवर्ष में प्रतिवर्ष एक हज़ार से भी अधिक फ़िल्में बनती हैं और हिंदी सिनेमा ने अपने नए–नए प्रयोगों, विषयों और विचारों के साथ अपना गौरवशाली सफ़र जारी रखा है।

7 जून 1896 में पहली बार लुमियर बंधुओं द्वारा चित्रपट की शुरुआत से फ़िल्मों का गहरा प्रभाव समाज पर पड़ने लगा। अतः जिस समाज का चित्रण फ़िल्मों में होता है, उस समाज की संस्कृति फ़िल्म में साकार हो उठती है। जहाँ फ़िल्म समाज से विषयों का चयन करती है, वही समाज पर अपनी अमिट छाप भी छोड़ती है। जहाँ भारतीय सिनेमा ने अपने 100 साल के सफ़र को बड़े संघर्षों और उतार–चढ़ाव के साथ तय किया, वहाँ इस दौरान फ़िल्मों में बेशुमार परिवर्तन आए, जिससे उसे कई विभिन्न चरणों से गुज़रना पड़ा।

इस लम्बी यात्रा की शुरुआत दादासाहब फालके की मूक फ़िल्म ''राजा हरिश्चंद्र'' से हुई। फिर क्या था, ''आलम आरा'' भारत की पहली सवाक फ़िल्म बनी और इस तरह अन्य भाषाओं में भी फ़िल्में बननी शुरू हुईं और जैसे फ़िल्म–जगत् को गीत मिलने लगे, तो फ़िल्म इंडस्ट्री में नित नए प्रयोग होते गए। पहले नायिका की भूमिका पुरुष पात्र निभाते थे। आज भारतीय सिनेमा में अभिनेता–अभिनेत्रियों ने एक से बढ़कर एक कीर्तिमान स्थापित किए हैं। फिर क्या, फ़िल्मों के साथ पार्श्व गायन की शुरुआत हुई। इससे तो मानो फिल्मों में क्रांति–सी आ गई। कुन्दन लाल सहगल से लेकर मोहम्मद रफ़ी, हेमंत कुमार, मन्ना दे, मुकेश, किशोर कुमार आदि की अलग और मन को लुभा देने वाली शैली से गीतों को नई शह मिली। वहीं सुरैया, मुबारक बेगम, शमशाद बेगम, लता, आशा से लेकर श्रेया घोषाल ने भी अपनी आवाज़ का जादू चलाया। वहीं नामचीन गीतकार और संगीतकार – मदन मोहन, नौशाद अली, सलिल चौधरी, प्रदीप, राजेंद्र कृष्ण, मजरुह सुल्तानपुरी, लक्ष्मीकांत–प्यारेलाल, साहिर लुधियानवी, कैफ़ी आज़मी, शैलेंद्र, शंकर–जयकिशन जैसे नायाब कलाकारों ने भारतीय फ़िल्म और संगीत को नई ऊँचाइयों तक पहुँचाया।

हम कैसे भूल सकते हैं उन लाजवाब नायकों एवं नायिकाओं को, जिन्होंने अपनी–अपनी जादुई अदाकारी से लाखों के दिलों पर राज किया।

वी. शांताराम, सोहराब मोदी, पृथ्वीराज कपूर, महबूब खान, ख्वाजा अहमद अब्बास, केदार शर्मा सहित न जाने अन्य कितने नायकों ने अपनी प्रतिभा दिखलाई। फिर राज कपूर, दिलीप

कुमार, देव आनंद, धर्मेंद्र, राजेंद्र कुमार आदि ने अपनी मार्मिक भूमिकाओं से दर्शकों के दिलों को जीता तथा देविका रानी, दुर्गा खोटे, लीला चिटनीस, लीला मिश्र, कामिनी कौशल, नर्गिस, श्यामा, मीना कुमारी, वैजयन्ती माला, मधुबाला जैसी नायिकाओं ने अपनी अलग पहचान बनाई।

इस तरह फ़िल्मी जगत् ने दिन दूनी रात चौगुनी तरक्की की। यहाँ तक कि फ़िल्म जगत् दर्शकों के सुनहरे, रुपहले सपनों की जादुई दुनिया बनता चला गया। सपने देखना भला किसे पसंद नहीं। सिनेमा ने समाज–सुधार से लेकर हृदय–परिवर्तन तक अपना कर्त्तव्य निभाया और आदर्शवादी, राष्ट्रीय चेतना, सत्य और ईमानदारी की धारणाओं से जुड़ा रहा। साथ ही यथार्थवादी सिनेमा ने दर्शकों के आलोचनात्मक विवेक को विकसित करने तथा समाज और व्यवस्था के ताने–बाने की समझ बढ़ाने तथा संस्कृति, भाषा व संस्कारों का प्रचार–प्रसार करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। जहाँ 1950 और 1960 के दशक को सिनेमा का स्वर्ण युग माना जाता है, वहीं 50 के दशक में बिमल रॉय की ''दो बीघा ज़मीन'', राज कपूर की ''जागते रहो'', महबूब खान की ''मदर इंडिया'', शांताराम की ''दो आँखें बारह हाथ'' आदि फ़िल्मों को लोकप्रियता के साथ–साथ अंतरराष्ट्रीय मान्यता मिली। जन–मानस को सार्थक और यथार्थ सिनेमा मिला। गुरुदत्त की फ़िल्म ''प्यासा'' और ''कागज़ के फूल'' ने सामाजिक सरोकार से जुड़ी फ़िल्मों की कड़ी को और मज़बूत किया।

समाज की ज्वलंत समस्याओं से जूझते व्यक्तियों और परिवारों की झलक दिखाने में फ़िल्मों की अग्रणी भूमिका रही है। 1957 में बनी ''मदर इंडिया'' ने भारतीय समाज तथा परिवार का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया। 'अर्थ', 'मासूम', 'मंडी', 'स्पर्श', 'क्या कहना', 'दोस्ताना' जैसी फ़िल्मों में समाज में उभरती समस्याओं को सामने लाने की चेष्टा की गई है। फ़िल्मों में चित्रित वातावरण, साज–सजावट, खाने–पीने के तरीके और रीति–रिवाज़ों की झलक ने संस्कृति के विभिन्न पहलुओं को छुआ है।

हिंदी फ़िल्में हमारे सामाजिक जीवन में रंग भरती रही हैं। युवक–युवतियाँ किसी–न–किसी फ़िल्मी अभिनेता या अभिनेत्री को अपना आदर्श मानकर चलते रहे हैं। भारतीय सिनेमा अपने गौरवपूर्ण अतीत से नई पीढ़ी को परिचित कराने में भी पीछे नहीं है। इतिहास के चित्रण के साथ हिंदी सिनेमा ने धर्म, भाषा और संस्कृति की भावनाओं को जगाने का प्रबल प्रयास किया है। महाभारत और रामायण के पात्रों और अन्य पौराणिक चरित्रों के अलावा 'मुगल–ए–आज़म', 'जोधा–अकबर', 'रज़िया सुल्तान', 'रंग दे बसंती', 'लगान' जैसी भारतीय ऐतिहसिक फ़िल्मों ने भारतीय संस्कृति को जीवित रखने में अपना अद्वितीय योगदान दिया है। फ़िल्मों के योगदान की चर्चा इस तथ्य के आख्यान के बिना अधूरी रहेगी कि फ़िल्मों ने राष्ट्रीय अखण्डता, संस्कृति समन्वय, सामाजिक चेतना और भावात्मक एकता को प्रगाढ़ करने के साथ–साथ राष्ट्रीय–अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हिंदी के प्रचार–प्रसार को खूब प्रोत्साहन दिया है।

सामूहिक दृष्टि से भी चलचित्रों का विशेष महत्त्व है और रहेगा। शिक्षा के क्षेत्र में भी सिनेमा की उपयोगिता बढ़ी है। जिन विषयों को बच्चे पुस्तकों या अध्यापकों की वाणी से ग्रहण नहीं कर पाते, आज उन सब विषयों को सिनेमा देश–विदेश के सामान्य जन–जीवन की जानकारियाँ देता है और इसके बिना उनकी दिनचर्या नीरस जान पड़ती है। क्यों न हो? क्योंकि आज भारतीय सिनेमा देश के जन–मानस में अपनी जड़ों को मज़बूत करने में ही नहीं, बल्कि विश्व मंच पर भारत की छवि को देदीप्यमान करने में भी अपना योगदान दे रहा है।

जहाँ आज हिंदी सिनेमा आलोचनाओं का शिकार होता है, वहाँ गौरवमय, प्रभावशाली, राष्ट्रीय भावनाओं से ओत–प्रोत होकर अपनी रंग–बिरंगी संस्कृति की सुगंध को दूर–दूर तक फैलाने में कीर्तिमान स्थापित कर चुका है। शायद आज इसीलिए हिंदी सिनेमा को बड़े मान–सम्मान से कान फ़ेस्टिवल में सम्मिलित किया जाता है।

स्वस्थ आलोचना ने हिंदी सिनेमा को उन ऊँचाइयों तक पहुँचाया है, जहाँ जनता वाह–वाही करने के साथ, उसमें छिपे संदेश को अपनाती है और सब मसालेदार तत्त्वों का भी आनंद लेती है।

कभी रंग–बिरंगे त्यौहारों का तो कभी डांडिया, सोहर, ललना, भांगड़ा, लोकगीत या आधुनिक शैली से रंगे सजे गीतों का रस चखाती हैं।

इसके अलावा, भाषा, धर्म, राजनीति, राष्ट्रीयता, इन सब मुद्दों को फ़िल्मों के माध्यम से समाज का हिस्सा बनाना ही भारतीय सिनेमा का मुख्य उद्देश्य रहा है। गीता में कहा गया है 'धर्म, जाति, भाषा से कहीं ऊपर देश–प्रेम होता है'। इसके अनेक उदाहरण

हिंदी फ़िल्में देती रही हैं। जैसे 'भगतसिंह', 'गांधी माई फ़ादर', 'शहीद', 'बॉर्डर', 'उपकार', हाल ही में बनी फ़िल्म 'राज़ी', जिसमें एक बेटी अपने पिता के कहने पर अपना सम्पूर्ण जीवन देश पर न्यौछावर कर देती है।

आज आवश्यकता है कि ऐसी ही फ़िल्में हों, जो नई पीढ़ी की नस–नस में उतरकर उनमें देश के लिए सच्ची भावनाएँ जगाएँ, चाहे जीवन के किसी भी पहलू से संबंधित फ़िल्में हों, वे अपनी संस्कृति के प्रति सम्मान, भाषा से लगाव और जीने के सही तौर–तरीके सिखाएँ, ताकि हर दर्शक गर्व से कह सके कि मैं भारतीय संस्कृति का अनुयायी हूँ। इस संस्कृति को मैं नमन करता हूँ और करता रहूँगा।

s.dookun@mbc.intnet.mu
s.dookun@mbcmoka.local

मैं मानता हूँ कि भारत की आधुनिक भाषाओं में हिंदी ही सच्चे अर्थ में सदैव भारतीय भाषा रही है, क्योंकि वह निरन्तर भारत की एक समग्र चेतना को वाणी देने का चेतन प्रयास करती रही है। और सभी भाषाओं में प्रदेश बोला है– कई बार बड़े प्रभावशाली ढंग से बोला है, हिंदी में आरंभ से ही देश बोलता रहा है–भले ही कभी–कभी कमज़ोर स्वर में भी बोला है।

– सच्चिदानंद वात्सायन

हिंदी-शिक्षण

20. अहिंदी भाषियों में हिंदी-शिक्षा की चुनौतियाँ एवं प्रभावी प्रविधियाँ : एक अनुभव - डॉ. रत्नाकर नराले

21. अमेरिका में आधुनिक प्रौद्योगिकी द्वारा हिंदी भाषा-साहित्य का शिक्षण - डॉ. नीलाक्षी फुकन

22. विदेशी भाषा के रूप में हिंदी-शिक्षण का तकनीकी उपागम - श्री अनुपम श्रीवास्तव

23. रूस में हिंदी अध्ययन की स्थिति - डॉ. मैक्सिम डेमचेंको

अहिंदी भाषियों में हिंदी-शिक्षा की चुनौतियाँ एवं प्रभावी प्रविधियाँ : एक अनुभव

– डॉ. रत्नाकर नराले
टोरंटो, कनाडा

अहिंदी भाषी जगत् में, जिनकी बोलचाल की भाषा अंग्रेज़ी है, हिंदी शिक्षा के प्रचार–प्रसार की प्रक्रिया में तीन श्रेणियों के लोग आते हैं – प्रथम श्रेणी है भारतीय मूल के फ़िजी, मॉरीशस, सूरीनाम, गयाना और त्रिनीदाद–टोबेगो के बच्चे और बड़े लोग, दूसरी श्रेणी में भारत से बाहर रहने वाले भारतीय लोगों के अंग्रेज़ी बोलने वाले बच्चे और तीसरी श्रेणी में हैं कनाडा, यू.एस.ए., यू.के., ऑस्ट्रेलिया आदि देशों के अभारतीय श्वेत लोग, जिनमें हम हिंदी के बीज नए सिरे से बोने में गत पचास साल से लगे हैं।

यह याद रहे कि हमारे इस विश्लेषण में वे लोग समाविष्ट नहीं किए गए हैं, जो हिंदी जानते हैं और हिंदी के कवि–सम्मेलनों या मासिक गोष्ठियों में अपना कवित्व–प्रदर्शन करते हैं या श्रोता बनकर कवि–लेखकों की काव्य–शक्ति द्वारा मनोरंजन करना चाहते हैं। हिंदी भाषी क्षेत्र में रहने वाले बच्चों को रोज़मर्रा की घरेलू, सामाजिक और व्यावहारिक बोलचाल से हिंदी आ ही जाती है। इन लोगों को हिंदी सिखाने की विधि से अहिंदी देशों में रहने वाले अहिंदी भाषियों की हिंदी–शिक्षा–प्रविधि व शिक्षा सामग्री से बहुत भिन्न होती है और होनी ही चाहिए। यहाँ, बच्चों से बड़ों तक सभी लोग हिंदी की पहली कक्षा के ही शिक्षार्थी होते हैं और कई बार बच्चे–बड़े सभी एक ही कक्षा में बैठकर हिंदी सीखते हैं।

जब शुभ कार्य आरंभ किया जाता है, उस समय सभी चुनौतियाँ गोचर नहीं होती हैं, वरन् प्रगति के साथ–साथ एक–एक चुनौती प्रकट होती जाती है और उसका समाधान अपने ध्येय के अनुसार ढूँढना पड़ता है। उपरोक्त त्रिवेणी श्रेणी के अहिंदी जगत् में हिंदी शिक्षा की चुनौतियों में सर्वप्रथम आवश्यकता है हिंदी के ऐसे बिरले निष्ठावान सेवक जो स्वयं हिंदी भाषी हों या न हों, निजी पैसों से आर्थिक लाभ–हानि की ओर न देखते हुए और आत्म–प्रचार की कामना और आत्मश्लाघा को छोड़कर, मात्र सेवा–भाव से विश्व स्तर पर हिंदी शिक्षा और प्रसार का बीड़ा उठाए हुए हों। गत 50 वर्षों से अहिंदी जगत में हिंदी शिक्षा के प्रचार–प्रसार की प्रक्रिया में निजी पैसों व परिश्रम से आर्थिक लाभ–हानि की ओर तनिक न देखते हुए और आत्म–प्रचार की कामना के बिना, मात्र सेवा–भाव से विश्व स्तर पर हिंदी (संस्कृत और संस्कृति) की शिक्षा एवं प्रसार का बीड़ा उठाए हुए एकमात्र उल्लेखनीय और दीर्घकाल से सफल संस्थान है टोरंटो, कनाडा का 'पुस्तक भारती' और उसके निरपेक्ष कर्मचारी।

फिर चुनौती होती है अहिंदियों को शीघ्र एवं प्रभावशाली तरीके से हिंदी शिक्षा की सामग्री का सक्षम रचयिता व सुयोग्य लेखक ढूँढ़ना, जिन्हें दीर्घकाल से भारत के बाहरी जगत् में रहने के कारण डायस्पोरा तौर–तरीके और विचार–व्यवहार का प्रत्यक्ष स्वगत अनुभव हो। कहीं से एक वर्णमाला या पहली कक्षा की किताब लाकर आप यदि उसी क्रम में, उसी रचना से, बने–बनाए वाक्यों से हिंदी पढ़ाना शुरू करते हैं, तो इसका मतलब है आप हिंदी शिक्षा में गम्भीर नहीं हैं, केवल सौंपा हुआ काम निबटा रहे हैं। संजीदा रूप में हिंदी पढ़ाने का मतलब है, शिक्षार्थी समूह की पार्श्वभूमि समझकर उसी मानक से प्रभावशाली शिक्षा सामग्री बनाकर कार्यरत होना अपरिहार्य है। अतः चुनौती है अहिंदी जगत् के अंग्रेज़ी भाषियों में हिंदी शिक्षा के प्रचार–प्रसार हेतु विशेष रूप से संशोधन के साथ लिखित प्रसाधनों–पुस्तकों का विश्व स्तर पर प्रकाशन, उपलब्धि व वितरण करने वाला सक्षम संस्थान ढूँढ़ना या खड़ा करना। ये तीनों प्रमुख चुनौतियाँ संस्कृत एवं संस्कृति के प्रचार–प्रसार की भी हैं। अतएव ये चुनौतियाँ साथ–साथ ही हल की जाएँ तो उत्तम है।

अहिंदियों के लिए हिंदी (और संस्कृत) शिक्षा की प्रविधि का प्रथम स्तंभ है – शिक्षार्थी को देवनागरी लिखना–पढ़ना सिखाना और दूसरा स्तंभ है – याद किए हुए वाक्यों से नहीं, मगर स्वरचित वाक्यों से हिंदी में बोलचाल करने में छात्रों को सक्षम करना। इन दोनों स्तंभों के अपने अलग–अलग कौशल हैं। अतः इस आलेख का प्रथम विषय है अहिंदियों को देवनागरी अध्यापन की नयी क्षमताशाली व सुलभ तकनीक और दूसरा विषय है अहिंदियों को हिंदी में स्वतंत्र संभाषण करना सिखाने का नूतन सुगम तंत्र। जितनी प्रभावी हमारी शिक्षा सामग्री होगी, जितने ही प्रभविष्णु हमारे शिक्षक होंगे, उतने ही सफल हमारे छात्र होंगे और उतनी

ही कृतकाम हमारी योजना होगी।

भारत, कनाडा और यू.एस.ए. आदि के कई छोटे–बड़े हिंदी (और संस्कृत) शिक्षा वर्गों का पर्यावलोकन करके यह महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकला कि लगभग सभी संस्थाओं में और शिक्षण सामग्री में देवनागरी सिखाने के लिए अक्षरों को – अ, आ, इ, ई.. और फिर क, ख, ग, घ.. क्ष, त्र, ज्ञ.. इत्यादि, वर्णमाला के क्रम में ही पढ़ाया जाता है, जो कि अंग्रेज़ी भाषी नए छात्रों को बहुत कठिन एवं दुर्गम लगता है। इस तरीके से छात्रों को पूर्णतया देवनागरी लिखना–पढ़ना सीखने के लिए दो–दो घंटों के दस से तीस तक कक्षाओं का समय लग जाता है, और फिर भी अधिकतर छात्र ठीक से और आसानी से देवनागरी लिख–पढ़ नहीं सकते हैं। इतनी बृहत् प्रतिबद्धता के लिए सभी छात्रों के पास न तो समय, न धीरज, न इच्छा, न ही पैसा होता है। और परिणामस्वरूप, कई छात्र बीच में ही कक्षा छोड़ देते हैं और पढ़ाई की प्रक्रिया असफल होकर बंद हो जाती है। दुबारा फिर कठिनाई से आरंभ होती है। इस अनुभव और अनुमान से प्रस्तुत लेखक ने 'पुस्तक भारती' के माध्यम से देवनागरी सीखने–सिखाने का प्रभावशाली व मनोरंजक तरीका ढूँढ निकाला और उसे तरह–तरह की कक्षाओं में प्रत्यक्ष परीक्षण करने में हर प्रकार से आरंभ किया। दो वर्षों के भीतर ही अनुसंधानात्मक परिश्रम के पश्चात् 'पुस्तक भारती' के संशोधकों ने दो–दो घंटों के 5 से 8 तक वर्गों में देवनागरी (हिंदी–संस्कृत) सिखाने की प्रविधि सिद्ध कर ली। इस आलेख में उस विधा का सारांश स्वरूप दिखाया गया है, जिसका सविस्तार रूप 'पुस्तक भारती' के अनेक प्रकाशनों (Learn Hindi Through English Medium ISBN 978-0-9782017-9-1, हिंदी टीचर ISBN 9781897416716, हिंदी टीचर फ़ॉर हिंदू चिल्ड्रन ISBN 9781897416754, संस्कृत टीचर ISBN 9781897416549, आदि) में देखा जा सकता है और ये पुस्तकें अमेज़ोन.कॉम पर वितरण के लिए अखिल विश्व में उपलब्ध हैं।

यह तात्त्विक प्रविधि आम तौर पर हिंदी सिखाए जाने वाली विधा से एकदम भिन्न होकर तात्त्विक, सहज व सुगम है। केवल एक बार प्रयोग में लाकर देखने की बात है, बस! इस रीति से सीखने के लिए दो–दो घंटों की मात्र 5 से 7 या उससे भी कम कक्षाएँ पर्याप्त होती हैं। दस कक्षा के एक ही सत्र में, फिर बची हुई 3 से 5 कक्षाएँ छात्रों को अनुभवी व निपुण बनाने के काम में आती हैं। इस तंत्रपूर्ण तकनीक में अक्षरों को वर्णमाला के अ, आ, इ, ई क्रम में नहीं मगर वर्णों को आकार के अनुसार दस समूहों में बाँटकर दो–दो सजातीय स्वरों के साथ बहुत सुव्यवस्थित रीति से प्रस्तुत किया जाता है। जिससे नए छात्रों के लिए अक्षरों को पहचानना व स्मरण करना अति शीघ्र, सरल व सुगम हो जाता है। सत्र आरंभ होने के बाद केवल 15 मिनट में ही कक्षा के सभी छात्र देवनागरी पढ़ने में सक्षम होना आरंभ हो जाते हैं। सत्र की असफलता की कभी कोई संभावना नहीं रहती।

नए छात्रों की सुविधा और व्याकरणिक ज्ञान–वृद्धि के लिए तैयार की गई वर्ण–सारणी में प्रत्येक वर्ण का आकार समूह, वर्ग–समूह, गुण–समूह, मृदु–कठोर–समूह, अनुनासिक समूह, स्वर–व्यंजन–समूह आदि सब विशिष्टताएँ भिन्न–भिन्न रंगों से उनकी स्वर–मात्राओं के साथ और लिखने के तरीके के साथ अद्वितीय रीति से चित्रित है। यह तालिका और यह सुंदर प्रविधि पाश्चात्य देशों के विश्वविद्यालयों, पाठशालाओं, मंदिर–कक्षाओं, शिक्षा संस्थाओं में और स्वयं–पठन के लिए बहुत लोकप्रिय और प्रचलित है।

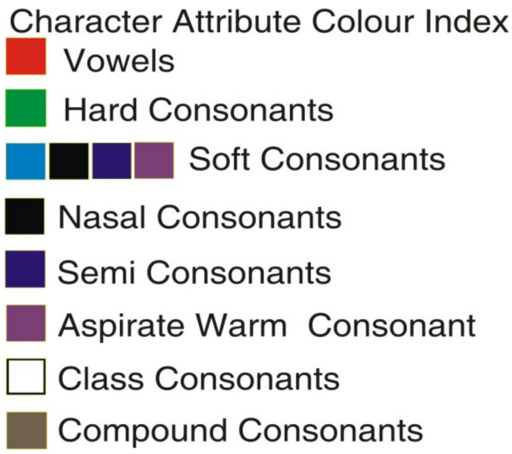

इसी खूबी की वजह से स्वयं मेरे रायर्सन युनिवर्सिटी, टोरंटो युनिवर्सिटी, यॉर्क युनिवर्सिटी, टोरंटो स्कूलबोर्ड के और अन्य संस्थाओं की हिंदी (और संस्कृत) कक्षाओं में बिना किसी अपवाद के, यह जादू हर वर्ग में वर्षों से चलता आ रहा है। सत्र आरंभ होने के मात्र दस–पन्द्रह मिनट में ही कक्षा के सभी छात्र श्याम–फलक पर लिखे हुए हिंदी शब्द आराम से पढ़ सकते हैं। उसके आगे फिर कक्षा की गति उन्नत ही होती जाती है और सफलता प्राप्त कर लेती है। इसी का परिणाम है कि युनिवर्सिटी के अधिकारी एवं छात्रों की सराहना बरसती रहती है। उदाहरण के लिए देखिए (www.pustak-bharati-canada.com) 'पुस्तक भारती' रिसर्च जर्नल की वेबसाइट, लोकमत।

बाल एवं किशोर छात्रों की हिंदी शिक्षा गीत–संगीत के साथ की जाए, तो वह अधिक प्रभावी व मनोरंजक हो जाती है। 'पुस्तक भारती' के प्रकाशनों में इस चुनौती पर विशेष ध्यान दिया जाता है। एक बुनियादी उदाहरण निम्न है।

<u>अ आ इ ई उ ऊ गीत</u>

रेरे मम पप ध–, नि–ध– पम– धध पप म– ।।
अ आ इ ई उ ऊ ऋ–, गाड़ी चलती छुक् छुक् छू– ।।

सा– रे– गग म–, निनिध– प–मम ध– पम– ।।
ए– ऐ– ओ औ अं–, बजता इंजन का भोपू– ।
क ख ग घ ङ–, कुत्ता भोंके भु भु भू– ।
च छ ज झ ञ –, चूहा बोले चु चु चू– ।
ट ठ ड ढ ण–, टरकी बोले गु गु गू– ।
त थ द ध न–, तोता बोले शु शु शू– ।
प फ ब भ म–, मुन्ना पीता है दुदू– ।
य र ल व श–, बिल्ली बोले मी यु यूँ– ।
ष स ह क्ष त्र ज्ञ–, जग में हम सारे बंधु– ।

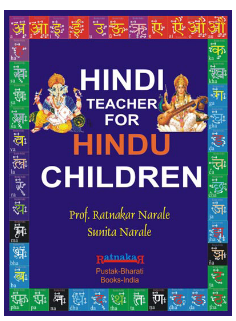

हिंदी शिक्षा को गीत–संगीत द्वारा सुगम बनाने के साथ–साथ 'पुस्तक भ. ारती' यह भी चुनौती स्वीकार्य करती है कि हिंदी शिक्षा की पुस्तकें लिखते समय उसी सामग्री में हिंदी–भारतीय संस्कृति भी ज्ञात–अज्ञात स्वरूप में संलग्न की गई हो और परिणाम स्वरूप हिंदी की पढ़ाई प्रसादयुक्त हो। 'पुस्तक भारती' ने हिंदू शिक्षार्थियों के लिए एक खास पुस्तक लिखी है (ISBN978-1-897416-75-4) जिसमें अ से ज्ञ तक सर्व अक्षरों व 1 से 10 तक सभी अंकों का दैवी वैदिक महात्म्य सोदाहरण समझाया है। हमारे बच्चों को हिंदी के साथ भारतीय संस्कृति की शिक्षा प्रदान करने का यह हमारा एक नया प्रकल्प है। इस सचित्र पुस्तक में हिंदू लोगों की वैश्विक, भारतीय और भौगोलिक उपस्थिति, उनका पवित्र इतिहास, पावन तीर्थ स्थान, पवित्र नदियाँ, ऋषि–मुनि, महाभाग, सदाचार, त्यौहार, मंदिर, प्रार्थनाएँ, संगीत, देवनागरी के पवित्र अक्षरों और अंकों का वैदिक महत्त्व, आदि का विशेष दिग्दर्शन है।

जो चुनौतियाँ हिंदी लिखने पढ़ने में हैं, वे ही चुनौतियाँ हिंदी संभाषण कला से अवगत कराने में भी हैं। अतः समाधान लगभग उसी तरीके के होते हैं। भारत, कनाडा, यू.एस.ए. आदि की हिंदी शिक्षा कक्षाओं के हमारे दो वर्ष के सूक्ष्म पर्यावलोकन में हमने यह भी देखा था कि लगभग सभी कक्षाओं में एवं शिक्षा पुस्तकों में हिंदी की बोलचाल पूर्व–रचित वाक्यों द्वारा उन्हें स्मरण करके बोलना सिखाया जाता है। छात्रों को अपने विचार अपने बल पर अपनी वैयाकरणीय ज्ञान–शक्ति पर निर्भर होकर हिंदी वाक्य बनाने की कला नहीं सिखाई जाती है। मगर, छात्रों को आराम से एक क्रियापद मूलरूप से तीन काल में चलाना सिखाया जाए, तो फिर वे छात्र उसी रीति से अपने बल पर विश्वास के साथ हज़ारों–हज़ारों वाक्य यथेष्ट बना सकते हैं और संभाषण कला की चाबी स्वयं हस्तगत कर सकते हैं। यह सही तरीका है। यही हमने अपनी शक्तिशाली प्रविधि में अपनाया है। जिन तरीकों से हिंदी भाषी छात्रों को शिक्षा दी जाती है, उन्हीं तरीकों से अहिंदी जगत् के अहिंदी भाषियों को देना कतई प्रभावशाली नहीं हो सकता है, यही हमारा निष्कर्ष रहा है। उदाहरण के लिए नीचे दिखाई हुई क्रियापद चलाने की एक स्वल्प तालिका देखिए। (निम्न तालिका का पूर्ण सुव्यवस्थित विस्तृत रूप हमारे प्रकाशनों में TABLE 18 नाम से चित्रित है)।

स्वयं रचित वाक्यों से हिंदी बोलचाल सीखने की प्राविण्य प्राप्त तालिका, एक संक्षिप्त अनुच्छेद के रूप में :

मैं
मैं हूँ
मैं लड़का हूँ

मैं लड़की हूँ
मैं आता हूँ, मैं आ रहा हूँ, मैं आ चुका हूँ
मैं आती हूँ, मैं आ रही हूँ, मैं आ चुकी हूँ
मैं आता था, मैं आ रहा था, मैं आ चुका था
मैं आती थी, मैं आ रही थी, मैं आ चुकी थी
मैं आऊँगा, मैं आ रहा हूँगा, मैं आ चुका हूँगा
मैं आऊँगी, मैं आ रही हूँगी, मैं आ चुकी हूँगी

वह (वह के समान ही, तू कर्ता चलेगा)
वह है
वह लड़का है
वह लड़की है
वह आता है, वह आ रहा है, वह आ चुका है
वह आती है, वह आ रही है, वह आ चुकी है
वह आता था, वह आ रहा था, वह आ चुका था
वह आती थी, वह आ रही थी, वह आ चुकी थी
वह आएगा, वह आ रहा होगा, वह आ चुका होगा
वह आएगी, वह आ रही होगी, वह आ चुकी होगी

हम (हम के समान ही, आप और वे कर्ता चलेंगे)
हम हैं
हम लड़के हैं
हम लड़कियाँ हैं
हम आते हैं, हम आ रहे हैं, हम आ चुके हैं
हम आते हैं, हम आ रहे हैं, हम आ चुके हैं
हम आते थे, हम आ रहे थे, हम आ चुके थे
हम आती थीं, हम आ रही थीं, हम आ चुकी थीं
हम आएँगे, हम आ रहे होंगे, हम आ चुके होंगे
हम आएँगे, हम आ रहे होंगे, हम आ चुके होंगे

इस सुगम विधि से हिंदी छात्र भिन्न–भिन्न संज्ञाएँ और क्रियाएँ लेकर अनगिनत मनमाने हिंदी वाक्य स्वयं बनाने में समर्थ हो जाते हैं। अहिंदी भाषियों को हिंदी पढ़ाने की यही सरल प्रविधि है।

हिंदी शिक्षा की एक और महत्त्वपूर्ण चुनौती है, कक्षाओं के लिए हर सत्र में शिक्षार्थी स्वयंस्फूर्त होकर पर्याप्त संख्या में आएँ। प्रत्येक सत्र में यथेष्ट संख्या में छात्र तभी आते हैं, जब पूर्व कक्षाओं का परीक्षा–फल संतोषजनक हो। हर कक्षा का परीक्षा–फल संतोषदायक तभी होता है जब शिक्षा की सामग्री इतनी प्रभावशाली और फलदायी हो कि उत्तीर्ण छात्र और उनके पालक स्वयं अपने मुँह से उसका प्रचार करते रहें। इसके लिए प्राविण्य प्राप्त छात्रों का सादर सम्मान करना सफलता की एक चाबी होती है।

हिंदी के बीज बोना एक पुण्य कर्म है। इस आस्था से अहिंदियों को हिंदी सिखाने के लिए येन केन प्रकारेण उद्यत करना और हिंदी के बीज बोकर उनमें हिंदी के प्रति रुचि बढ़ाकर उन्हें हिंदी का क्रियाशील सेवक बनाना, ताकि वे सुदृढ़ वृक्ष बनकर एक दिन स्वयं भी आगे बीज बोकर गुरु–शिष्य परंपरा को चलाते रहें। इस प्रविधि से स्वयं हमने गत 50 साल की तपस्या और साधना से हज़ारों बीज बोए हैं और उनकी अनगिनत पौधों की खेती सारे विश्व में बेहिसाब फैल गई है, फैल रही है। यह 'पुस्तक भारती' की बेल निरंतर फैलती हुई विश्व में अमर रहेगी।

rnarale@yahoo.ca

हिंदी भारतवर्ष के हृदय–देश में स्थित करोड़ों नर–नारियों के हृदय और मस्तिष्क को खुराख देने वाली भाषा है।

– हज़ारीप्रसाद द्विवेदी

अमेरिका में आधुनिक प्रौद्योगिकी द्वारा हिंदी भाषा-साहित्य का शिक्षण

– डॉ. नीलाक्षी फुकन
नॉर्थ कैरोलीना, अमेरिका

इक्कीसवीं सदी में, विदेशी भाषा–शिक्षण और अधिगम की नवीन प्रणालियाँ अमेरिकी शैक्षणिक संस्थानों में, विशेषतः विदेशी भाषा–साहित्य के क्षेत्र में, अभूतपूर्व परिवर्तन ला रही हैं। मनोविज्ञान, भाषाविज्ञान और विदेशी भाषा के शिक्षण और अधिगम में हुए भिन्न शोध–कार्यों के आधार पर यही निष्कर्ष निकला है कि वर्तमान समय की माँग के अनुसार, विदेशी भाषा– शिक्षण और अधिगम के मुख्य उद्देश्य हैं – समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण, वास्तविक जीवन–संचार, पारस्परिक आदान–प्रदान तथा विभिन्न समाजों व संस्कृतियों के प्रति समरूप और सम्मानजनक समझ का प्रचार करना तथा व्यावहारिक ज्ञान की वैश्विक क्षमता का विस्तार करना। आधुनिक तकनीकी प्रगति तथा बढ़ती प्रौद्योगिकी के अनुकूल, विशिष्ट भाषा–साहित्य की संस्कृति के वास्तविक स्वरूप तथा सूक्ष्म तत्त्वों और आकर्षक पहलुओं को विद्यार्थियों के समक्ष प्रस्तुत करने में अत्यन्त सफलता प्राप्त हुई है। इसके फलस्वरूप अमेरिकी शिक्षा–संस्थानों में, विदेशी भाषा–साहित्य का पठन–पाठन अधिक रुचिकर और आकर्षक बन गया है।

अमेरिकी सरकार ने हिंदी भाषा को राष्ट्रीय सुरक्षा और आर्थिक प्रतिस्पर्धा के लिए 'महत्त्वपूर्ण भाषा' के रूप में घोषित किया है। साथ ही, प्रवासी भारतीयों की बढ़ती हुई संख्या के फलस्वरूप अमेरिकी शैक्षिक संस्थानों में हिंदी भाषा–साहित्य के शिक्षण और अध्ययन की माँग बढ़ती जा रही है। नॉर्थ कैरोलीना स्टेट यूनिवर्सिटी में भी बहुत से इच्छुक विद्यार्थी हमेशा हिंदी भाषा–साहित्य तथा बालीवुड–फ़िल्म के पाठ्यक्रमों के प्रति आकर्षित हुए हैं। ऐसे पाठ्यक्रम छात्रों के जनरल एजुकेशन प्रोग्राम (GEP) की अनिवार्यता को पूरा करने में सहायक होते हैं। इंटरमीडिएट तथा एडवान्स हिंदी के पाठ्यक्रमों के साथ–साथ, दक्षिण–एशियाई साहित्य और संस्कृति के पाठ्यक्रम, विद्यार्थियों को हिंदी मेजर और माइनर, जनरल एजुकेशन प्रोग्राम–ह्यूमेनिटीज़ रिक्वायरमेंट्स (Humanities requirements) और जनरल एजुकेशन प्रोग्राम–ग्लोबल नॉलेज को–रिक्विज़िट्स (Global Knowledge Co-requisites) पूरा करने में मदद करते हैं।

नॉर्थ कैरोलीना स्टेट यूनिवर्सिटी सत्रह अन्य विश्वविद्यालयों सहित लेंग्वेज एसेम्बली और एक्सचेंज ऑनलाइन पाइलट प्रोग्राम (Language Assembly and the Exchange Online Pilot program) का नेतृत्व करती आयी है। अधिकांश पाठ्यक्रमों को वीडियोकॉन्फ़्रेंसिंग डिस्टेंस एजुकेशन (Videoconferencing Distance Education) द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। पूरे राज्य में यही एकमात्र ऐसा विश्वविद्यालय है, जो हिंदी भाषा–साहित्य के पाठ्यक्रमों को यूनिवर्सिटी ऑफ़ नॉर्थ कैरोलीना शिक्षा–व्यवस्था के अंतर्गत समकालिक (synchronous – एक ही समय) और अतुल्यकालिक (asynchronous – भिन्न समय) शैली में कई विश्वविद्यालय–परिसरों में नॉर्थ कैरोलीना रिसर्च एंड एजुकेशन नेटवर्क (NCREN-North Carolina Research and Education Network) के ज़रिये प्रस्तुत कर रहा है। इसमें इंटरएक्टिव वीडियो–कॉन्फ़्रेंसिंग टेक्नोलॉजी (interactive video-conferencing technology) यानी एक ही समय पर भिन्न परिसरों में बैठे हुए विद्यार्थियों को हिंदी सिखाना, जहाँ हम उनको देख सकते हैं, उनसे बातचीत कर सकते हैं और वे भी वही सब कुछ कर सकते हैं। स्मार्ट बोर्ड इंटरएक्टिव व्हाइट बोर्ड (SMART Board interactive white board), स्मार्ट ब्रिजिट कॉन्फ़्रेंसिंग सॉफ़्टवेयर (SMART Bridgit conferencing software) और टर्निंग पोंइंट स्टूडेंट रिसपोंस सिस्टेम (Turning Point student response system) जैसी नई प्रौद्योगिकियों का उपयोग किया गया है। इंटरएक्टिव वीडियो–कॉन्फ़्रेंसिंग द्वारा शुरू की गई इस प्रौद्योगिकी–यात्रा में अब तक प्राप्त हुई सफलताओं और कठिनाइयों की मिश्रित उपलब्धियों के आधार पर उभरा हुआ यह प्रोग्राम, एक आदर्श प्रोग्राम के रूप में दूसरे शैक्षिक संस्थानों को पथ–प्रदर्शित कर रहा है।

आधुनिक युग के विद्यार्थी, कंप्यूटर से लेकर इंटरएक्टिव वीडियो, मूवी, डी.वी.डी., इंटरनेट, ईमेल, सोशल मीडिया, टेक्स्ट मैसेजिंग और ऐप्स जैसी आधुनिक प्रौद्योगिकियों में बहुत निपुण

हैं। उनके पास डिजिटल दुनिया के माध्यम से चौबीसों घंटे अपनी उंगलियों के जादू से दुनियाभर की खबरों का खज़ाना खोलने की क्षमता मौजूद है। किसी भी विदेशी भाषा–साहित्य और संस्कृति का ज्ञान हासिल करने से पहले स्वभावतः वे उस भाषा में उपलब्ध भाषिक और सांस्कृतिक तत्त्वों तथा स्रोतों को इन नई टेक्नोलॉजी में कितना उपलब्ध हो सकता है, उसकी जांच–पड़ताल करते हैं। अतः विद्यार्थियों की इन्हीं ज़रूरतों को ध्यान में रखते हुए, नॉर्थ कैरोलीना स्टेट यूनिवर्सिटी में वर्चुअल रीअल्टी (Virtual Reality), 360-डिग्री विज़ुअलाइज़ेशन (360 Degree Visualization), ग्रीन स्क्रीन (Green Screen) और 3-डी प्रिंटिंग (3D Printing) जैसी नई प्रौद्योगिकियों का हिंदी भाषा–साहित्य के शिक्षण और अधिगम प्रक्रिया में प्रयोग कर नई पीढ़ी के विद्यार्थियों में एक नई उमंग एवं आकर्षण पैदा किया गया है।

''फ़ॉरेन लेंग्वेज वर्चुअल रीअल्टी प्रोजेक्ट'' (Foreign Language Virtual Reality Project)

भाषा–साहित्य के प्राध्यापकों को हमेशा ही यह ध्यान में रखना चाहिए कि आधुनिक विद्यार्थियों के भाषा सीखने का उद्देश्य क्या है और वे किस तरह भाषा–साहित्य सीखना चाहते हैं, जिसपर अधिकांशतः महत्त्व नहीं दिया जाता है। दूसरी तरफ़, वर्चुअल रीअल्टी अब उस परिपक्व अवस्था पर पहुँच गई है कि तरह–तरह के विज्ञान–संबंधी विषयों के अतिरिक्त भाषा–साहित्य के पठन–पाठन में भी इसका भरपूर प्रयोग कर सकते हैं। बिना भारत गए, यहीं आभासी तौर पर विद्यार्थियों के समक्ष भारत को प्रस्तुत कर सकते हैं तथा इमर्सिव हिंदी भाषिक माहौल में हिंदी के प्रयोग करने का मौका दे सकते हैं। हाल ही में, नॉर्थ कैरोलीना स्टेट यूनिवर्सिटी में ''फ़ॉरेन लेंग्वेज वर्चुअल रीअल्टी प्रोजेक्ट'' का प्रारम्भ किया गया, जिसमें कंप्यूटर के इंटरएक्टिव हार्डवेयर और सॉफ़्टवेयर के मिश्रण से एक कृत्रिम भारतीय सांस्कृतिक वातावरण, जो इमर्सिव 360–डिग्री दृश्यपट–फ़िल्म और यथार्थवादी त्रि–आयामी इमेज के ज़रिये सृजित किया गया, जहाँ विद्यार्थी हेड–माउंटड डिस्प्ले और स्टीरियो हेडफ़ोन पहनकर तथा हाथ में मोशन कंट्रोलर लेकर जैसे ही उस कृत्रिम परिवेश में उतरते हैं, एक जीवंत और कार्यात्मक, वास्तविक भू–स्थल का अहसास अनुभव करते हैं। एक संपूर्ण इमर्सिव हिंदी भाषा–संस्कृति समृद्ध वातावरण, यानी परिदृश्य का 360–डिग्री दृश्यपट, जो वास्तविक जीवन के वातावरण के समानांतर है। वास्तव में, किसी भी संदेह के बिना विद्यार्थी इस कृत्रिम वातावरण को वास्तविक वातावरण के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। हिंदी के विद्यार्थियों को ऐसी ''आभासी वास्तविकता'' यानी ''वर्चुअल रीअल्टी'' का अनुभव दिलाने का मुख्य उद्देश्य हिंदी भाषा के रचनात्मक तत्त्वों जैसे ध्वनि और अर्थ, भाषाविज्ञान की क्षमता, ध्वन्यात्मक प्रणाली, वाक्यांश, वाक्यों का निर्माण, भिन्न संदर्भों पर बने अनुच्छेद और कथोपकथन, प्रश्नोत्तर प्रक्रिया तथा भारतवर्ष की बहुरंगी संस्कृति एवं सांस्कृतिक अवयव – जैसे रीति–रिवाज़, संस्कार–परंपराएँ, विश्वास–धारणाएँ, धर्म–त्योहार, चिंतन–मनन और निष्पक्ष दृष्टिकोण का एक यथार्थवादी अनुभव प्रदान करना है, ताकि विद्यार्थी भविष्य में ''असली दुनिया'' (real world) के समक्ष आत्मविश्वास के साथ स्वयं को प्रस्तुत कर पाएँ। ''आभासी वास्तविकता–वर्चुअल रीअल्टी'' के अनुभव के बाद, कुछ विद्यार्थियों द्वारा भेजी गई प्रतिक्रियाएँ कुछ इस प्रकार हैं:

- *हिंदी वर्चुअल रीअल्टी का अनुभव बहुत ही दिलचस्प था। जैसे ही उपकरण चालू हुआ, मैंने अचानक अपने आप को एक स्थानीय मंदिर में पाया। जहाँ मैं मुड़ा, वहाँ कुछ–न–कुछ चल रहा था। लोग पूजा कर रहे थे, बच्चे इधर–उधर भाग रहे थे और कई दोस्त और परिवार आपस में बातचीत कर रहे थे। मैं न केवल अपने आस–पास होने वाली गतिविधियों को देख सकता था, बल्कि उनकी बातें सुन भी सकता था। कुछ लोग मेरे पास भी आए और अपना परिचय देने के बाद मुझसे ऐसे सवाल किए जिससे लगा, जैसे वास्तव में मैं उस परिवेश में एक शांत पर्यवेक्षक होने के विपरीत प्रत्यक्ष रूप से उनके साथ भावाभिव्यक्ति में मग्न था।''*

- *वर्चुअल रीअल्टी हमारे विश्वविद्यालय के लिए एक अद्भुत संसाधन है और यह हिंदी भाषा के शिक्षण व अधिगम को अधिक रोमांचक और उपयोगी बना सकता है। यह अत्यंत ही सुखद बात है कि हमारी प्राध्यापिका अपनी शिक्षण–शैलियों को आधुनिक युवा पीढ़ी के अनुकूल और अभिनव बनाने की कोशिश कर रही हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि इक्कीसवीं सदी के युवाओं को हिंदी भाषा सिखा पाने का भविष्य इस तरह की टेक्नोलॉजी के उपयोग पर ही निर्भर है। मैं यह अनुग्रह करता हूँ कि अन्य*

प्राध्यापक भी इस शिक्षण–शैली को अपनाने का प्रयास करें और हिंदी पठन–पाठन को अधिक आकर्षक बनाएँ।''

- *हिंदी कक्षा का यह मेरा सबसे पसंदीदा और यादगार अनुभव रहा। नई युवा पीढ़ी को हिंदी सिखाने की डॉ. फुकन द्वारा की गई इस नवीन चेष्टा को देखकर मुझे बेहद आनंद मिला। अंतिम मॉड्यूल, मेरी राय में, सबसे अच्छा था, जिसमें एक छोटे से परिवार से बातचीत की गई थी, जो सबसे अधिक इंटरएक्टिव था। पिता ने हमें मॉड्यूल में रहते हुए कई सवालों के जवाब देने के लिए कहा। मैं उन सवालों के बारे में सोचने और जवाब देने में सक्षम था और मानो मैं वास्तव में उसके सामने मंदिर के अंदर उस समय मौजूद था।''*

- *हिंदी वर्चुअल रीअल्टी का अनुभव बहुत अच्छा और ज्ञानवर्धक था। जब लोगों ने प्रार्थना क्षेत्र में प्रवेश किया, तब कुछ ने घंटी बजाई और कुछ ने घुटनों के बल प्रार्थना की, जो मेरे लिए बहुत अनोखा अनुभव था और साथ ही मन में अनेक सवाल पैदा हुए कि लोगों के प्रार्थना करने के तरीके कितने भिन्न–भिन्न हैं। बाद में डॉ. फुकन ने भारतीय धार्मिक नीति–नियमों से जुड़े हुए मेरे सारे सवालों के जवाब दिए, जिससे मेरे सांस्कृतिक ज्ञान में वृद्धि हुई।''*

- *'मैं वर्चुअल रीअल्टी रूम में और अधिक अभ्यास करना पसंद करूँगी, ताकि मेरी हिंदी बोलने की क्षमता अधिक मज़बूत हो सके। यह बड़ी अद्भुत बात है कि वास्तव में शारीरिक रूप से वहाँ मंदिर में मौजूद न होते हुए भी धार्मिक और सांस्कृतिक पहलुओं को समझने और महसूस करने में सक्षम हुई। किस तरह लोग हाथ जोड़कर एक–दूसरे का अभिवादन करते हैं, किसी के पाँव को छूने के बाद अपने माथे पर हाथ रखकर आशीर्वाद लेते हैं, जैसी बातें मुझे बड़ी अनोखी लगी।''*

360–डिग्री विज़ुअलाइज़ेशन शिल्पशाला (360 Degree Visualization Studio)

360–डिग्री विज़ुअलाइज़ेशन शिल्पशाला भाषा–साहित्य के पठन–पाठन में एक नई प्रौद्योगिकी को लाई है, जहाँ विद्यार्थियों को पावर पोंइट प्रेज़ेंटेशन तैयार करने और सभी स्लाइडों को लेकर एकदा ''360 डिग्री दृश्य प्रस्तुति'' में देखने की सुविधा प्रदान करती है। विज़ुअलाइज़ेशन स्टूडियो, विषयवस्तु की सम्पूर्ण जानकारी देने एवं प्रस्तुत करने का एक प्रभावशाली और मनोरंजक तरीका है, जहाँ विद्यार्थी एक स्लाइड से दूसरी स्लाइड पर जाने के बजाय आवश्यक विषय वस्तुओं को 360 डिग्री चित्रण–प्रणाली के माध्यम से देख सकते हैं। कक्षा में किसी भी जगह बैठे हुए विद्यार्थी को हर एक स्लाइड में रखी गई तस्वीरें, वीडियो और भाषिक तत्व दीवारों के चारों कोणों में दिखाई पड़ते हैं। ज़्यादातर देखा गया है कि भाषा–साहित्य की कक्षाओं में जो सिखाया जाता है, उसी विषयवस्तु के प्रस्तुतीकरण पर ज़ोर दिया जाता है। विज़ुअलाइज़ेशन स्टूडियो के ज़रिये छात्रों को अपनी पसंदीदा विषयवस्तु की 360 डिग्री प्रस्तुतियाँ प्रदर्शित करने हेतु एक नया ''मज़ेदार विकल्प'' दिया जाता है।

नॉर्थ कैरोलीना स्टेट यूनिवर्सिटी में हिंदी साहित्य (अनुवाद) को 360–डिग्री विज़ुअलाइज़ेशन स्टूडियो में पढ़ाया जा रहा है, जहाँ विद्यार्थियों के समक्ष दक्षिण एशियाई सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक दृष्टिकोण और धार्मिक ज्ञान के विशाल खज़ाने की जानकारियाँ भिन्न प्रकार के चित्रमय प्रदर्शन के ज़रिये प्रस्तुत की जाती हैं। छात्र हिंदी साहित्य के विभिन्न लघु कथाओं, कहानियों, उपन्यासों में वर्णित विविध साहित्यिक आधारों, बालीवुड–फ़िल्मों के संदर्भों एवं संवादों पर चर्चा करने, अपनी राय और विचार प्रस्तुत करने, अवधारणाओं के ज्ञान को दर्शाने, सत्य और यथार्थता के सटीक तथ्यों को उजागर करने में सक्षम हुए हैं। विद्यार्थियों को भी 360–डिग्री विज़ुअलाइज़ेशन स्टूडियो में प्रस्तुतियाँ तैयार करने के लिए प्रोत्साहित किया गया है और हर सेमेस्टर के अंत में, विद्यार्थी आधुनिक हिंदी लघु कथाओं और कहानियों के साथ–साथ कई हिंदी फ़िल्मों में वर्णित साहित्यिक और सामाजिक मूलभूत–तत्वों को उजागर करने में इस प्रौद्योगिकी का प्रयोग कर काफ़ी लाभान्वित हुए हैं। उदाहरण के लिए, उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचंद की पतनशील सामंतवादपर आधारित कहानी ''शतरंज के खिलाड़ी'', अजय नावरिया की अछूतों की मानसिकता पर आधारित मार्मिक कहानी ''गोदना'', महाकवि कालिदास का विश्वविख्यात नाटक ''अभिज्ञान शाकुंतलम'' के साथ–साथ हिंदी फ़िल्में ''बाजीराव मस्तानी'', ''लगान'', ''ओम शांति ओम'' इत्यादि को प्रस्तुत किया गया है। विद्यार्थियों द्वारा भेजी गई कुछ प्रतिक्रियाएँ इस प्रकार हैं :

- *'यह चित्रमय प्रदर्शन काफ़ी लाभप्रद रहा, जिसका मुख्य*

उद्देश्य है विद्यार्थियों को विषयवस्तु से जुड़ी सूचनाओं और घटनाओं को स्पष्ट रूप से संसाधित करने तथा आत्मसात करने का एक दृश्य–साधन प्रदान करना। इसमें यह भी ध्यान रखा गया कि दृश्यों का प्रभाव छात्रों पर गहन हो, ताकि वे सब विषयवस्तु के आधार पर हुई बातचीत के दौरान सक्रिय रूप से अपना विचार–विमर्श प्रस्तुत कर पाएँ। विद्यार्थियों के ज्ञान के आधार पर आकर्षक चित्रों का उपयोग किया गया, ताकि वे दूसरी भाषा–साहित्य और संस्कृति का तुलनात्मक अध्ययन करने में सफल हों, जो अनुवाद–साहित्य की कक्षा के लिए अत्यंत आवश्यक है।''

- *'शिक्षा के क्षेत्र में नई प्रौद्योगिकी द्वारा लाए गए नव–परिवर्तन और तकनीकी तरक्की को आत्मसात कर शिक्षण–प्रक्रिया में अन्तर्निहित करना, अपने आप में एक सराहनीय कार्य है। भाषा–साहित्य के विद्यार्थियों को इन नए–नए तंत्र–ज्ञान की ओर प्रवृत्त करना चाहिए, ताकि भविष्य में, वे बदलते समय की माँग के अनुसार कार्यरत होने में सक्षम हों।''*
- *''इस नवीनतम प्रयोग ने हमें और अधिक सोचने के लिए मजबूर किया है कि हम किस तरह भाषा–संस्कृति से संलग्न मानवीय ज्ञान के सूक्ष्म विचारों को STEM के विषयों के साथ जोड़कर आनेवाली पीढ़ी के लिए एक संधि–सेतु तैयार कर पाएँ।''*

ग्रीन स्क्रीन स्किट्स (Green Screen Skits)

आधुनिक भाषा–शिक्षण और अधिगम का मुख्य उद्देश्य और उसकी सफलता विद्यार्थियों को वास्तविक दुनिया का अनुभव कराने पर आधारित है। नॉर्थ कैरोलीना स्टेट यूनिवर्सिटी में हिंदी के विद्यार्थियों को कहानी–लेखन और ग्रीन स्क्रीन के ज़रिये छोटे–छोटे स्किट्स यानी नाटिका प्रस्तुत करने के लिए भी प्रोत्साहित किया जाता है। विद्यार्थी अपनी–अपनी रुचि के अनुसार स्किट तैयार करते हैं और शेअर्ड गूगल डॉक्स में अपने–अपने संवादों को लिखते हैं, ताकि सब कहानी की मूल धारा से अवगत हों और साथ ही, वे हिंदी लेखन–प्रणाली में सफलता प्राप्त कर पाएँ। विद्यार्थियों को दैनिक जीवन के भिन्न व्यावहारिक संदर्भों के आधार पर कहे जाने वाले वाक्यों पर अभ्यास करने का मौका मिलता है, जो आगे चलकर उनकी स्मृति शक्ति के साथ–साथ बोलने की क्षमता को सुदृढ़ करता है। ग्रीन स्क्रीन स्किट्स तैयार करने वाले शिक्षार्थियों द्वारा भेजी गई प्रतिक्रियाएँ कुछ इस प्रकार प्रस्तुत हैं :

- *'मुझे वास्तव में इस ग्रीन स्क्रीन स्किट परियोजना में बहुत मज़ा आया और मैं इसे फिर से करना पसंद करूँगी। यह एक बहुत ही प्रभावी उपकरण/साधन है, जिसने मुझे हिंदी वाक्य संरचना और शब्दावली को बेहतर ढंग से समझने और बोलने की सुविधा प्रदान की। साथ ही, एक ही समय में अपनी कक्षा के अन्य साथियों के साथ हिंदी संवादों के ज़रिये मस्ती करने का भी मौका दिया। इस प्रक्रिया ने मुझे अलग–अलग मीडिया टूल्स से भी अवगत कराया, जो मज़ेदार होने के साथ–साथ वर्तमान समय में अत्यंत उपयोगी भी है, जिन्होंने हमें एक अच्छा प्रोजेक्ट बनाने में हमारी बहुत मदद की।''*
- *''ग्रीन स्क्रीन स्किट द्वारा मुझे हमारे विश्वविद्यालय के प्रौद्योगिकी पक्ष को देखने का अवसर मिला, जो मेरे लिए एक शानदार अनुभव रहा। ह्यूमेनिटी का छात्र होने के नाते, मैं नॉर्थ कैरोलीना स्टेट यूनिवर्सिटी के किसी भी प्रौद्योगिकी/तकनीक का लाभ नहीं उठा पाया। ईमानदारी से कहना चाहता हूँ कि मुझे यह भी मालूम नहीं था कि हमारे पास इतने सारे संसाधन उपलब्ध हैं, जो किसी भी विद्यार्थी के उपयोग के लिए आसानी से उपलब्ध हैं और मुफ़्त भी। भले ही यह एक महान अवसर है, लेकिन यह स्किट तैयार करने का कार्य थोड़ा मुश्किल भी था, क्योंकि हमारे पास सारे उपकरणों का उपयोग कैसे किया जाता है, उसकी पूरी जानकारी नहीं थी।''*

3–डी प्रिंटिंग और हिंदी भाषा–साहित्य

नॉर्थ कैरोलिना स्टेट यूनिवर्सिटी में 3–डी प्रिंटिंग प्रयोगशाला में उपलब्ध नई प्रौद्योगिकियों के सहारे हिंदी भाषा–साहित्य के विद्यार्थियों को अपने अमूर्त विचारों को ठोस और मूर्त रूप में प्रस्तुत करने का अवसर मिला। छात्र अलग–अलग 3–डी प्रिंटिंग

का संयोजन कर कस्टम डिज़ाइनयुक्त (Custom design) विशिष्ट वस्तुओं, जैसे हिंदी के शब्द अंकित भिन्न आभूषण और नेम टैग (Name Tags), लेज़र कटर का उपयोग कर ऐक्रिलिक और प्लाईवुड पर कस्टम नेम प्लेट (Name Plate), विनाइल ऐप्लिक एमब्रईडरि डिज़ाइन (Vinyl Appliques Embroidery Design), विनाइल कटर का उपयोग कर लैपटॉप स्टिकर (Laptop Sticker), कस्टम कीचेन (Custom Keychain), एनग्रेविंग सिस्टम में लेज़र का उपयोग करके एनोडाइज़्ड एल्यूमीनियम डॉग टैग (Dog Tag) और साथ ही, विशिष्ट दक्षिण एशियाई संस्कृति से संबंधित शब्दों, भावों और कला से जुड़ी चीज़ों का वेक्टर ग्राफ़िक डिज़ाइन (Vector Graphics Design) का सृजन करने में सक्षम हुए। कंप्यूटर नियंत्रक ड्रॉइंग मशीन (AxiDraw) का भी उपयोग कर सफ़ेद कागज़ पर अपने 'कस्टम डिज़ाइन नाम' हिंदी लिपि में लिखा, ताकि अपने कमरे की दीवार पर टांग पाएँ।

प्रौद्योगिकी पर आधारित योजना यही दर्शाती है कि इंजीनियरिंग, ग्राफ़िक डिज़ाइनिंग और अन्य STEM से जुड़े विषयों को भाषा और साहित्यिक कक्षाओं के साथ एकीकृत कर विद्यार्थियों को अपने भावों व विचारों का आदान–प्रदान करने का मौका दिया जाए तो, इकट्ठे सारे एक–दूसरे के परिपूरक के रूप में आगे बढ़ सकते हैं। दुनिया भर के भिन्न समाजों में सक्रिय रूप से भाग लेकर एक–दूसरे की सहायता करने के लिए ऐसे अनुभव अत्यंत आवश्यक हैं। यह सच है कि मानव–जाति विज्ञान और समाज–शास्त्र विज्ञान (Humanities and Social Science) की कक्षाओं के अंदर 3–डी प्रिंटिंग, विज़ुअलाइज़ेशन शिल्पशाला, ग्रीन स्क्रीन और वर्चुअल रीअल्टी जैसी नई प्रौद्योगिकी का अनुभव विद्यार्थियों के लिए एक बिलकुल नया अनुभव रहा है, जो आमतौर पर हमारे विद्यार्थी कभी अपेक्षा नहीं करते। लेकिन ऐसे अनुभव ही छात्रों को ठोस रूप में अपने विचारों को कई अलग–अलग प्रौद्योगिकियों के साथ संलग्न कर प्रस्तुत करने तथा भविष्य में अपने जीवन की किसी भी परिस्थितियों का सामना दृढ़ता के साथ करने के लिए मदद करते हैं। अतः पारम्परिक कक्षाओं में सदियों से चलती आ रही शिक्षण और अधिगम प्रणाली, जिसमें विद्यार्थियों से लिखित या मौखिक रूप में ही एसाइनमेंट की उम्मीद की जाती है, वहाँ 3–डी प्रिंटिंग पूर्ण रूप से छात्रों को रचनात्मक होने के लिए प्रोत्साहित करती है। विद्यार्थियों द्वारा भेजी गई कुछ प्रतिक्रियाएँ इस प्रकार हैं :

- *''यह मेरा पहला मौका था और इसका अनुभव अविश्वसनीय और मज़ेदार था। मैं आभारी हूँ कि हमें दक्षिण एशियाई साहित्य, जैसे मानविकी पाठ्यक्रमों में प्रौद्योगिकियों को लागू करने का मौका मिला। इस अनुभव ने प्रौद्योगिकियों के ज्ञान के साथ–साथ मेरे अधिगम की क्षमता को भी व्यापक बनाया। पाठ्यक्रम से संबंधित वस्तु की 3–डी छवि बनाने के लिए कंप्यूटर को कैसे प्रोग्राम किया जाता है, यह जानकर बड़ी खुशी हुई। मैंने एक हाथी बनाने का निश्चय किया, क्योंकि हाथी केवल एक भव्य जानवर ही नहीं है, बल्कि यह मुझे हमेशा भारत और बॉलिवुड की शादियों की याद दिलाती है।''*
- *''इस अनुभव ने मुझे ''ह्यूमेनिटी के विषयों'' में प्रौद्योगिकी के महत्त्व को पहचानने में मदद की। विशेष रूप से, वे विषय, जिनमें परंपरागत रूप से प्रौद्योगिकी का उपयोग कभी नहीं किया जाता। इस वक्त, ह्यूमेनिटी से जुड़ी हुई मानसिकता, तत्वों को परखने, अन्वेषण व विश्लेषण और संप्रेषण करने की क्षमता, स्टेम शिक्षण में बहुत आवश्यक है, क्योंकि यह समस्या–समाधान में एक नई रोशनी को ला सकता है। अतः मेरा यह भी मानना है कि ह्यूमेनिटी के क्षेत्र में अधिक प्रौद्योगिकी को लागू करना अति आवश्यक है।''*
- *''यह बड़ी रोमांचक जगह है, जो हमें न केवल अपनी भाषा–कौशल का उपयोग करने की सुविधा प्रदान करती है, बल्कि दूसरे क्षेत्र में भी बहुत कुछ सीखने में मदद मिलती है, जिससे हम पहले परिचित नहीं थे और हमें सक्रिय रूप से सीखने व तल्लीन होने की सुविधा प्रदान करती है।''*

आधुनिक भाषा–विशेषज्ञों के अनुसार, एक नई भाषा की अधिगम–प्रक्रिया में लिखना–पढ़ना, सुनना और बोलने के अलावा एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग जुड़ा हुआ है और वह है, उस भाषा की संस्कृति का यथोचित ज्ञान प्राप्त करना, जो भाषा सम्प्रेषण प्रक्रिया को अधिक मज़बूत बनाता है। नई–नई प्रौद्योगिकियाँ

विद्यार्थियों के लिए एक इमर्सिव वातावरण की सृष्टि कर, देसी वक्ताओं के साथ बातचीत करने, उनकी बातें आत्मसात करने और सांस्कृतिक पहलुओं पर सूक्ष्म विचार–विश्लेषण करने की क्षमता प्रदान करती हैं, जो भाषा के धाराप्रवाह को सहज बनाती है। यही कारण है कि नॉर्थ कैरोलीना स्टेट यूनिवर्सिटी के हिंदी की कक्षाओं में विभिन्न प्रौद्योगिकी उपकरणों के प्रयोग पर काफ़ी ध्यान दिया गया है। भाषा–शिक्षण व अधिगम की प्रभावोत्पादक प्रणालियों के साथ–साथ एक्टफ़ेल (ACTFL- American Council on the Teaching of Foreign Languages) और स्टारटॉक (STARTALK) द्वारा बताए गए विषय व संस्कृति–प्रधान और छात्र–उन्मुख सिद्धांतों को ध्यान में रखकर नॉर्थ कैरोलीना स्टेट यूनिवर्सिटी के हिंदी भाषा के क्षेत्र में की गई यह चेष्टा अब तक काफ़ी लाभप्रद रही है। अंततः विश्व प्रसिद्ध महान् वैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन के ''क्रमविकास के सिद्धान्त'' (Evolution Theory) के प्रासंगिक सार्थकता को ध्यान में रखकर यही सारांश निकलता है कि वर्चुअल रीअल्टि, 360–डिग्री विज़ुअलाइज़ेशन, ग्रीन स्क्रीन और 3–डी प्रिंटिंग जैसे नए प्रौद्योगिकी उपकरण न केवल हिंदी भाषा–साहित्य के अस्तित्व तथा अस्मिता को सुदृढ़ करने में मदद कर रहे हैं, बल्कि तेज़ रफ़्तार से बदलते परिवेश में इनको जीवित रख पाने के लिए भी संघर्ष अत्यंत आवश्यक हो गया है।

nphukan@ncsu.edu

हिंदी को गंगा नहीं बल्कि समुद्र बनना होगा।

– विनोबा भावे

विद्या की कोई भी संस्था वास्तविक अर्थ में भारतीय नहीं कही जा सकती जब तक उसमें हिंदी के अध्ययन–अध्यापन का प्रबंध नहीं हो।

– कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी

विदेशी भाषा के रूप में हिंदी-शिक्षण का तकनीकी उपागम
(भाषा प्रयोगशाला के विशेष संदर्भ में)

– श्री अनुपम श्रीवास्तव
आगरा, भारत

भाषा–शिक्षण चाहे औपचारिक हो या अनौपचारिक, मानव जीवन की एक अनिवार्य और निरंतरगामी प्रक्रिया है। इसका सीधा संबंध व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास और दैनंदिन से लेकर विशिष्ट प्रयोजनों की पूर्ति से रहता है। राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में शिक्षा मानव संसाधन विकास की प्रक्रिया का अभिन्न अंग है। साथ ही यह वैश्विक परिदृश्य में वृहत्तर संवाद, सहयोग और समन्वय के अवसर रचने का कार्य भी करती है। इस प्रक्रिया में भाषा अनन्य रूप से उपस्थित रहती है।

उद्देश्य की दृष्टि से शिक्षण के तीन संदर्भ हैं – ज्ञान संपन्नता, कौशल संपन्नता और सूचना संपन्नता। ये तीनों संदर्भ भी भाषा के बिना पूरे नहीं होते। व्यक्ति परिवेश के दबाव, प्रयोजन विशेष या निजी रुचि के कारण मातृभाषा से इतर अन्य/ विदेशी भाषाएँ सीखने के लिए प्रवृत्त होता है। इसलिए विशेष रूप से अन्य एवं विदेशी भाषा–शिक्षण के लिए विशेषीकृत संसाधनों के विकास और इस्तेमाल की आवश्यकता महसूस की गई। इसी क्रम में शिक्षण तकनीकी और भाषा तकनीकी की अवधारणाओं, विविध सिद्धांतों, उपागमों एवं अनुप्रयोगों का विकास हुआ।

पिछले कई दशकों से अनुप्रयुक्त भाषा विज्ञान के विषय क्षेत्र में भाषा–शिक्षण और भाषा–तकनीकी का महत्त्व न केवल लगातार बना हुआ है, बल्कि वैश्वीकरण और सूचना–समाज के निरंतर विकासशील एवं नवाचार–उन्मुख परिदृश्य में अधिकाधिक मुखर भी हुआ है। इस प्रक्रिया में शिक्षण तकनीकी एक ऐसे विषय–क्षेत्र के रूप में उभरता है, जिसकी अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान के दायरे में तो सीधे–सीधे चर्चा नहीं की जाती, लेकिन शिक्षण–प्रविधि का भाग होने के कारण यह एक ओर भाषा–शिक्षण से संबंधित होता है, तो दूसरी ओर सूचना एवं संचार–प्रौद्योगिकी के विविध उपागमों को अपने कार्य–क्षेत्र में सम्मिलित करता है। इसी प्रकार भाषा–प्रौद्योगिकी भी सूचना एवं संचार–प्रौद्योगिकी के अध्ययन–फलकों को सम्मिलित करते हुए अपना विषय–विमर्श विकसित करती है। इसे आगे दिए हुए आरेख के माध्यम से समझा जा सकता है –

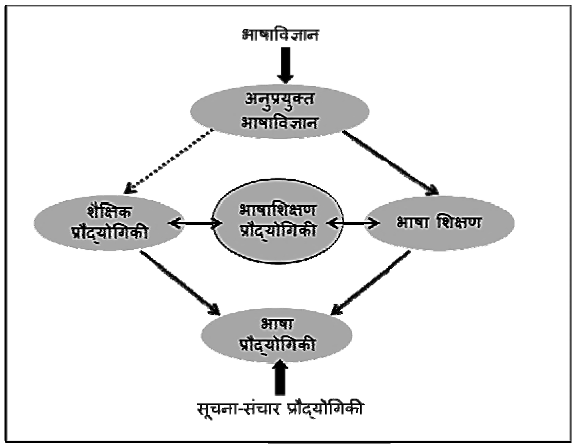

संपूर्णता में देखा जाए तो वस्तुतः भिन्न–भिन्न या स्वतंत्र अस्तित्व रखने वाले ये विषय–क्षेत्र सैद्धांतिक अंतरानुशासनिकता और प्रयोजनमूलक परस्परता से जुड़े हुए हैं। इसी संबंधपरकता के आधार पर इनके बीच चिंतन–विमर्श योग्य अनेक प्रासंगिक मुद्दों और चुनौतियों को रेखांकित किया जा सकता है। इन्हें समझने और हल करने की एक दिशा यह है कि इन सब विषयों को अलग–अलग रखकर देखा–परखा जाए, जैसा कि अक्सर किया जाता है। दूसरी दृष्टि यह हो सकती है कि अंतरानुशासनिक उपागम के तहत साझे विषय या उपविषय क्षेत्र निर्मित कर समस्याओं के समाधान खोजे जाएँ।

इस दृष्टि से भाषा, शिक्षण और प्रौद्योगिकी (तकनीकी) के बीच भाषा–शिक्षण–प्रौद्योगिकी (Language Teaching Technology) जैसे उपविषय क्षेत्र की कल्पना की जा सकती है। इस आलेख में भाषा–शिक्षण प्रौद्योगिकी के परिप्रेक्ष्य में विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए प्रायोगिक भाषा–शिक्षण और

विशेष रूप से भाषा प्रयोगशालाओं की उपादेयता पर चर्चा की जाएगी।

प्रायोगिक भाषा शिक्षण के दो पक्ष हैं – पहला, निदानात्मक या उपचारात्मक शिक्षण (Remedial Teaching), जिसके अंतर्गत विद्यार्थी (समूह) विशेष की भाषाई समस्याओं पर केंद्रित उपचारात्मक या नैदानिक दृष्टि से पाठ तैयार कर उन्हें अभ्यास हेतु उपलब्ध कराए जाते हैं। यह माना जाता है कि इनका निर्दिष्ट तरीके से अनुक्रमित अभ्यास करने से संबंधित समस्या का निदान हो जाएगा। दूसरा पक्ष संवर्धनपरक शिक्षण (Enrichment Teaching) का है, जिसके अंतर्गत भाषाई कौशल विशेष या विविध कौशलों का एक स्तर से अगले स्तर तक संवर्धन करने का कार्य किया जाता है। ये दोनों पक्ष अपने शुरुआती स्वरूप और उद्देश्यों में अलग–अलग होकर भी आगे चलकर परस्परता में कार्य करते हैं। दोनों ही पक्षों को भाषा–शिक्षण में आरंभिक और उच्चतर स्तर पर प्रतिफलित किया जाता है।

सरल धारणा के तौर पर भाषा–शिक्षण तकनीकी और प्रायोगिक भाषा–शिक्षण को 'आधुनिक कंप्यूटरीकृत सूचना एवं संचार तकनीकी (आईसीटी) माध्यमों एवं इसके विभिन्न उपकरणों तथा अनुप्रयोगों के द्वारा संवर्धित प्रणाली से भाषा सिखाना अथवा सीखना' कहा जा सकता है। प्रायोगिक भाषा–शिक्षण के लिए आईसीटी, मल्टीमीडिया और भाषा प्रयोगशाला महत्त्वपूर्ण संसाधन हैं। वर्तमान परिदृश्य में ये समस्त संसाधन तकनीकी (आईसीटी) अथवा कंप्यूटर साधित भाषा–शिक्षण और अधिगम के क्षेत्र से जुड़ते हैं।

सरलतम रूप में कोई भी प्रयोगशाला प्रयोग–अभ्यास का कार्य स्थल है। और स्पष्ट रूप में कहा जाए, तो एक ऐसा सुनिश्चित स्थान जहाँ विद्यार्थी भाषा सीखने के लिए दृश्य–श्रव्य, बहुमाध्यम पाठ सामग्री का नियंत्रित परिवेश में सुनिर्धारित तरीकों से उपयोग करते हैं। अज्ञात को जानने, परखने, सीखने–सिखाने के संबंधी सभी कार्य–व्यापार खुले परिवेश में नहीं किए जा सकते हैं। इसलिए वैज्ञानिक प्रविधियों के अनुप्रयोग में प्रयोगशालाओं की मौजूदगी और ज़रूरत हमेशा बनी रही है। चूँकि भाषा का विषय शुद्ध और सीधे तौर पर ठीक अन्य वैज्ञानिक विषयों की तरह वैज्ञानिक नहीं है, इसलिए कई बार भाषा प्रयोगशाला की धारणा और औचित्य को लेकर विद्वान एकमत नहीं होते हैं। फिर भी भाषा प्रयोगशाला आधुनिक भाषा–शिक्षण प्रविधि के एक महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में स्वीकृत है। विशेष रूप से अन्य/विदेशी भाषा–शिक्षण में उपचारात्मक और संवर्धनपरक शिक्षण हेतु इनका उपयोग किया जाता रहा है। शत–प्रतिशत नहीं, तो भी बड़े पैमाने पर विदेशी भाषा सीखने वाले विद्यार्थी इससे लाभान्वित होते रहे हैं। मातृभाषा से इतर भाषा का प्रयोग करने में होने वाला संकोच दूर करके उन्हें आत्मविश्वास प्रदान करने में इससे मदद मिलती है।

भाषा–शिक्षण कार्य–प्रणाली में भाषा प्रयोगशालाओं की स्थिति सहायक संसाधन के रूप में स्वीकृत है। यह भाषा–शिक्षण की परंपरागत पद्धतियों से विशिष्ट एक तकनीकी–केंद्रित स्रोत है, जिसका आधारभूत उद्देश्य शिक्षार्थियों के भाषिक कौशलों को विकसित करना है। भाषा प्रयोगशाला की कार्य–विधि को इस आरेख द्वारा समझा जा सकता है (देखें अगले पृष्ठ पर)।

प्रयोगशालाओं की तुलना में आधुनिक भाषा प्रयोगशालाएँ पूर्णतः कंप्यूटरीकृत और सॉफ़्टवेयर–केंद्रित हो गई हैं। हार्डवेयर की उपस्थिति और निर्भरता धीरे–धीरे कम हो रही है। रिमोट–संचालित और क्लाउड–आधारित तंत्र प्रचलन में आ रहे हैं। एक स्तर तक मोबाइल फ़ोन को भाषा प्रयोगशाला का आधारभूत उपकरण बनाने अथवा स्मार्ट गैजेट/ मोबाइल फ़ोन में भाषा प्रयोगशाला को उपलब्ध कराने की बात भी की जा रही है।

श्रवण–उच्चारण कौशल विकास भाषा प्रयोगशाला का प्राथमिक उद्देश्य है। श्रवण कौशल विकास के लिए बिना किसी बाहरी शोर और अन्य बाधा के एकाग्र होकर नियंत्रित परिवेश में सुनना अपेक्षित होता है। ताकि वाक् ध्वनियों के साथ–साथ नियमित वाक् प्रवाह में सुरों का आरोह–अवरोह, तान–अनुतान, मुखरता, बलाघात, संहिता आदि का स्पष्ट बोध हो सके। विद्यार्थी शिक्षक–प्रोग्राम द्वारा निर्धारित पाठ–व्यवस्थानुसार उच्चारण अनुकरण कर सकें। भाषा के मानक/आदर्श उच्चारण और क्षेत्रीय/भाषेतर प्रभावों की समुचित परख और निदान हो सके। भाषा प्रयोगशाला का अच्छा सॉफ़्टवेयर–सिस्टम वह है, जो शिक्षक और विद्यार्थी को परस्पर संवाद का सुगम्य परिवेश उपलब्ध

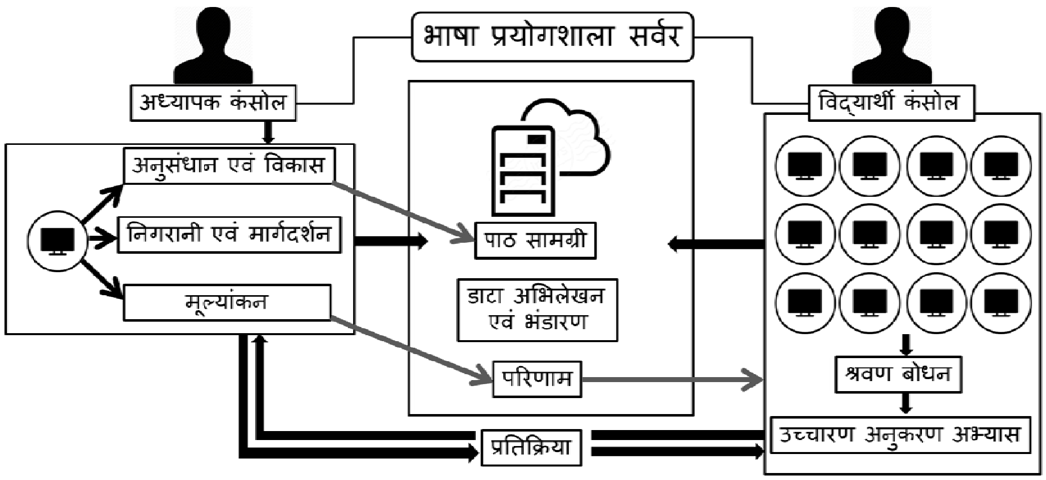

भाषा प्रयोगशाला की कार्य-विधि

कराए। द्विपक्षीय और बहुपक्षीय संवाद की लचीली व्यवस्था हो और उसकी निगरानी, मार्गदर्शन एवं नियंत्रण की उपयुक्त प्रणाली भी हो। यह केवल एक श्रवण और उच्चारण–अनुकरण भर का सिस्टम न हो, बल्कि इसमें मल्टीमीडिया की क्षमताओं का बेहतर समावेश हो, जिससे सीखी जाने वाली भाषा में विद्यार्थी का बहुआयामी बोधन–संवर्धन हो पाए। भाषा–प्रयोगशाला का एक उन्नत सिस्टम श्रवण–भाषण के साथ ही वाचन और लेखन–कौशल विकास में सहायक हो सकता है। इसमें विद्यार्थियों द्वारा प्रदत्त भाषाई डाटा के सुरक्षित भंडारण, अभिलेखन, मूल्यांकन, अनुसंधान एवं विश्लेषण की सुविधाएँ होने से यह एक स्वतः पूर्ण सिस्टम बन जाता है, जिसका कई गुना लाभ शिक्षक और विद्यार्थी उठा सकते हैं।

इस संदर्भ में अन्य/विदेशी भाषा अधिगम के लक्ष्यों की बात भी कर लेना उचित होगा। ये लक्ष्य इस प्रकार बताए गए हैं – एक, लक्ष्य भाषा की संरचना का अध्ययन करते हुए उसके बोधन और सामान्य संप्रेषण–व्यवहार की दक्षता प्राप्त करना। दो, उच्चतर उद्देश्यों के लिए भाषा का विशद ज्ञान प्राप्त करते हुए क्षेत्र विशेष में उसके अधिकारपूर्ण प्रयोग की योग्यता प्राप्त करना। तीन, लक्ष्य भाषा पर मातृभाषा के समान अधिकार प्राप्त करते हुए उस भाषा–समाज एवं संस्कृति में पूर्णतः घुल–मिल जाना। हमें विदित है कि विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण की परिस्थितियाँ विविधतापूर्ण हैं। देश, भाषा, समाज, संस्कृति, शिक्षा आदि की विविधता इसके मूल में है। हिंदीतर विश्व के विभिन्न देशों में हिंदी पढ़ना–पढ़ाना आज भी चुनौतीपूर्ण है। पर्याप्त और उपयुक्त शैक्षणिक संसाधनों का अभाव इसका एक बड़ा कारण है। इस स्थिति में भाषा प्रयोगशाला सहित विभिन्न भाषा–शैक्षणिक तकनीकी संसाधन प्रासंगिक भूमिका निभाते हैं।

विदेशी भाषा के रूप में हिंदी या भारतीय भाषाओं को सीखने–सिखाने के लिए भाषा प्रयोगशाला का प्रयोग अभी तक एक विशिष्ट संसाधन के रूप में ही देखा जाता है। इसका एक प्रमुख कारण हिंदी भाषा शिक्षकों का तकनीक से दूरी बनाकर चलने वाला बर्ताव है, तो दूसरा कारण इन संसाधनों की पर्याप्त उपलब्धता न होना है। हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं की भाषा प्रयोगशाला स्थापित और संचालित करना इसलिए भी कठिन है, क्योंकि इनके लिए प्रशिक्षित शिक्षक, अनुदेशक और उपयुक्त शिक्षण सामग्री बहुत कम मात्रा में है। जिस तरह से भाषा

प्रयोगशाला विशिष्ट प्रयोजन को हल करने के लिए है, उसी तरह इसमें आकर सीखने वाले विद्यार्थी भी अपने भाषाई व्यक्तित्व और शिक्षण–प्रयोजन के लिहाज़ से विशिष्ट होते हैं। तदनुरूप इनके लिए विशेषीकृत शिक्षण सामग्री का विकास करना अपेक्षित होता है। अगर यूरोपीय, अफ़्रीकी और एशियाई विद्यार्थियों की भाषाई समस्याएँ और सुधार की अपेक्षाएँ एक समान नहीं, तो उनके लिए निर्मित पाठ सामग्री एक क्यों हो? सारांश यही है कि विदेशी भाषा के रूप में हिंदी सीखने–सिखाने के लिए अनुसंधान और सामग्री निर्माण का एक बड़ा खुला क्षेत्र है, जिसमें बहुत काम किया जा सकता है। यह काम किसी एक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति, समूह या संस्था द्वारा नहीं किया जा सकेगा। सामूहिक और क्षेत्रीय प्रयत्न किए जाने की आवश्यकता है।

कोई भी तकनीकी तंत्र लगातार प्रयोग और सुधार, देख–रेख और उन्नयन की माँग करता है। प्रयोग चाहे शिक्षक द्वारा किया जाए या विद्यार्थी द्वारा या फिर तकनीकी अनुरक्षक द्वारा; असावधानी और दुरुपयोग किए जाने पर अच्छे से अच्छा सिस्टम खराब होते देर नहीं लगती। हमें जानना चाहिए कि फ़िलहाल भाषा प्रयोगशाला एक प्रभावी किंतु पर्याप्त खर्चीला तंत्र है। मरम्मत और सुधार की प्रक्रिया भी समय, श्रम एवं व्यय–साध्य होती है। इसे ध्यान में रखा जाना चाहिए। बिना सचेत दृष्टि और सकारात्मक जिज्ञासा के भाषा प्रयोगशाला का लाभ ले पाना बिल्कुल संभव नहीं। हिंदी की उपलब्ध भाषा प्रयोगशालाओं के सीमित स्पेस और इसके अनुपात में हिंदी भाषा परिमार्जन एवं संवर्धन की बड़ी आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए शिक्षण सामग्री निर्माण से लेकर प्रयोगशाला–तंत्र की अभिरचना, स्थापना और विस्तार के लिए व्यापक पैमाने पर कार्य किया जाना है।

हिंदी भाषा–शिक्षण के वर्तमान परिदृश्य में भाषा–शिक्षण–तकनीकी के प्रासंगिक मुद्दों और चुनौतियों के साथ–साथ उनके समाधान की प्रस्तावित एवं संभावित दिशाओं पर बात करना ज़रूरी है, जो विशेष रूप से अन्य भाषा के रूप में हिंदी–शिक्षण के संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय और औचित्यपूर्ण हैं। कंप्यूटर साधित भाषा–शिक्षण एवं ऑनलाइन शिक्षण के लिए शैक्षणिक एवं तकनीकी गुणवत्तापूर्ण शैक्षिक मल्टीमीडिया एवं विशेष रूप से इंटरएक्टिव मल्टीमीडिया कार्यक्रमों के निर्माण की माँग बार–बार देखने–सुनने में आती है। भाषा प्रयोगशाला निर्माण, प्रबंधन एवं शैक्षणिक संचालन को लेकर हमें काफ़ी सीखना–सिखाना है। एंड्रॉय्ड जैसे व्यापक प्रसार वाले एवं सहज, समर्थ तंत्र के उपलब्ध होने के बावजूद मोबाइल शिक्षण, वर्चुअल भाषा–शिक्षण कक्षा और कस्टमाइज़्ड हिंदी भाषा–शिक्षण गैजेट पर न के बराबर काम हुआ है। इन सब पक्षों पर योग्य पेशेवर समुदाय का ध्यान अपेक्षित है।

इस दृष्टि से भाषा–शिक्षण–तकनीकी का नवोन्मेषी विषय–क्षेत्र वर्तमान वैश्विक स्तर पर हिंदी भाषा–शिक्षण की अपेक्षाओं के अनुकूल सिद्ध हो सकता है। इस साझे विषय–क्षेत्र में हम भाषा–शिक्षण, शिक्षण–तकनीकी और भाषा–तकनीकी की सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक क्षमताओं का लाभ लेते हुए अधिक प्रभावी शिक्षार्थी–केंद्रित प्रविधियों की खोज कर सकते हैं, अनुप्रयोगों यानी संसाधन–उपकरणों का विकास कर सकते हैं और सुव्यवस्थित अनुसंधानपरक प्रभावी, प्रामाणिक एवं उपयोगी सामग्री का निर्माण कर सकते हैं।

भाषा और तकनीक का समन्वित प्रयोग वर्तमान शैक्षणिक परिवेश की आवश्यकता है। यह समन्वय भाषा सीखने/सिखाने की प्रक्रिया को सरल, सुगम, रोचक और प्रभावी बनाता है। इससे शिक्षण/अधिगम के निर्धारित लक्ष्यों को समयबद्ध तरीके से प्राप्त करने में सहायता मिलती है। यह भाषा को व्यापक रेंज प्रदान करता है और अपने भाषा–समाज और भाषा–संस्कृति का अंतरराष्ट्रीय फलक रचते हुए सीखने/सिखाने के नए अवसर तैयार करता है। सारांश रूप में कहा जाए, तो यह भाषा शिक्षा के लिए भविष्य की तरफ़ बढ़ने वाला रास्ता है।

केंद्रीय हिंदी संस्थान के सूचना तथा भाषा प्रौद्योगिकी विभाग द्वारा विदेशी हिंदी शिक्षणार्थियों के भाषा परिमार्जन के लिए आधुनिक शिक्षण प्रविधियों के साथ शैक्षणिक तकनीकी संसाधनों का उपयोग किया जाता है। इनमें कंप्यूटर प्रयोगशाला, मल्टीमीडिया शिक्षण कक्ष और डिजिटल भाषा प्रयोगशाला उल्लेखनीय हैं। इस सत्र से अंतरराष्ट्रीय हिंदी शिक्षण विभाग सहित विभिन्न शैक्षणिक विभागों में कुल 4 स्मार्ट कक्षों की स्थापना की गई है, जिनका उपयोग शिक्षण–प्रशिक्षण में किया जा रहा है। आगे चरणबद्ध रूप से संस्थान के सभी शिक्षण कक्षों

को स्मार्ट कक्षा में उन्नत करने का कार्य किया जाएगा।

11वें विश्व हिंदी सम्मेलन के समय विदेश मंत्रालय, भारत सरकार ने मॉरीशियन विद्यार्थियों के हक में एक दूरगामी पहल करते हुए महात्मा गांधी संस्थान, मॉरीशस में भी एक भाषा प्रयोगशाला की स्थापना की। इस स्थापना के लिए केंद्रीय हिंदी संस्थान ने भी यथोचित परामर्श–सहयोग प्रदान किया। इस दिशा में भविष्यगामी सहयोग–समन्वय के और भी अवसर एवं कार्य–क्षेत्र तलाशे जा सकते हैं।

भाषा–शिक्षण तकनीकी के इस्तेमाल से हिंदी–शिक्षण का परिवेश बदला है। शिक्षकों एवं शिक्षार्थियों की शैक्षणिक परस्पर अभिगम्यता का विकास हुआ है। सीखने–सिखाने के तरीके, रुचियाँ, प्रभाव सब में नयापन आ रहा है। बेशक नई चुनौतियाँ भी सामने आ रही हैं, पर समय की माँग और विषय क्षेत्र की चुनौतियों को देखते हुए केंद्रीय हिंदी संस्थान अन्य/ विदेशी भाषा के रूप में हिंदी–शिक्षण के क्षेत्र में अपनी परंपरागत पेशेवर योग्यता को नया कलेवर दे रहा है। यह हिंदी–शिक्षण और प्रचार–प्रसार के हक में एक बड़ी पहल है।

anupamhindi.khs@gmail.com

हिंदी ही हमारे राष्ट्रीय एकीकरण का सबसे शक्तिशाली और प्रधान माध्यम है। यह किसी प्रदेश या क्षेत्र की भाषा नहीं, बल्कि समस्त भारत की 'भारती' के रूप में ग्रहण की जानी चाहिए।

– कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी

मैं हिन्दुस्तानी की तूती हूँ। यदि तुम कुछ पूछना चाहते हो तो हिंदी में पूछो, मैं तुम्हें उसमें बातें बता सकूँगा।

– अमीर खुसरो

रूस में हिंदी अध्ययन की स्थिति

– डॉ. मैक्सिम डेमचेंको
मास्को, रूस

रूस में हिंदी अध्ययन के सामान्य तथ्य

रूस भारतीय गणराज्य के सबसे महत्त्वपूर्ण रणनीतिक साझेदारों में से एक है। देश में भारतीय भाषाओं का शिक्षण व्यापक नहीं है। रूस की राजधानी मास्को में, केवल एक स्कूल था, जो स्कूली बच्चों को हिंदी पाठ्यक्रम प्रदान करता था। इसकी स्थापना 1955 में हुई थी। मुख्य लक्ष्य सोवियत संघ और युवा स्वतंत्र भारत के बीच संबंधों को मज़बूत करना था। 1961 में श्रीमती इंदिरा गांधी की पहल के बाद हिंदी का एक कोर्स शुरू किया गया था। यह सोवियत शिक्षा प्रणाली के लिए एक अनूठा अनुभव था। कई वर्षों तक स्कूल ने भारत के साथ अंतर्राष्ट्रीय आदान–प्रदान और सांस्कृतिक कार्यक्रम किए। 2017 में नौकरशाही और वित्तीय समस्याओं के कारण स्कूल ने हिंदी पढ़ाना बंद कर दिया। [1]

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में स्थिति थोड़ी बेहतर है। मास्को, सेंट–पीटर्सबर्ग और व्लादिवोस्तोक में कई विश्वविद्यालय हिंदी पाठ्यक्रम प्रदान करते हैं। हर साल Institute of Asian and African Studies (मास्को) के लगभग 8–10 छात्र हिंदी भाषा डिप्लोमा के साथ विश्वविद्यालय से स्नातक करते हैं। उनमें से कुछ हिंदी शिक्षक बन जाते हैं, दूसरे अन्य करियर चुनते हैं। दुर्भाग्य से हिंदी अनुवादक की सेवाएँ रूस में उच्च माँग में नहीं हैं।

केंद्रीय कार्यालयों में से एक जो रूसियों को हिंदी पाठ्यक्रम प्रदान करता है, वह भारतीय दूतावास का Jawaharlal Nehru Cultural Centre है। हिंदी के अलावा वहाँ संस्कृत, भारतीय नृत्य और योग की कक्षाएँ संचालित होती हैं। हिंदी काव्य–प्रतियोगिताओं और हिंदी गीत–संगीत कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है। हर साल 10 जनवरी को केंद्र हिंदी उत्सव का आयोजन करता है, जहाँ हिंदी के रूसी छात्र अपने ज्ञान और कौशल का प्रदर्शन करते हैं।

शास्त्रीय भारतीय साहित्य के प्रति रुचि 19वीं सदी से रूस में मौजूद है। शुरुआत में रूसी बुद्धिजीवियों की दिलचस्पी केवल संस्कृत ग्रंथों में थी। केवल 1940 के दशक में प्रोफ़ेसर अलेक्ज़े बरनीकोव (Alexey Barannikov) ने हिंदी की पहली कृति (या बल्कि अवधी), श्री रामचरितमानस का रूसी भाषा में अनुवाद किया। 1970 के दशक में यूरी त्सेवेत्कोव (Yuri Tsvetkov) ने अपना काम जारी रखा और गोस्वामी जी के चुने हुए छंदों के अनुवाद के साथ ''तुलसीदास'' का मोनोग्राफ़ प्रकाशित किया। इसी अवधि के दौरान निनेल गफ़ूरोवा (Ninel Gafurova) ने संत कबीर की सर्वश्रेष्ठ कविताओं का अनुवाद प्रकाशित किया। ये पुस्तकें भारत से संबंधित रूसी साहित्य के शास्त्रीय उदाहरण हैं। [2]

रूस में हिंदी सिखाने की ख़ासियत

रूस में हिंदी प्रशिक्षण के साथ स्थिति को समझने के लिए मैंने पहले अध्ययन करने वाले लोगों के बीच एक समाजशास्त्रीय शोध किया। यह 2019 के फ़रवरी में हुआ। मैंने रूस के विभिन्न हिस्सों से हिंदी के कई दर्जन छात्रों को अपनी प्रश्नावली भेजी। स्कूल और विश्वविद्यालय में हिंदी पाठ्यक्रमों की कमी के कारण उनमें से अधिकांश ने एक निजी शिक्षक के साथ हिंदी का अध्ययन किया या व्यावसायिक पाठ्यक्रमों के अनुसार अध्ययन किया। शोध का मुख्य लक्ष्य यह बताना था कि इतने कम हिंदी छात्र क्यों हैं और हिंदी पढ़ने वालों को कोई परिणाम क्यों नहीं मिलता है। मैं शोध के परिणामों को संक्षेप में प्रस्तुत करूँगा।

सभी प्रतिभागियों ने 1, 2, 3 या 4 वर्षों के लिए हिंदी का अध्ययन किया। भविष्य में हिंदी का अध्ययन जारी रखने के लिए उनमें से 25 से अधिक विद्यार्थियों की योजना नहीं है। लगभग 40 ने कहा कि उनकी हिंदी शुरुआती स्तर पर बनी हुई है और उनमें से कुछ छात्र देवनागरी में नहीं पढ़ सकते हैं। दूसरों ने संकेत दिया कि वे रोज़मर्रा की स्थितियों में हिंदी में काम चला सकते हैं, सरल ग्रंथ पढ़ सकते हैं और बहुत सरल पत्र लिख सकते हैं।

मुख्य शिकायत यह है कि अधिकांश छात्र अपने भाषण की गति और बोली के कारण देशी वक्ताओं को समझ नहीं पाते हैं।

सबसे दिलचस्प सवाल हिंदी सीखने में असमर्थता के कारणों से संबंधित था। सबसे आम उत्तर था – हिंदी की अच्छी गुणवत्ता वाली पाठ्यपुस्तकें और विधियाँ नहीं हैं। मौजूदा तरीके समझ में नहीं आ रहे हैं, कठिन हैं, ऐसे शब्द हैं जो वास्तविक जीवन में उपयोग नहीं किए जाते हैं। दूसरा जवाब था – बहुत कम योग्य हिंदी शिक्षक हैं। एक अच्छा शिक्षक ढूँढना बहुत मुश्किल है, खासकर ऐसे लोगों के लिए जो मास्को से बहुत दूर रहते हैं। तीसरा उत्तर था – रूसी के लिए हिंदी बहुत कठिन भाषा है, क्योंकि इसके व्याकरण का तर्क अलग है और इसलिए भी कि आधिकारिक हिंदी वास्तविक रोज़मर्रा के भाषण से बहुत भिन्न है। परिणामस्वरूप जब छात्र भारतीय मीडिया को समझना शुरू करते हैं तब भी वे भारत में लोगों के साथ संवाद नहीं कर पाते हैं। सभी उत्तरदाताओं ने कहा कि उन्हें अपने पेशेवर जीवन के लिए हिंदी की आवश्यकता नहीं है। यह केवल एक शौक है। यही कारण है कि वे उत्साह खो देते हैं और अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं करते हैं।

रूस में हिंदी पढ़ाने के परिप्रेक्ष्य

भारत, भारतीय संस्कृति और साहित्य के प्रति रूसियों की रुचि हमेशा से अधिक रही है। मुख्य समस्या यह है कि हिंदी एक अलोकप्रिय भाषा बनी हुई है, क्योंकि यह रूसी–वक्ता के लिए बहुत कठिन है और ऐसे कोई आसान और समझने योग्य पाठ्यक्रम नहीं हैं, जो छात्र को हिंदी में बोलना और लिखना शुरू करने में मदद कर सकें। हिंदी पढ़ने का प्रोत्साहन देने के लिए विश्वविद्यालयों, स्कूलों और भारतीय संस्कृति के केंद्रों को लोकप्रिय पाठ्यक्रमों का आयोजन करना चाहिए। कई साल पहले मैंने शास्त्रीय कविता के माध्यम से देवनागरी वर्णमाला सिखाने का एक प्रायोगिक पाठ्यक्रम आयोजित किया था। मैंने पाया कि गोस्वामी तुलसीदास की दोहावली सरल और छोटे शब्दों में लिखी गई है और यह वर्णमाला सिखाने के लिए आदर्श थी। मैंने हर वर्ग के लिए एक नया दोहा चुना, हमने उसमें प्रयुक्त अक्षरों का अध्ययन किया, फिर उसे अलग से पढ़ा, फिर उसे एक साथ पढ़ा, फिर उसका जप करने की कोशिश की। अंत में मैं दोहे के पीछे की कहानी बताता था। कभी यह कवि के जीवन की घटना थी, कभी रामायण की कहानी, कभी भारतीय संस्कृति का एक पहलू। छात्रों के लिए सीखने का यह तरीका आसान और दिलचस्प था। साथ ही उन्होंने भारतीय संस्कृति के कई पहलुओं को सीखा और उससे आकर्षित हुए। मेरे पाठ्यक्रम के बाद उनमें से कुछ ने हिंदी या संस्कृत का अध्ययन जारी रखा। यह एक उदाहरण है कि हम रूस में हिंदी सीखने का प्रचार कैसे कर सकते हैं।

अक्टूबर 2018 में मास्को और नई दिल्ली ने शिक्षा, स्वास्थ्य देखभाल, खेल और पर्यटन के क्षेत्र में सहयोग के लिए एक समझौते पर हस्ताक्षर किए। भारत का प्रतिनिधित्व नई दिल्ली के डिप्टी सीएम मनीष सिसोदिया ने किया। हमें उम्मीद है कि इस समझौते से रूस में भारतीय संस्कृति और हिंदी भाषा को लोकप्रिय बनाने में मदद मिलेगी। [3]

संदर्भ की सूची

1. https://tvrain.ru/articles/hindi_moscow-390634/ (in Russian)
2. http://www.eng.vedanta.ru/library/prabuddha_bharata/sanskrit_studies_and_comparative_philology_july04.php (in English)
3. https://timesofindia.indiatimes.com/city/delhi/delhi-moscow-sign-twin-city-agreement/articleshow/66093108.cms (in English)

blessed.self@gmail.com

हिंदी : विविध आयाम

24. राष्ट्र, राष्ट्रीयता और राष्ट्रभाषा हिंदी - प्रो. कृष्ण कुमार गोस्वामी

25. अस्मिता विमर्श और भारतीय डायस्पोरा - डॉ. तनुजा रश्मि

26. दक्षिण कोरिया और हिंदी : दो देशों का हार्दिक मिलन - प्रो. दिविक रमेश

27. यूरोपीय महाद्वीप में हिंदी - डॉ. श्याम नारायण

28. हिंदी की प्रथम वैश्विक प्रचारक संस्था : काशी नागरी प्रचारिणी सभा - डॉ. राकेश कुमार दुबे

29. औपनिवेशिक कालीन भारतीय प्रवास एवं उनसे जुड़े कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य : वर्तमान में प्रासंगिकता - डॉ. एन. के. चतुर्वेदी

30. स्वाधीनता आंदोलन में हिंदी - श्री उमेश चतुर्वेदी

राष्ट्र, राष्ट्रीयता और राष्ट्रभाषा हिंदी

– प्रो. कृष्ण कुमार गोस्वामी
दिल्ली, भारत

राष्ट्रभाषा को समझने से पहले राष्ट्र और राष्ट्रीयता शब्दों को समझना समीचीन होगा और राष्ट्र को समझने के लिए देश और जाति की अवधारणा को समझना आवश्यक है। राष्ट्र, राष्ट्रवाद तथा राष्ट्रीयता भी एक–दूसरे में अंतर्ग्रंथित हैं, जो किसी देश की भाषा और संस्कृति को स्पष्ट करने में सहायक होते हैं। वस्तुतः 'राष्ट्र' शब्द को अंग्रेज़ी भाषा के 'नेशन' (Nation) शब्द का हिंदी पर्याय माना जाता है, किंतु ऐसा है नहीं। इन दोनों शब्दों में कुछ अंतर है। अंग्रेज़ी में 'नेशन' शब्द से अभिप्राय किसी विशेष भूमि–खंड में रहने वाले निवासियों से है, जबकि 'राष्ट्र' शब्द विशेष भूमि–खंड, उसमें रहने वाले निवासी और उनकी संस्कृति का बोध कराता है। भौगोलिक रूप से और राजनीतिक दृष्टि से एक विशेष भूमि–खंड को 'देश' की संज्ञा दी जाती है, किंतु इसका संबंध मानव समुदाय से नहीं है। मानव समुदाय का संबंध समाज से है और इसका अभिप्राय 'जाति' से है। इस मानव समुदाय के सामाजिक विकास के क्रम में सबसे पहले 'जन' या 'गण' का प्रादुर्भाव होता है। यह गण समाज अर्थात् जन समुदाय आर्थिक आधार पर जुड़कर एक 'जाति' का रूप धारण कर लेता है। इस जाति का अपना प्रदेश और अपनी भाषा होती है। यूनान में अनेक गणराज्य थे, जिनमें सामंती व्यवस्था वाली लघु जातियाँ भी थीं। भारत में भरत, कुरु, पांचाल आदि अनेक गण समाज थे। बौद्ध काल के जनपद या महाजनपद लघु जातियों के ही प्रदेश थे, जिनमें मगध, ब्रज, अवध, बुंदेलखंड आदि लघु जातियों वाले अनेक प्रदेश बने, जिनकी अपनी–अपनी भाषा है। व्यापार के विस्तार से विभिन्न लघु जातियाँ अथवा जनपदों में जब आपसी संपर्क बढ़ता है, तब वे जाति का रूप धारण कर लेते हैं। इन्हीं मगध, ब्रज, बुंदेलखंड आदि जनपदों से हिंदी भाषी जाति का निर्माण हुआ है। इन जनपदों में जब जुड़ाव हो जाता है और अलगाव दूर हो जाता है, तब एक बड़ी सांस्कृतिक इकाई का निर्माण होता है। इसीलिए हिंदी विद्वान राम विलास शर्मा ने इस हिंदी जाति को बड़ी सांस्कृतिक इकाई मानते हुए कहा है कि यही सांस्कृतिक इकाई राष्ट्रीय एकता की धुरी होती है। इसी प्रकार हिंदी जाति के साथ–साथ मराठी, बंगला, तमिल आदि भाषाएँ बोलने वाली अनेक जातियाँ भी अस्तित्व में आई हैं। कुछ विद्वान बड़ी सांस्कृतिक इकाई जाति को 'नेशन' से भी जोड़ते हैं।

राष्ट्र शब्द में व्यापक अर्थ निहित है। अंग्रेज़ी में इसके लिए कोई समानार्थक शब्द नहीं मिलता। इसके अंतर्गत देश और जाति दोनों की संकल्पना निहित है। वैदिक काल से ही राष्ट्र शब्द का प्रयोग भूमि, जन और संस्कृति के अंतर्ग्रंथित रूप में चला आ रहा है। अथर्ववेद में बताया गया है कि हमारे ऋषियों ने जगत के कल्याण के लिए अपने ज्ञान और ओज से राष्ट्र को उत्पन्न किया :

भद्रम् इच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः
तपो दीक्षां उपसेदुः अग्रे।
ततो राष्ट्रम् बलं ओजश्च जायम
तदस्यै देवा उपसंनमन्तु। (अथर्ववेद संहिता)

इस प्रकार अनादिकाल से भारत एक संगठित राष्ट्र के रूप में अस्तित्व में रहा है। वास्तव में राष्ट्र शब्द में तीन संदर्भों का सम्मिलन होता रहा है – पहला, वह भूखंड या भूमि, जिसमें मानव समुदाय रहता है, दूसरा, स्वयं मानव समुदाय और तीसरा, उस मानव समुदाय की संस्कृति। मनुस्मृति (10/61, 7/73, 9/254) में राष्ट्र को ज़िला, मंडल, प्रदेश या राज्य, देश या साम्राज्य के साथ–साथ प्रजा, जनता या अधिवासी के अर्थ में परिभाषित किया गया है। इसमें भूमि, जन और उनकी संस्कृति सभी कुछ समाहित हैं। अपनी जन्मभूमि के प्रति अनन्य प्रेम की अभिव्यक्ति से भी 'राष्ट्र' की भावना जन्म लेती है। इसी अभिव्यक्ति को रामायण के रचयिता वाल्मीकि ने रावण वध के बाद राम के मुख से लक्ष्मण को कहलवाया है –

'अपि स्वर्णमयी लंका न मे लक्ष्मण रोचते।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।।'

अर्थात् हे लक्ष्मण! यद्यपि यह लंका स्वर्णमयी है, फिर भी

इसमें मेरी कोई रुचि नहीं है, क्योंकि जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी महान होते हैं।

विश्व में तीन प्रकार की जातीयता वाले राष्ट्र माने गए हैं — एकजातीय, द्विजातीय और बहुजातीय। जापान, ईरान, पोलैंड, रूमानिया आदि देश एकजातीय राष्ट्र हैं। कनाडा, बेल्जियम आदि द्विजातीय राष्ट्र हैं और भारत, ब्रिटेन, अमेरिका, चीन, फ़्रांस, जर्मनी आदि अनेक देश बहुजातीय राष्ट्र हैं। हर जाति की अपनी भाषा, अपनी संस्कृति और अपना साहित्य होता है, जिनसे राष्ट्रीय संस्कृति का विकास होता है। भारत बहुजातीय, बहुभाषी और बहुधर्मी राष्ट्र है, जिसमें तमिल, कन्नड़, तेलुगु, मलयालम, बांग्ला, उड़िया, मराठी, गुजराती, पंजाबी, कश्मीरी आदि कई जातियाँ हैं। इनके केंद्र में हिंदी जाति है, जिसके कारण भारत को हिंदुस्तान या हिंदुस्ताँ कहा जाता है और कुछ लोग इसे हिंद भी कहते हैं। इसी संदर्भ में उर्दू के एक महान शायर इकबाल ने अपने कौमी तराने में कहा है — ''हिंदी हैं हम वतन है हिंदुस्ताँ हमारा।'' इसी दृष्टि से ब्रिटेन में इंग्लिश जाति की बहुलता होने के कारण ही उसे इंग्लैंड भी कहा जाता है। वास्तव में बहुजातीय राष्ट्र से अभिप्राय उस देश से है, जिसमें अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं, अनेक जातियों के लोग रहते हैं और उनमें राष्ट्रीय चेतना होती है। राजनीतिक दृष्टि से भारत चाहे कुछ देशों की भाँति राष्ट्र न कहलाता हो, किंतु यूरोप और अफ़्रीका महाद्वीपों की भाँति उसका एक भू—भाग ही राष्ट्र है। भारत राष्ट्र की एकता अनेकता और विभिन्नता में निहित है। ऐसी राष्ट्रीय चेतना का विकास भारत में ही हुआ है।

राष्ट्र से राष्ट्र—भावना और राष्ट्र चेतना का उदय होता है। इस राष्ट्र—भावना से राष्ट्रवाद और राष्ट्रीयता का जन्म होता है। 18वीं—19वीं शताब्दी में यूरोप में पुनर्जागरण के बाद राष्ट्रवाद का प्रादुर्भाव हुआ। इसके साथ ही फ़्रांस, इटली, ब्रिटेन आदि देशों के राष्ट्रवाद को व्यापारिक पूंजीवाद का परिणाम भी माना गया है। इसीलिए कुछ विद्वान राष्ट्रवाद को व्यापारिक पूंजीवाद की देन मानते हैं। वस्तुतः राष्ट्रवाद की परिभाषा करना सरल नहीं है। इसकी प्रक्रिया भी अत्यंत जटिल और बहुमुखी रही है, इसी लिए इसका कोई सार्वभौमिक सिद्धांत और दर्शन स्पष्ट नहीं हो पाया। इसकी उत्पत्ति राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और बौद्धिक कारणों से हुई है, जिसको मानने वाले व्यक्तियों का समूह एक ही मनःस्थिति या भावना वाला होता है। यह समूह समान परंपरा, समान रीति—रिवाज़, समान धर्म मानता है। इन लोगों का मत है कि राष्ट्र केवल समान धर्म, जाति, नस्ल, क्षेत्र या भाषा से बनता है। इससे तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है और उग्रवाद को बल मिलता है। वास्तव में इस प्रकार के राष्ट्रवाद की अवधारणा को ज़ोर—ज़बरदस्ती लागू करना एक प्रकार का अतिराष्ट्रवाद अथवा अंधराष्ट्रवाद है।

दूसरी ओर, राष्ट्रीयता एक ऐसी शुद्ध भावना है, जिसके अंतर्गत अपने राष्ट्र के हित और विकास के बारे में चिंतन—मनन होता है। यह किसी समुदाय की आस्था और अस्मिता की वह प्रक्रिया है, जिसके अंतर्गत उस समुदाय का इतिहास, उसकी परंपरा, संस्कृति, भाषा और जातीयता उसके आधार के रूप में समाहित होती हैं। इसका उद्देश्य राष्ट्र की संप्रभुता को बनाए रखना होता है, अपनी राष्ट्रीय अस्मिता का निर्माण करना होता है, उसपर गर्व करना होता है और उसका अनुरक्षण करना होता है। इसमें बाहरी शक्तियों का हस्तक्षेप वर्जित है। वस्तुतः राष्ट्रीयता की भावना राष्ट्र के लोगों में पाई जाने वाली वह सामुदायिक भावना है, जो उनको संगठित करने और दृढ़ बनाने में मुख्य भूमिका निभाती है। राष्ट्रीयता से राष्ट्र में ऐक्य की भावना पैदा होती है और राष्ट्रीय एकता एवं अखंडता के लिए आंतरिक सौहार्द एवं सद्भावना, देश—भक्ति और संगठन की भावना की आवश्यकता होती है। भारत में ब्रिटिश शासन काल के दौरान औपनिवेशिक पराधीनता में राष्ट्रीयता की प्रेरक भूमिका रही है। यहाँ यह उल्लेख करना असमीचीन न होगा कि यूरोप में राष्ट्रवाद का विकास साम्राज्य—विस्तार से जुड़ा है, लेकिन भारत में राष्ट्रीयता स्वतंत्रता संग्राम से जुड़ी थी। यह यूरोप का राष्ट्रवाद नहीं, राष्ट्रीयता थी। लेकिन स्वतंत्रता—प्राप्ति के कुछ वर्ष बाद यह राष्ट्रीयता राजनीति के चक्रव्यूह में फँसकर जाति, धर्म, वर्ण और संप्रदाय के मिथ्या—भेदों में उलझ गई और उसकी सीमाएँ संकुचित, संकीर्ण तथा सीमित हो गई हैं।

किसी भी राष्ट्र में सर्वाधिक प्रचलित और स्वेच्छा से आत्मसात की गई संपर्क भाषा राष्ट्रभाषा होती है। राष्ट्रभाषा जीवंत, स्वायत्त, मानक, उन्नत और समृद्ध होती है और वह

समूचे राष्ट्र अथवा देश में सार्वजनिक संप्रेषण–व्यवस्था और कार्य–व्यापार में प्रयुक्त होती है। यदि राष्ट्र बहुभाषी हो, तो अंतर–प्रांतीय मध्यवर्ती भाषा के रूप में विभिन्न भाषा–भाषी समुदायों के बीच बृहत्तर स्तर पर वह संपर्क भाषा की भूमिका निभाती है। वह केंद्रीय एवं राज्य सरकारों में सरकारी कार्यों और पत्र–व्यवहार में भी प्रयुक्त होती है। राष्ट्रभाषा का संबंध राष्ट्रीयता से रहता है, क्योंकि राष्ट्रीयता जातीय प्रामाणिकता एवं राष्ट्रीय चेतना से जुड़ी होती है। राष्ट्रीय चेतना का संबंध सामाजिक–सांस्कृतिक चेतना से होता है। इसका संबंध 'भूत' और 'वर्तमान' के साथ होता है तथा महान परंपरा के साथ जुड़ा रहता है। वस्तुतः राष्ट्रभाषा राष्ट्र के समाज और संस्कृति के साथ तादात्म्य स्थापित करती है तथा सामाजिक–सांस्कृतिक अस्मिता की भाषा की अभिव्यक्ति के रूप में कार्य करती है। यह भाषा जनता की निजी, सहज और विश्वासमयी भाषा बन जाती है, जिसका प्रयोग राष्ट्रपरक कार्यों में चलता रहता है। अमेरिकन भाषाविज्ञानी जोशुआ फ़िशमैन ने राष्ट्रभाषा के संदर्भ में nationalism (राष्ट्रीयता) और nationism (राष्ट्रता अथवा राष्ट्रिकता) की संकल्पना प्रस्तुत की है। फ़िशमैन ने राष्ट्रभाषा का संबंध राष्ट्रीयता से जोड़ा और राजभाषा का संबंध राष्ट्रिकता (nationism) से जोड़ा। राष्ट्रिकता के अंतर्गत राष्ट्र की भौगोलिक सीमाओं के अंतर्गत राष्ट्र की आर्थिक प्रगति, राजनैतिक एकता और प्रशासनिक प्रयोजनों की पूर्ति के लिए काम होता है। इस संदर्भ में कोई भी विकसित और मानक भाषा राजभाषा होती है। यह भाषा सरकारी कामकाज में प्रयुक्त होकर जनता तथा शासन के बीच संपर्क पैदा करती है। राष्ट्रभाषा में राष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ सन्निहित होती हैं, अपने देश की परंपरा के प्रति प्रेम होता है, राष्ट्र की संस्कृति के प्रति लगाव होता है और राष्ट्र की एकता के प्रति भावनाएँ होती हैं। इसलिए उसका अपने ही देश की भाषा होना अनिवार्य है। राजभाषा के लिए अपने देश की भाषा होना आवश्यक नहीं है। देश के बाहर की भाषा राजभाषा तो हो सकती है, किंतु राष्ट्रभाषा नहीं; जैसे भारत में अंग्रेज़ी राजभाषा का स्थान तो ले सकती है, किंतु राष्ट्रभाषा नहीं। अमेरिका के सुविख्यात विद्वान फ़र्ग्युसन का मत है कि देश का भाषा नियोजन करते हुए राष्ट्रीय अस्मिता और राष्ट्रीय एकता के साथ–साथ आधुनिक समाज, प्रौद्योगिकी और अंतरराष्ट्रीय संबंध में से कम–से–कम तीन लक्ष्यों को ध्यान में रखना आवश्यक होता है। ये विशेषताएँ अपने देश की भाषाओं में ही मिल सकती हैं, विदेशी भाषा में नहीं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रभाषा के संदर्भ में यह कहना भी उचित होगा कि जिस भाषा में राष्ट्र–निष्ठा और राष्ट्रीय भावना नहीं होती, वह राष्ट्र भाषा कहलाने की अधिकारी नहीं होती।

प्रश्न उठता है कि हिंदी में ऐसी कौन–सी विशेषता है, जिसके कारण उसे राष्ट्रभाषा माना जाना चाहिए। साहित्यिक संदर्भ में हिंदी का साहित्य समृद्ध और श्रेष्ठ है। विश्व के अनेक विद्वानों ने हिंदी साहित्य की कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक आदि विभिन्न विधाओं की कृतियों का न केवल अनुवाद किया है, बल्कि उनपर शोध और आलोचनात्मक कार्य भी किया है। संस्कृत, तमिल, बंगला, मराठी, गुजराती, कन्नड़, तेलुगु, उड़िया आदि भारतीय भाषाओं के समान हिंदी समृद्ध और जीवंत भाषा तो है ही, साथ ही इसके बोलने वालों की संख्या अन्य भाषाओं की अपेक्षा काफ़ी अधिक है। यह केवल राष्ट्रीय स्तर पर बोली नहीं जाती, बल्कि अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी सर्वाधिक बहुसंख्यक भाषाओं में गिनी जाती है। यही कारण था, जिससे इसको भारतीय संविधान में संघ की राजभाषा के पद पर सुशोभित किया गया। वास्तव में हिंदी अब न तो किसी क्षेत्र–विशेष की भाषा है और न ही किसी एक समुदाय की मातृभाषा। वह तो जन–जन की भाषा हो गई है। वह महाजनपद की भाषा है, पूरे राष्ट्र की भाषा है। समय–समय पर इसके स्वरूप में जो परिवर्तन होते रहे हैं, उनमें वह अपने मानस में विभिन्न भाषाओं और बोलियों के तत्त्वों को संजोती रही है। यह एक ऐसी अजस्र प्रवाहिनी गंगा नदी के समान है, जो अन्य भाषाओं एवं बोली रूपी नदियों के सम्मिलन से एक विस्तृत, व्यापक और सुंदर स्रोतस्विनी का रूप धारण करती रही है। हिंदी मात्र एक भाषा नहीं, अपितु हमारी राष्ट्रीयता है। हमारे जातीय गौरव का प्रतीक है और भारत अर्थात् हिंदुस्तान की पहचान है। इसने लोकभाषा खड़ी बोली का आधार लेकर और अन्य बोलियों से सिंचित होकर भाषा का रूप धारण किया और फिर पूरे भारत की संपर्क भाषा बनी और फिर राजभाषा से गौरवान्वित हुई। राजभाषा से राष्ट्रभाषा का स्वरूप ग्रहण कर लिया और फिर अपने बढ़ते हुए विकास की यात्रा में यह

राष्ट्रभाषा इतनी गतिशील हो गई है कि विश्व भाषा का स्थान लेने में अग्रसर हो गई। इसीलिए राष्ट्रीयता की भावना से अनुस्यूत राष्ट्रभाषा दो लक्षणों – आंतरिक एकता और बाह्य विशिष्टता से परस्पर गुंथी होती है। समूचे राष्ट्र को एकता के सूत्र में बाँधने की प्रवृत्ति आंतरिक एकता होती है और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर बाह्य रूप में विशिष्टता सिद्ध करने की प्रवृत्ति होती है। बहुभाषी देश में आंतरिक एकता तभी संभव है, जब मातृभाषा के साथ–साथ एक अन्य भाषा संपर्क भाषा (lingua franca) के रूप में उभरकर आए और बाह्य विशिष्टता के लिए यह भी आवश्यक है कि संपर्क भाषा के रूप में राजभाषा की पदवी पाने वाली वह भाषा स्वदेशी ही हो। ये दोनों लक्षण हिंदी को राजभाषा से राष्ट्रभाषा बना देते हैं। इसी कारण हिंदी को स्वतंत्रता–संग्राम के समय से राष्ट्रभाषा का पद देने के लिए निरंतर प्रयास किए जा रहे हैं।

समूचे देश की संपर्क भाषा होने के कारण स्वतंत्रता–संग्राम के दौरान हिंदी की प्रासंगिकता को समझा गया और राष्ट्र–भाषा की अवधारणा ने जन्म लिया। न केवल हिंदीभाषी संतों और आचार्यों ने जन–जन के हृदय तक हिंदी में अपना संदेश पहुँचाने का कार्य किया, बल्कि दक्षिण और हिंदीतर–भाषी आचार्यों और संतों का भी विशेष योगदान रहा है। दक्षिण के रामानुज, रामानंद, विट्ठल, वल्लभाचार्य, महाराष्ट्र के नामदेव एवं ज्ञानेश्वर, गुजरात के नरसी मेहता तथा स्वामी दयानंद, असम के शंकर देव, पंजाब के गुरु नानक देव आदि आचार्यों और संतों ने देश में जन–जन तक अपना संदेश पहुँचाने और अपने ज्ञान का प्रसार करने के लिए हिंदी को अपना माध्यम बनाया। हिंदी की इस सरलता, सहजता और सार्वदेशिकता के परिप्रेक्ष्य में काका कालेलकर ने कहा था कि *''हिंदी सिद्धों की भाषा है, संतों की भाषा है और साधारण जन की भाषा है, जिसकी सरलता, सुगमता, सुघड़ता और अमरता स्वयं–सिद्ध है। हिंदी उत्तर से दक्षिण तक जोड़ने वाली सब से बड़ी कड़ी है।''* एक विदेशी अनुसंधानकर्ता एच.डी. कोलबुक ने एक सौ वर्ष पूर्व 'एशियाटिक रिसर्च' में लिखा था कि *''जिस भाषा का व्यवहार भारत के प्रत्येक प्रांत के लोग करते हैं, जो पढ़े–लिखे और अनपढ़ दोनों की साधारण बोलचाल की भाषा है और जिसको प्रत्येक गाँव में थोड़े–बहुत लोग समझ लेते हैं, उसी का यथार्थ नाम हिंदी है।''*

एक शोध से जानकारी मिली है कि मुग़ल काल से पूर्व भी मुस्लिम राज्यों में शाही फ़रमानों में हिंदी का प्रयोग होता था। यद्यपि मुग़ल काल में फ़ारसी राजभाषा हो गई थी, किंतु यत्र–तत्र हिंदी का भी प्रयोग होता था। एक शोधकर्ता बुलाखमैन ने सन् 1871 में 'कलकत्ता रिव्यू' में लिखा था, *''मुग़ल बादशाहों के शासनकाल में ही नहीं, इससे पहले भी सभी सरकारी कागज़ात हिंदी में लिखे जाते थे।''* स्वतंत्रता–संग्राम के दौरान बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब, दक्षिण भारत आदि हिंदीतर भाषी राज्यों के नेताओं, राजनेताओं, साहित्यकारों और समाज सुधारकों ने हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने की माँग की। इनमें राजा राममोहन रॉय, केशवचंद्र सेन, सुभाषचंद्र बोस, स्वामी दयानंद, सरदार वल्लभ पटेल, लोकमान्य तिलक, लाला लाजपत राय, सुब्रह्मण्यम भारती आदि उल्लेखनीय हैं। सन् 1910 में हिंदीतर भाषी न्यायमूर्ति शारदा चरण मित्र ने हिंदी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर प्रथम अधिवेशन के अध्यक्ष पं. मदन मोहन मालवीय को शुभ संदेश भेजते हुए लिखा था *''हिंदी समस्त आर्यावर्त की भाषा है। यद्यपि मैं बंगाली हूँ, तथापि इस वृद्धावस्था में मेरे लिए वह गौरव का दिन होगा जिस दिन सारे भारतवासियों के साथ साधु हिंदी में वार्तालाप कर सकूँ।''* भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम के महानायक गुजराती–भाषी महात्मा गांधी ने स्वतंत्रता की लड़ाई में हिंदी के महत्त्व को समझ लिया था और समूचे देश के जन–मानस में उसे राष्ट्रभाषा बनाने की भावना को देखते हुए हिंदीतर भाषी राज्यों में राष्ट्रभाषा प्रचार समितियों का जाल बिछा दिया। वास्तव में यह एक मनोसामाजिक यथार्थ था।

स्वतंत्रता–प्राप्ति के बाद भारतीय राजनेताओं ने देश में बहुभाषिकता की वास्तविकता को समझा और राष्ट्रीय विकास में हिंदी की महत्ता को पहचाना और फिर संविधान में राजभाषा का दर्जा देकर उसे गौरवान्वित किया। मुंशी–आयंगर फ़ार्मूले के नाम से विख्यात संविधान का भाग 17 है, जिसमें 343 से 351 तक अनुच्छेद हैं और साथ में संविधान के परिशिष्ट में अष्टम अनुसूची। इस अवसर पर संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने बड़ी मार्मिकता से कहा था कि *''आज पहली बार हम अपने संविधान में एक भाषा स्वीकार कर रहे हैं, जो भारत संघ के प्रशासन की भाषा होगी। हमें समय के अनुसार अपने–आप*

को ढालना और विकसित करना होगा। हमने अपने देश का राजनैतिक एकीकरण किया है। राजभाषा हिंदी देश की एकता को कश्मीर से कन्याकुमारी तक अधिक सुदृढ़ बना सकेगी। अंग्रेज़ी की जगह भारतीय भाषा को स्थापित करने से हम निश्चय ही और भी एक–दूसरे के नज़दीक आएँगे।''

राजभाषा का उत्तरदायित्व ग्रहण करने के लिए हिंदी को सक्षम माना गया। अतः संविधान के अनुच्छेद 343 में देवनागरी लिपि में लिखित हिंदी को संघ की राजभाषा घोषित किया गया। यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाए, तो हिंदी का यह संविधानीकरण करना हिंदी का राष्ट्रीयकरण करना ही है। इसमें हिंदी को अखिल भारतीय रूप में देखा गया है, जिससे राष्ट्रीय विकास की संभावनाओं में वृद्धि होती है। यह केवल प्रशासनिक प्रयोजनों की भाषा नहीं है, बल्कि राष्ट्रभाषा की भूमिका भी निभा रही है। कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने तो उन लोगों की इस बात से कि हिंदी को राष्ट्र भाषा बनाना है, इन्कार करते हुए कहा है कि हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाना नहीं है, यह तो पहले से ही राष्ट्रभाषा है। यह सांस्कृतिक जागरण और भारतीय एकता का आधार है। यदि राष्ट्र की संकल्पना समूचे भारतवर्ष पर लागू हो जाए, तो हिंदी सामाजिक और भावात्मक एकता के लिए राष्ट्रभाषा का कार्य कर सकती है और यदि भारत राष्ट्र को अन्य राष्ट्रों का संघ या समूह माना जाए, तो अन्य भारतीय भाषाएँ राष्ट्रभाषा के रूप में कार्य करेंगी। लेकिन यह प्रश्न उठना भी स्वाभाविक है कि संविधान में स्पष्ट रूप से हिंदी को राष्ट्र भाषा क्यों नहीं मान लिया गया, जब कि प्रतीक के रूप में राष्ट्र का एक ध्वज, एक गान, एक पक्षी, एक पशु और एक पुष्प निर्धारित हो सकता है, तो एक भाषा क्यों नहीं। यह सही है कि बहुभाषी देश में हर भाषा अपने समाज की सामाजिक–सांस्कृतिक मनोगत अस्मिता से जुड़ी होती है, लेकिन यह भी सत्य है कि देश की राष्ट्रीय अस्मिता, अखंडता और एकीकरण के साथ–साथ हिंदी के प्रति जन मानस की भावना को भी समझना होगा। हिंदी को संघ की राजभाषा घोषित करने का यह अभिप्राय नहीं है कि यह भाषा अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा अधिक समृद्ध है। इसे बोलने और समझने वाले लोगों की संख्या न केवल देश में सबसे अधिक है, बल्कि विश्व की सर्वाधिक बोली जाने वाली तीन भाषाओं में से एक है। इसका अभिप्राय यह भी नहीं है कि इसके राष्ट्र–भाषा बन जाने से अन्य भारतीय भाषाओं का महत्त्व कम हो जाएगा। हिंदी अगर राष्ट्रभाषा बन जाती है, तो अन्य भारतीय भाषाओं के सम्मान और भूमिका में भी वृद्धि होगी और ये भाषाएँ हिंदी की सहयोगी भाषा के रूप में महत्त्वपूर्ण योगदान करती रहेंगी।

संविधान में हिंदी संबंधी भाषायी अनुच्छेदों में अनुच्छेद 351 सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उपबंध है, जिसमें कहा गया है कि *''संघ का यह कर्त्तव्य होगा कि वह हिंदी भाषा का प्रसार बढ़ाए, उसका विकास करे, जिससे वह भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके और उसकी प्रकृति में हस्तक्षेप किए बिना हिंदुस्तानी में और आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट भारत की अन्य भाषाओं में प्रयुक्त रूप, शैली और पदों को आत्मसात करते हुए और जहाँ आवश्यक हो, वहाँ उसके शब्द–भंडार के लिए मुख्यतः संस्कृत से गौणतः अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करे।''* इस अनुच्छेद का लक्ष्य हिंदी को केवल संघ की राजभाषा के स्वरूप के नियोजन तक सीमित नहीं रखना है, वरन् भाषा–व्यवहार के विविध आयामों एवं क्षेत्रों में हिंदी के भारतव्यापी व्यवहार–क्षेत्र से जोड़ना है। हिंदी के राष्ट्रीय स्वरूप का विकास करने के लिए यह अनुच्छेद संविधान–निर्माताओं की आंतरिक आकांक्षा को व्यक्त करता है, ताकि यह देश के सभी भाषायी वर्गों में स्वीकार्य हो सके। इसमें हिंदी को विकसित करने और समृद्ध बनाने की ज़िम्मेदारी संघ सरकार को दी गई है। इसका स्वरूप समन्वित और उदार हो। भारत की सभी संस्कृतियाँ मिली–जुली हों, उनमें पूर्ण समन्वय हो, जिससे विभिन्न क्षेत्रीय भाषा–समूह यह अनुभव कर सके कि राजभाषा और राष्ट्रभाषा के रूप में यह विकसित भाषा उनकी अपनी भाषा के निकट है और इस भाषा के निर्माण में उनका योगदान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस प्रकार संविधान–निर्माताओं ने भविष्य के लिए 'राष्ट्रीय हिंदी' की कल्पना की थी। हिंदी का यह संविधानीकरण हिंदी के राष्ट्रीयकरण और उसके अखिल स्वरूप का तर्कपूर्ण आधार प्रस्तुत करता है। इसीलिए हिंदी की परिभाषा सांगोपांग और उदार निर्धारित की गई है। यथा,

1. यह भारत की सामासिक संस्कृति अर्थात् मिली–जुली

संस्कृति की अभिव्यक्ति का माध्यम बने। दूसरे शब्दों में, किसी एक ही समुदाय की संस्कृति की वाहिका न बने।

2. यह अपनी प्रकृति खोए बिना हिंदुस्तानी और आठवीं अनुसूची में उल्लिखित भाषाओं के रूप, शैली और पदों को आत्मसात करे अर्थात् क्षेत्रीय भाषाएँ राजभाषा हिंदी का पोषक बने।

3. यदि आवश्यकता पड़ती है, तो यह अपने विकास के लिए संस्कृत और अन्य भारतीय भाषाओं के शब्द ग्रहण कर सकती है।

हिंदी भारत की लगभग सभी भारतीय भाषाओं के शब्द, शैली आदि अपनाकर विकसित हो गई है, लेकिन इन भारतीय भाषाओं के प्रभाव से विकसित हिंदी का स्वरूप कृत्रिम नहीं है, बल्कि इसने सार्वदेशिक रूप ग्रहण कर लिया है। यह भाषा–समाज की सांस्कृतिक अवधारणाओं और आकांक्षाओं का प्रतीक है। यह धर्म–निरपेक्ष भाषा है और इसी कारण यह सामासिक संस्कृति की अभिव्यक्ति का माध्यम बन चुकी है। भारतीय संस्कृति अपने–आप में सामासिक और मिली–जुली है। इसकी विभिन्न उपसंस्कृतियों के एक–दूसरे के बहुत निकट होने के कारण इनकी अलग से पहचान करना कठिन हो जाता है। तथापि इनमें पारस्परिक आदान–प्रदान है, जिससे हिंदी अपनी समन्वयवादी भूमिका भली–भाँति निभा रही है। वस्तुतः हिंदी के इस राष्ट्रीय विकास से ही तभी संभव हो पाएगा, जब इसका व्यापक प्रयोग सभी क्षेत्रों में हो और समूचे देश के राष्ट्रीय जीवन में अधिक व्याप्त हो।

संविधान के अनुच्छेद 343 खंड (3) के अधीन राजभाषा अधिनियम, 1963 को लोकसभा में तत्कालीन गृह मंत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री ने 13 अप्रैल, 1963 को प्रस्तुत किया था। इसका उद्देश्य था कि 15 वर्ष की अवधि (26 जनवरी, 1965) के बाद हिंदी के अलावा अंग्रेज़ी भाषा का प्रयोग जारी रखने के लिए संसद को कानून बनाने का अधिकार दिया जाए। इस विधेयक पर अपना वक्तव्य देते हुए गृह मंत्री ने यह भी कहा कि *"हम अंग्रेज़ी की वर्तमान स्थिति कायम नहीं रख सकते और न ही रखनी चाहिए। कोई राष्ट्रीय औचित्य न हो तब तक अंग्रेज़ी के स्थान पर और देश की अन्य राष्ट्रीय भाषाओं को अपनाने में अनिश्चितता बनाए रखना भी उपयुक्त नहीं है। अनंतकाल तक अंग्रेज़ी की वर्तमान स्थिति चलने नहीं दी जा सकती।"* काफ़ी लंबे वाद–विवाद के बाद यह विधेयक पारित हुआ और 10 मई, 1963 को उस पर हस्ताक्षर हुए।

इस प्रकार भारत की बहुभाषिक स्थिति होते हुए भी हिंदी के प्रयोग की संभावनाएँ अधिक थीं, किंतु भारत संघ की यह राजभाषा कार्यालयीन भाषा तक सीमित रह गई है। एक विडंबना और, न्यायपालिका में और वह भी हिंदी भाषी राज्यों में इसका प्रयोग आज भी अत्यल्प हो रहा है, उच्चतम न्यायालय में तो बिलकुल ही नहीं। विज्ञान, प्रौद्योगिकी, वाणिज्य–व्यापार, शिक्षा (विशेषकर उच्च शिक्षा) आदि अनेक क्षेत्रों में अंग्रेज़ी का वर्चस्व है। वास्तव में संविधान में हिंदी को राजभाषा का दर्जा देते हुए हमारे भाषा नियोजन में कुछ कमी रह गई, जिसके कारण इसकी सामाजिक–सांस्कृतिक एकता की अवधारणा को प्रशासनिक प्रयोजनों तक सीमित कर दिया गया। दूसरा, शासन–तंत्र की सुविधा के लिए अंग्रेज़ी को अनिश्चित काल तक जारी रख देश में द्विभाषिक स्थिति पैदा कर दी गई है। इससे हिंदी की स्थिति नाज़ुक और जटिल बन गई है। तथापि, हिंदी अपनी सार्वदेशिक प्रकृति के कारण समूचे भारत की संपर्क भाषा की भूमिका निभा रही है और देश की सामासिक संस्कृति को अभिव्यक्त करने में सक्षम भी है।

आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश स्वर्गीय श्री गोपाल राव एकबोटे ने सन् 1980 में A Nation without a National Language के नाम से एक पुस्तिका का प्रकाशन किया था। बाद में उन्होंने इस पुस्तिका में और सामग्री जोड़ी और आचार्य खंडेराव कुलकर्णी के सहयोग से इस परिवर्द्धित पुस्तक का हिंदी में अनुवाद कर 'राष्ट्रभाषा विहीन राष्ट्र' पुस्तक का प्रकाशन सन् 1987 में किया। बहुभाषी भारत में हिंदी को राष्ट्रीय एकात्मकता का निर्माण करने की शक्ति और महत्ता का विवेचन करते हुए उन्होंने कहा कि हिंदी एक समन्वयवादी और उदार भाषा है। इसके विकास में इसकी अपनी बोलियों, भारतीय भाषाओं और अन्य वैश्विक भाषाओं का विशेष योगदान है। स्वतंत्रता–संग्राम से चली आ रही भावनात्मक पृष्ठभूमि है। एकबोटे जी ने यह भी उल्लेख किया है कि संविधान के अनुच्छेद

351 में इसके स्वरूप का विवेचन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह हिंदी उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान आदि हिंदीभाषी क्षेत्रों की भाषा हिंदी से अलग हो गई है। इसलिए इसे राष्ट्रभाषा का सम्मान मिलना ही चाहिए। भारत का भाषिक भारतीयकरण का स्वावलंबन और भाषा नीति भारतीय जनता की राष्ट्रीय आकांक्षाओं और राजकीय प्रयोजनों के अनुरूप होना ज़रूरी है। यदि हिंदी को पूर्ण रूप से राष्ट्रभाषा का सम्मान नहीं मिला, तो भारत के विकास और प्रगति की संभावना करना व्यर्थ हो जाएगा।

भारत का स्वतंत्रता–संग्राम हमारे संघर्षों का इतिहास है। आज़ादी की लड़ाई में हिंदी की विशेष भूमिका रही है और इसीलिए महात्मा गांधी ने कहा था कि राष्ट्र की भावनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए एक जनभाषा का होना आवश्यक है। यह भूमिका केवल हिंदी या हिंदुस्तानी ही निभा सकती है। गांधी जी हिंदी और हिंदुस्तानी में कोई अंतर नहीं मानते थे। इसीलिए हिंदी न केवल स्वतंत्रता–सेनानियों की राष्ट्रभाषा थी, अपितु समस्त जनता ने अपने समूचे स्वतंत्रता–संग्राम में इसे राष्ट्रभाषा ही माना हुआ था। सच मानिए उस काल में हिंदी ही राष्ट्रभाषा थी। सन् 1906 से सन् 1947 तक अर्थात् देश के स्वतंत्र होने तक भारत के हर देशवासी की अभिलाषा थी कि भारत की राष्ट्रीय एकात्मकता के लिए और उसे शक्तिशाली बनाने के लिए एक राष्ट्र–ध्वज, एक राष्ट्रगीत के साथ–साथ एक राष्ट्रभाषा का होना नितांत आवश्यक है। इसी संघर्ष, इन्हीं जन–आकांक्षाओं और भावनाओं का सुफल है संविधान का अनुच्छेद 351। इस अनुच्छेद के पीछे अगर इस महत्त्वपूर्ण पृष्ठभूमि को भुला दिया गया, तो इसकी सार्थकता और प्रयोजनीयता समाप्त हो जाएगी। इस प्रकार अनुच्छेद 351 से यह आशय निकलता है कि संविधान–निर्माता हिंदी को मात्र राजभाषा तक सीमित नहीं रखना चाहते थे, बल्कि उनका लक्ष्य उसे भविष्य में राष्ट्रभाषा का स्थान दिलाना था, क्योंकि उस समय संविधान सभा के कुछ सदस्य हिंदी को राष्ट्रभाषा का दर्जा देने में हिचकिचा रहे थे। इस अनुच्छेद में यह भाव भी निहित है कि हिंदी के विकास का उद्देश्य न केवल भाषायी दृष्टि से एकात्मकता स्थापित करना है, बल्कि सामाजिक–सांस्कृतिक तथा भावनात्मक दृष्टि से भी एकात्मकता स्थापित कर समन्वित संस्कृति का निर्माण भी करना है, ताकि हिंदी को राष्ट्रभाषा का पद मिलने में कोई बाधा न आए। इसके साथ–साथ संविधान की अष्टम अनुसूची में उल्लिखित 22 भाषाओं को देने का उद्देश्य यह था कि ये भारतीय भाषाएँ अपना विकास करते हुए हिंदी भाषा के विकास में भी सहयोग देंगी। इसके संकेत अनुच्छेद 351 में मिल जाते हैं।

राष्ट्रभाषा से अभिप्राय समूचे राष्ट्र या देश की भाषा से है। वह समूचे देश में बोली और समझी जाती है और उसका यह स्वरूप सदैव अक्षुण्ण बना रहता है। यह न तो उत्तर की या दक्षिण की भाषा होती है और न ही पूर्व की या पश्चिम की भाषा होती है। यह तो समूचे देश की भाषा होती है। यह मात्र विद्वानों और शोधार्थियों की भाषा तक सीमित न रहकर जन–जन की भाषा होती है। विभिन्न भाषा–भाषियों और समुदायों के बीच का काम करती है और उनमें सौहार्द और सद्भावना का संबंध बनाए रखती है। समूचे राष्ट्र की सामाजिक–सांस्कृतिक तथा भावनात्मक एकता का निर्माण करती है। इस भाषा की प्रकृति सार्वदेशिकता, सर्वसमावेशिकता, प्राचीन परंपरा, जीवंतता, स्वायत्तता, उदारतावादी दृष्टिकोण, अनेक स्रोतीय शब्द–संवर्धन, मानकीकरण, संप्रेषणीयता एवं बोधगम्यता आदि विशिष्टताओं के कारण अखिल भारतीय हो गई है। इसकी प्रकृति में बिहारी हिंदी, पंजाबी हिंदी, हैदराबादी हिंदी, मुंबइया हिंदी, कोलकतिया हिंदी आदि अनेक रूप मिलते हैं। भाषा के ये रूप उसके व्यापक एवं विशाल प्रयोग के द्योतक हैं। वे सभी भारतीयों के लिए बोधगम्य रहेंगे, क्योंकि इन रूपों में उसकी आत्मा एक ही बसती है।

भारत की यह राष्ट्रीय आवश्यकता है कि राष्ट्र की एक राष्ट्रभाषा हो, क्योंकि राष्ट्रभाषा ही देश में राष्ट्रीय चेतना जगा सकती है, राष्ट्रभाषा ही सांस्कृतिक चेतना पैदा कर सकती है, राष्ट्रभाषा ही जन–जन में राष्ट्रवाद की भावना प्रज्वलित कर सकती है। यह भूमिका हिंदी ही निभा सकती है। इसने संविधान की अष्टम अनुसूची में उल्लिखित संस्कृत, बांग्ला,मराठी, गुजराती, तमिल, तेलुगू आदि सभी भारतीय भाषाओं और अरबी, फ़ारसी, तुर्की, अंग्रेज़ी आदि अनेक विदेशी भाषाओं के शब्दों को अपनाकर और आत्मसात् कर अपना सर्वसमावेशी रूप धारण कर लिया है। सभी भारतीय भाषाओं

के साथ–साथ अन्य भारतीय भाषाओं का भी हिंदी के साथ आत्मसातीकरण एवं समन्वय हो गया है और यह समृद्ध एवं विकसित भाषा बन गई है। शब्द, भाव, रूप और शैली की दृष्टि से यह भाषा अखिल भारतीय हिंदी हो गई है। इसके व्यापक प्रयोग के कारण इसके कई रूपों और शैलियों का उद्‌भव हो गया है। यह भाषा जनपदीय संदर्भ की भाषा से उठकर राष्ट्रीय संदर्भ की भाषा बन गई है और वैश्विक संदर्भ की भाषा बनने की ओर पूर्णतया अग्रसर है। इसलिए अब समय आ गया है कि हिंदी को केवल राजभाषा तक सीमित न रख उसे राष्ट्रभाषा के पद पर गौरवान्वित किया जाए।

kkgoswami1942@gmail.com

हम भाषा को नहीं बनाते, भाषा ही हमको बनाती है। थोड़े से प्रयोजनीय शब्द गढ़ लेना भाषा बनाना नहीं, वह केवल अपनी सुविधा बनाना है।

— अज्ञेय

भाषा विचार का परिधान है।

— डॉ. जानसन

अस्मिता विमर्श और भारतीय डायस्पोरा

– डॉ. तनुजा रश्मि
कर्नाटक, भारत

हर इन्सान चाहता है कि लोग उसे जाने और पहचाने, पर जब आप किसी पराई धरती पर हों, तब अपनी पहचान बनाने के लिए आपको विशेष जद्दोजहद करनी ही पड़ती है। विश्व के विभिन्न हिस्सों में रह रहे भारतीयों का यही जीवन यथार्थ है, उन्हें स्वदेश और विदेश दोनों जगहों में अपनी पहचान के लिए खास मशक्कत करनी पड़ती है। भारत सरकार द्वारा 16 देशों के (अब तक प्राप्त जानकारीनुसार) प्रवासी भारतीयों को दी गई दोहरी नागरिकता स्वदेश में प्रवासियों की अस्मिता कायम रखने का ही उपक्रम है। स्वदेश के प्रति भावनात्मक और मनोवैज्ञानिक लगाव की वजह से भारतीय मूल के नागरिक, जो विदेशों में सुदृढ़ आर्थिक स्थिति में थे, वे अपनी गतिविधियों के माध्यम से भारत में विभिन्न क्षेत्रों में अपना योगदान देने की चाह रखते थे। उन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए दोहरी नागरिकता का प्रावधान रखा गया है। वर्तमान वाणिज्यक दौर में, भारत में विदेशी निवेश बढ़ाने के खयाल से भी दोहरी नागरिकता अहम है। दोहरी नागरिकता से प्रवासी भारतीयों की आने वाली पीढ़ियाँ भी अपने मूल देश के साथ अपने रिश्ते को मज़बूत कर अपनी जड़ों से जुड़ी रहेंगी।

'डायस्पोरा' शब्द का अर्थ है अपने देश की धरती से विस्थापन। 'डायस्पोरा' शब्द का प्रयोग मानव समूह के प्रवासन और विस्थापन के लिए किया जाता है। आज पूरी दुनिया में अनेक डायस्पोरा समुदाय हैं और भारत दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा डायस्पोरा समुदाय है। आधुनिक डायस्पोरा उत्तर औपनिवेशिक और साम्राज्यवादी काल में राष्ट्रराज्य (नेशन–स्टेट) के निर्माण और संचालन में निर्णायक भूमिका निभा रहा है और उन देशों की अर्थव्यवस्था का अभिन्न अंग है। इतना ही नहीं राजनीति और सरकार में भी इनकी प्रभावी भूमिका है :

''कौन नहीं चाहता जहाँ जिस ज़मीन उगे
मिट्टी बन जाए वहीं, पर दोमट नहीं,
तपता हुआ रेत ही है घर तरबूज़ का
जहाँ निजी ज़िंदगी वहीं घर वहीं गाँव''

('अपनी केवल धार')

जी हाँ! जहाँ ज़िंदगी का गुज़र बसर होता है वहीं अपना घर और गाँव बन जाता है। अरुण कमल की यह कविता विस्थापन और प्रवास के दर्द को ही बयाँ करती है कि हर इन्सान की इच्छा होती है कि वह अपना सारा जीवन वहीं गुज़ार दे, जिस मिट्टी में उसका जन्म हुआ है, पर ऐसा होता कहाँ है! रोज़ी–रोटी की तलाश में व्यक्ति गाँव से शहर और छोटे शहर से बड़े शहर में प्रवास करता है। भूमंडलीकरण के इस दौर में जब पूरी दुनिया एक 'ग्लोबल विलेज' के रूप में परिवर्तित हो चुकी है, तब प्रवास का दायरा भी विस्तृत हो गया है, अब विदेश जाना कोई दुष्कर कार्य नहीं रहा। यातायात के अत्याधुनिक साधनों ने इसे अत्यधिक सहज और सुगम बना दिया है। वहीं दूसरी ओर एक देश अपनी रोज़मर्रा की ढेर सारी ज़रूरतों के लिए भी आज एक दूसरे पर निर्भर है। ऐसे समय में प्रवास प्रमुख रूप से शिक्षा, नौकरी और व्यापार के लिए होता है, जैसा कि सर्वविदित है कि सर्वप्रथम भारतीय धार्मिक प्रचार–प्रसार के लिए विदेश गए। बरसों पहले सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार के लिए अपने पुत्र–पुत्री को श्रीलंका भेजा और अपने भाई एवं अन्य दूतों को मिस्र, सीरिया, अफ़गानिस्तान, इंडोनेशिया आदि देशों में भेजा। इस तरह भारतीय संस्कृति इन देशों में पहुँची और पुष्पित–पल्लवित होती रही। इसी प्रकार हमारी संस्कृति, भाषा, साहित्य और धर्म विश्व के कोने–कोने में पहुँच गया। जापान, मंगोलिया, फ़िलीपिन, इंडोनेशिया, साइबेरिया, चीन, जावा, सुमात्रा आदि देशों के निवासियों ने हमारी संस्कृति को सराहा और उसके मुख्य अंशों को अपने दैनिक जीवन एवं अपनी संस्कृति में सम्मिलित कर लिया। तत्पश्चात् भारतीय गिरमिटिया मज़दूर एग्रीमेंट शर्तबंदी के तहत फ़िजी, मॉरीशस, त्रिनिडाड, गयाना, सूरीनाम, ग्वाटेमाला, दक्षिण अफ़्रीका और जमाइका आदि देशों में भेजे गए, क्योंकि आधुनिक काल में यूरोप से शुरू हुई उद्योगी क्रांति जब भारतीय उपमहाद्वीप समेत पूरी

दुनिया में फैली, तब इससे न सिर्फ़ साम्राज्यवाद पनपा बल्कि बड़े पैमाने पर पूरे विश्व में लोगों का विस्थापन भी हुआ। कच्चे मालों का स्थानांतरण और आयात–निर्यात किया जाने लगा। ऐसे में बड़े पैमाने पर उत्पादन के लिए मज़दूरों की आवश्यकता बढ़ी। मॉरीशस, त्रिनिडाड और टोबेगो, सूरीनाम, फ़िजी जैसे दूरदराज़ के देशों में भारतीय मज़दूरों को इन्हीं आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संदर्भ में भेजा गया, जो कभी अपनी धरती पर पुनः वापस नहीं आ सके और उन्होंने विदेश में ही एक लघु भारत बनाया और यथासंभव भारतीय संस्कृति से जुड़े रहे। उन्होंने अपनी भारतीय अस्मिता को हर हाल में बनाए रखा। रामचरितमानस और हनुमान चालीसा आदि ग्रंथों ने दुख और पीड़ा के समय इन्हें सहारा दिया। अपने वतन और मिट्टी से दूर इन मज़दूरों ने अपने प्रवास की सारी कठिनाइयों को राम के वनवास से एकाकार कर लिया, इस आशा से कि एक दिन राम की तरह इनका वनवास भी पूरा होगा, परंतु इस वनवास को खत्म नहीं होना था और वह नहीं हुआ। फिर भी इन जीवट मज़दूरों ने हार नहीं मानी और इस तरह वनवास को ही उन्होंने आवास में परिवर्तित कर लिया। आज मॉरीशस, फ़िजी, सूरीनाम आदि देशों में एक लघु भारत भी बसता है, जहाँ भारतीयता के रंग उसकी मिट्टी के कण–कण में मौजूद है। गिरमिटिया मज़दूरों के अलावा 80 के दशक में रोज़गार की तलाश में दक्षिण भारत के केरल, कर्नाटक, तमिलनाडु प्रदेश भारतीय मज़दूरों का गमन खाड़ी देशों में हुआ, जो शिक्षित, अशिक्षित, प्रशिक्षित, अप्रशिक्षित दोनों थे, जो मुख्य तौर पर नर्स, नाई, राजमिस्त्री, प्लंबर आदि व्यवसाय से जुड़े थे। आज भी इन व्यवस्थाओं से जुड़े लोगों का जीविका उपार्जन हेतु खाड़ी देशों में प्रवास का क्रम जारी है।

80 और 90 के दशक में उच्च शिक्षित, प्रशिक्षित व शिक्षित मध्यवर्गीय भारतीय शिक्षा, अनुसंधान, नौकरी और बेहतर भौतिक जीवन के लिए यूरोपीय देशों में गए। यही वह भारतीय है जिन्होंने पूरे विश्व में अपनी विलक्षण प्रतिभा का डंका बजाया और विश्व में भारत का परचम लहराया। आज सूचना क्रांति और वैज्ञानिक प्रगति के इस युग में सिलिकॉन वैली और नासा में क्रमशः कंप्यूटर, इंजीनियरों और वैज्ञानिकों के रूप में भारतीय डायस्पोरा भी विश्व प्रवासन का प्रमुख हिस्सा है। ये वे भारतीय हैं, जो बेहतर ज़िंदगी और भौतिक सुख–सुविधाओं के प्रलोभन में विदेशी धरती पर बस गए, परंतु उनकी आत्मा भारत में ही बसी रही। उनका जीवन दो नावों पर सवार व्यक्ति की भांति है। एक ओर उन्हें अपने देश की मिट्टी आकर्षित करती है, वहीं दूसरी ओर उनकी रगों में बसे भारतीय संस्कार, सीने में धड़कता हिंदुस्तानी दिल उन्हें विदेशी धरती पर सारी सुख–सुविधाओं के बीच भी अकेलेपन और बेगानेपन का एहसास कराता रहता है। कुछ इस तरह : *'पानी बीच मीन पियासी, मोहि सुनि सुनि आवत हासी'*। इतना ही नहीं, उन्हें हर वक्त एक अपराध बोध भी होता रहता है कि हम अपने समाज और अपनी मातृभूमि का कर्ज़ पूरा नहीं कर पाए, उन्हें लगता है कि उनकी सफलता एकाकी है। उनका जीवन खजूर के उस पेड़ की तरह है, जो बड़ा तो है, परंतु समाज के लिए उपयोगी नहीं है। उसकी छाया और फल से उनके अपने समाज और लोग दोनों महरूम हैं, कुछ इस तरह : *'बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर, पंथी को छाया नहीं, फल लागे अति दूर'*।

भारतीय डायस्पोरा का यही वह बौद्धिक और संवेदनशील समुदाय है, जिसने अपनी अनुभूतियों को शब्दबद्ध किया। इसके अलावा मॉरीशस, फ़िजी, सूरीनाम आदि देशों में बसे भारतीयों ने अपने शोषण और उत्पीड़न को विदेशी धरती पर अपनी भाषा में लिपिबद्ध किया और इस तरह प्रवासी साहित्य का आगाज़ हुआ। आज भारतीय डायस्पोरा समुदाय रचनात्मक रूप से बहुत सक्रिय है। इनकी रचनाएँ साहित्य की सभी विधाओं कविता, कहानी, उपन्यास, गज़ल आदि में लिखी जा रही हैं। विदेशों में रचित साहित्य और साहित्यकार अब प्रवासी साहित्य और साहित्यकार के रूप में स्थापित हैं। अक्सर कहा जाता है कि प्रवासी साहित्य नॉस्टेल्जिया के रचनात्मक रूपों का समुच्चय है। वैसे तो नॉस्टेल्जिया को नकारात्मक मूल्य माना जाता है, लेकिन नॉस्टेल्जिया का अर्थ : घर की याद या अतीत के परिवेश में विचरने का आभास है।

प्रवासी साहित्य में नॉस्टेल्जिया या पराएपन की अनुभूति रचनात्मक यात्रा का अहम हिस्सा अवश्य है, परंतु आप सिर्फ़ उसे नॉस्टेल्जिया कहकर उसके साथ न्याय नहीं कर सकते। प्रवासी साहित्य में लेखक की बेगानी धरती पर अपनी मनःस्थिति

से संघर्ष और अपनी नई पहचान स्थापित करने की जद्दोजहद के साथ ही सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परिस्थितियों का तुलनात्मक चित्रण भी है, जिसमें भारतीय खान–पान, पहनावा, बोली–भाषा, पर्व–त्योहार से इतर विदेशी संस्कृति का चित्रण है। प्रवासी रचनाओं में 'कल्चरल शॉक' का भी उल्लेख है, साथ ही समायोजन (अडॉप्टेशन) की कोशिश है। पराए देश की समस्या भी पराई है, जिसमें भूमंडलीकरण और बाज़ार के बढ़ते प्रभाव, सामाजिक अंतर्विरोध और मानवीय संवेदनाओं के अनेक रंग रूप अपनी मौलिकता के साथ मौजूद हैं, जिसकी अपनी रचनात्मक विविधता की दृष्टि से अनेक श्रेणियाँ हैं। उदाहरण के तौर पर, एक गिरमिटिया मज़दूर के शोषण की अभिव्यक्ति और नासा के एक इंजीनियर का अकेलापन और बेगानापन प्रवासी साहित्य में अलग शैली और भाव–भंगिमा में प्रस्तुत होगा। मॉरीशस के विश्वविख्यात साहित्यकार अभिमन्यु अनत के कविता–संग्रह 'कैक्टस के दाँत' में मज़दूरों की दुर्गति, विपन्नता, शोषण और सामाजिक विषमताओं का हृदयस्पर्शी चित्रण है :

'बड़ी कृतज्ञ मज़दूर जाति जो चिल्ला–चिल्ला कर कह रही,
कि तुम से उसे कुछ भी नहीं मिला,
लेकिन मैं तो तुम्हारा आभारी हूँ,
जानता हूँ कि मेरी फटे हाल झोली का यह!
खालीपन तुम्हारी ही देन है।'

मॉरीशस के कवि भारतीय संस्कारों के प्रति निष्ठावान हैं। अभिमन्यु अनत के पश्चात् रामदेव धुरंधर मॉरीशस के अंतरराष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त लेखक हैं। उनका 'पथरीला सोना' उपन्यास 6 खंडों में प्रकाशित है, जो ऐतिहासिक महत्त्व का है। इस कविता से परे फ़िजी के प्रख्यात कवि पं. कमला प्रसाद जो छायावाद युग के समकालीन हैं, उनकी एक कविता फ़िजी के प्राकृतिक सौंदर्य पर आधारित है 'रेवा नदी के प्रति' जो उपर्युक्त कविता से कितनी भिन्न है :

'यहाँ सूरज पहले निकलता है और दूर अंधेरा होता है,
फ़िजी फिरदौस है पेसिफ़िक का यहाँ पहले सवेरा होता है,
हर ओर गज़ब हरियाली है और छटा मतवाली है।'
यह फ़िजी वही जिसमें हर माह बहार का फेरा होता है।,
यहाँ पहले सवेरा होता है, रेवा में जीवन का उल्लास छिपा है,
मृत्यु प्रकृति– परी का अनुपम हास छिपा है।''

'प्रवासी हिंदी साहित्य' की दुनिया में जब हम प्रवेश करते हैं, तब इसके सिरे हमें खाड़ी देश से लेकर यूरोप तक, अटलांटिक प्रशांत महासागरीय देशों से लेकर अमेरिका और कनाडा तक फैले दिखते हैं। झारखंड की इला प्रसाद, जो अमेरिका में अध्यापन से जुड़ी हैं, अपनी कविता 'दूरिया' में प्रवास की पीड़ा व्यक्त करती हैं :

सब कुछ बड़ा है यहाँ/ आकार में/ इस देश की तरह/ असुरक्षा, अकेलापन और डर भी/ तब भी लौटना नहीं होता/ अपने देश में

राजेंद्र यादव ने प्रवासी साहित्य को 'संस्कृतियों के संगम की खूबसूरत कथाएँ' कहा है। हालांकि यह केवल संगम नहीं है, बल्कि कई अर्थों में तो मुठभेड़ और सांस्कृतिक टकराहट भी है। हिंदी साहित्य में 'प्रवासी हिंदी साहित्य' को अलग विधा के रूप में मान्यता मिली है, परंतु प्रवासी लेखक अपने आपको साहित्यकार कहलाना चाहते हैं, न कि प्रवासी साहित्यकार। प्रवासी साहित्यकार कहने से वे अपने को तुच्छ मानते हैं, उन्हें ऐसा महसूस होता है कि प्रवासी साहित्य कहकर उनके साहित्य को दोयम दर्जे का माना जा रहा है। कुछ साहित्यकारों का भी मानना है कि अन्य भाषाओं में साहित्य और साहित्यकारों का ऐसा विभाजन नहीं किया गया है, जैसे कि अंग्रेज़ी के सलमान रुश्दी, वी. एस. नायपॉल, झुंपा लहिड़ी, एम. जी. वासनजी, गौतम मलकानी, बालाचंद्र राजन आदि कई भारतीय लेखक ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा आदि देशों में बसे हुए हैं और उन्होंने अंग्रेज़ी में लेखन किया, लेकिन कभी उन्हें प्रवासी साहित्यकार या उनकी रचना को प्रवासी साहित्य नहीं कहा गया, उनके साहित्य को अंग्रेज़ी साहित्य की मुख्यधारा का ही अंग माना गया। हाँ, विभिन्न देशों की सामाजिक–सांस्कृतिक विषमताओं के कारण उन्हें अमेरिकन इंग्लिश, ऑस्ट्रेलियन इंग्लिश, इंडियन इंग्लिश आदि नामों से पुकारा गया। अंग्रेज़ी के अलावा अन्य

विदेशी भाषाओं में भी हिंदी की तरह स्थिति नहीं है। डेनमार्क की सुविख्यात साहित्यकार 'बिलिक्शन' ने अपने इटली और अफ़्रीका में प्रवास के दौरान रचनाएँ लिखीं, किंतु डेनिश साहित्य में उनकी रचनाओं को स्थान मिला। उन्हें कभी प्रवासी साहित्य नहीं माना गया, परंतु हिंदी में परिस्थितियाँ बिल्कुल अलग हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि साहित्य एक सर्जनात्मक और कलात्मक विधा है, जिसके भीतर सभी विचारधाराएँ, दृष्टिकोण और संदर्भ समाहित रहते हैं। अतः साहित्य को संपूर्णता में ही देखना चाहिए, इसे खेतों में बाँटना उसके साथ अन्याय करना है। भारत में तथा विदेशों में लिखने वाले लेखकों के अनुभव और संवेदनाएँ एक जैसी हैं, जिनका समर्थन मृदुला गर्ग इन शब्दों में करती हैं : 'प्रवासी साहित्य को अलग देखने के बजाय उसे हिंदी की मुख्यधारा में स्थान दिया जाए'। विदेशों में रहने वाले लेखक जब संस्कृति के टकराव के बारे में लिखते हैं, तब लोगों को उच्च श्रेणी के साहित्य से मुखातिब होने का अवसर मिलता है। गाँव से शहर में आकर बसने वाले लोगों में भी प्रवास का दर्द देखा जा सकता है। यही वजह है कि साहित्य स्थापित मूल्यों के विरुद्ध मुहिम चलाने का काम कर रहा है। प्रवासी साहित्यकार सुषम बेदी का मानना है कि प्रवासी लेखन ने विश्व को एक सूत्र में जोड़ने का काम किया है। फ़िलहाल प्रवासी साहित्य का बड़ा मुद्दा अस्मिता का है। प्रवासी लेखक को राष्ट्रीयबद्धता में बंधने की ज़रूरत नहीं। जबकि भारत के साहित्यकार की रचनाएँ समाज व राष्ट्रीयता से बंधी नज़र आती है। जबकि कमलेश्वर ने प्रवासी साहित्य पर टिप्पणी करते हुए कहा था कि 'रचना अपने मानदंड खुद तय करती है, इसलिए उसके मानदंड बनाए नहीं जाएँगे, उन रचनाओं के मानदंड खुद तय होंगे।' यानी प्रवासी साहित्य की अपनी ताकत ही एक दिन उसकी सहज स्वीकार्यता की वजह बनेगी। जयशंकर प्रसाद के महाकाव्य 'कामायनी' के 'काम' सर्ग की ये पंक्तियाँ जीवन और हिंदी के वैश्विक रूप को इस रूप में भी चरितार्थ करती है :

'यह नीड़ मनोहर कृतियों का यह विश्वकर्म रंगस्थल है
है परंपरा लग रही यहाँ ठहरा जिसमें जितना बल है।'

आज भारत और भारत के बाहर हिंदी भाषा की लोकप्रियता उसकी अपनी ताकत की वजह से है। हिंदी की लोकप्रियता के पीछे मूलतः बाज़ार और फ़िल्में हैं, तो उसकी भाषा और उसके साहित्य के प्रोत्साहन और उसके नियमित पठन–पाठन के लिए व्यक्तिगत और संस्थागत प्रयासों/कार्यक्रमों का योगदान भी है। इस तरह हिंदी के कई रूप और प्रयोग हैं, जो हिंदी को संपूर्णता देने में प्रयासरत हैं। अब वह दिन दूर नहीं है जब हिंदी एक अंतरराष्ट्रीय भाषा के रूप में विश्व में और सशक्त रूप में जानी जाएगी और प्रवासी साहित्य हिंदी साहित्य की मुख्यधारा के साहित्य को अपनी विविधता से समृद्ध करेगा।

rashmitanuja@gmail.com

हिंदी को संस्कृत से विच्छिन्न करके देखने वाले
उसकी अधिकांश महिमा से अपरिचित हैं।

– हज़ारीप्रसाद द्विवेदी

दक्षिण कोरिया और हिंदी : दो देशों का हार्दिक मिलन

– प्रो. दिविक रमेश
नोएडा, भारत

आंकड़ों के आधार पर तो हम विश्व पटल पर हिंदी की उपस्थिति को लेकर गर्व भी कर सकते हैं, लेकिन कुछ देशों के संदर्भ में स्थिति चिन्ताजनक है। एक ओर जहाँ हिंदी के वेबजालों की संख्या में बढ़ोतरी होती जा रही है और अमेरिका जैसे देश में तो हिंदी को स्कूलों के स्तर पर भी पढ़ाया जा रहा है – कितने ही अमेरिकी तो भारत आकर विशेष रूप से हिंदी सीख रहे हैं। वे हिंदी जानना अपना विकल्प नहीं, बल्कि अपनी आवश्यकता मानते हैं। वे जानते हैं कि भारत के भाषाई और सांस्कृतिक संसार तक पहुँचने के लिए हिंदी का आना अनिवार्य है। भारतीय जीवन के गहरे एवं यथार्थपूर्ण अध्ययन के लिए भी वे हिंदी की जानकारी को अनिवार्य मानते हैं। कुछ का इरादा तो हिंदी में पारंगत होकर हिंदी का अध्यापक बनना भी है। (स्पेन, मार्च, अप्रैल, 2007, पृ. 12) वहाँ हिंदी के गढ़ माने जाने वाले देशों, जैसे रूस और जर्मनी में हिंदी के पठन–पाठन और उसके विस्तार पर आघात भी पहुँचा है। कुछ पहले ब्रिटेन के एक स्थापित विश्वविद्यालय में हिंदी के पठन–पाठन को लेकर जो हुआ वह काफ़ी दुखद था। लेकिन सच्चाई यह भी है कि भारत में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों या विदेशी कम्पनियों के प्रभावशाली आगमन और उससे उपजे भारतीय बाज़ार के दबाव ने हिंदी की ओर बाहर और भीतर दोनों ही लोगों का न केवल अधिक ध्यान आकृष्ट किया है, बल्कि उसकी उपयोगिता को सिद्ध करते हुए उसके अन्यान्य रूपों के विस्तार को भी संभव किया है। और यह क्रम बढ़ता ही जा रहा है। मीडिया और प्रोपेगेण्डा साहित्य से लेकर वार्तालापी हिंदी (व्यावहारिक हिंदी) की दिशा में तो जैसे विस्फ़ोट–सा हुआ है। हिंदी चैनेलों की पहुँच उन देशों तक भी पहुँच चुकी है, जहाँ पहले इस दृष्टि से भयंकर उजाड़ था, जैसे दक्षिण कोरिया। डॉ. केदारनाथ सिंह के इस निष्कर्ष से सहमत हुआ जा सकता है कि 'यूरोप केंद्रित सांस्कृतिक प्रभाव का क्षेत्र कुछ सिकुड़ा है और एशिया का साहित्य–मानस एक–दूसरे के निकट आने के नए रास्तों की तलाश कर रहा है। बल्कि इस वृत्त का विस्तार करते हुए हम कह सकते हैं कि इस गोलार्द्ध से कुछ पश्चिमी देशों – खासतौर से लैटिन अमेरिकी देशों के सृजन–सूत्र भी जुड़ते दिखाई पड़ रहे हैं और निःसंदेह अफ़्रीका के भी।' (जनसत्ता, दिल्ली, 29 अप्रैल, 2007, पृ. 7)। यह कथन तथ्यों के आधार पर उचित सिद्ध किया जा सकता है। आज नॉर्वे, हंगरी, पोलैंड, होलैंड जैसे देश हिंदी–साहित्य की दृष्टि से पर्याप्त उत्साहजनक हैं। यूरोपीय देशों के साथ हम चीन और जापान ही नहीं दक्षिण कोरिया जैसे एशियाई देशों को भी सम्मिलित कर सकते हैं। अफ़गानिस्तान और पाकिस्तान जैसे देशों में भी हिंदी का प्रभुत्व पग रख चुका है। मार्च, 2010 में आई.सी.सी.आर., नई दिल्ली के सभागार में अफ़गानिस्तान में हिंदी सीखने वाले विद्यार्थियों से मिलकर और हिंदी पर उनकी पकड़ देखकर बहुत गर्व हुआ था। अब तो देश के बाहर न केवल अनुवाद के माध्यम से, बल्कि रचनात्मक लेखन के द्वारा भी हिंदी अग्रसित हो रही है। इस प्रसंग में इतना अवश्य जोड़ना चाहूँगा, या तो हमें देश–विदेश में भारत की तमाम भाषाओं के सीखने–सिखाने की स्थितियाँ पैदा करनी होंगी या फिर एक ऐसी भारतीय भाषा को चुनना होगा, जिसके माध्यम से भारत की अन्य भाषाओं के श्रेष्ठ साहित्य को भी विदेशों में पहुँचाया जा सके और साथ ही उस भाषा की विदेशों में अध्ययन–अध्यापन की भरपूर स्थितियाँ भी पैदा की जा सके। और यह भी कि वह भाषा स्पष्ट कारणों से, भारतीय मूल की ही होनी चाहिए। मेरी विनम्र राय है कि उपर्युक्त दूसरा रास्ता ज़्यादा व्यावहारिक है। उदाहरण के लिए यदि हम 'हिंदी' को विदेश के संदर्भ में देश की भाषा स्वीकार कर लें, तो विदेशों में केवल हिंदी सीखने–सिखाने का प्रबन्ध करना होगा और देश में एक उचित योजना के तहत हिंदी में अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य को उपलब्ध कराना होगा, ताकि वह सब हिंदी के माध्यम से विदेशों में पहुँचाया जा सके।' अच्छी बात यह है कि बिना हिंदीतर भारतीय भाषाओं का गला दबाए, इस दिशा में काम चल निकला है।

जहाँ तक हिंदी का कोरियाई संदर्भ है, बखूबी एवं विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि वह अपने वर्तमान रूप में तो उत्साहवर्द्धक है ही, साथ ही प्रभावशाली संभावनाओं से भी लहलहा रहा है। और यह बात मैं अपने 1994 से 1997 तक आ. ई.सी.सी.आर. की ओर से दक्षिण कोरिया में अपने अध्यापन से जुड़े प्रवास के अनुभव और अप्रैल 2007 में अपनी दस दिवसीय दक्षिण कोरिया की राजधानी सोल की यात्रा से उपजे अनुभव के आधार पर पूरे आत्मविश्वास से दोहरा सकता हूँ। कोरिया में हिंदी की स्थिति को लेकर मेरा एक लेख 'कोरिया और भारत : संदर्भ संस्कृति और भाषा' (भाषा, जुलाई–अगस्त, 1998) और दक्षिण कोरिया के हांगुक विश्वविद्यालय, सोल में हिंदी विभाग के वरिष्ठ आचार्य और सुविख्यात भारत एवं भाषाविद् डॉ. ली. जंग हो से मेरी भेंटवार्ता (गगनांचल, जन–मार्च, 1996) को भी देखा जा सकता है।

वस्तुतः कोरिया में भारत की विशिष्ट पहचान प्रायः बुद्ध, गांधी और टैगोर के देश के रूप में होती आई है। बौद्ध धर्म तो एक समय में कोरिया का राजधर्म भी रहा है। 1929 में टैगोर द्वारा लिखित कुछ कवितानुमा पंक्तियाँ 'पूर्व का दीप' कोरिया के बच्चे–बच्चे की ज़बान पर है। ये पंक्तियाँ अंग्रेज़ी में लिखी गई थीं, जिनका लगभग 62 वर्ष बाद पहली बार मुझे ही हिंदी अनुवाद करने का मौका मिला। यह अनुवाद कवयित्री किम यांग शिक अपने द्वारा संपादित पत्रिका कोरियन इंडियन कल्चर के पिछले पृष्ठ पर कोरियाई अनुवाद और अंग्रेज़ी मूल के साथ प्रकाशित करती हैं। पंक्तियाँ हैं :

एशिया के स्वर्णिम युग में
रहा कोरिया एक दीप वाहकों में
और कर रहा फिर प्रतीक्षा
वही दीप होने को ज्योतित
करने को फिर से आलोकित
पूरब का प्रांगण यह सारा

पहली शताब्दी के 48वें साल में अयोध्या की राजकुमारी हो (हॉ) हवांग ओक और गया राज्य के राजा किम सूरो (जिनका जन्म अंडे से माना जाता है) के विवाह की कथा (समगुक यूसा, 1986, पृ. 158) को किंवदन्ती अथवा मिथक भी मान लिया जाए, तो भी कोरियाई लोगों की भारत के साथ अपने सांस्कृतिक संबंध जोड़ने की ललक की पुष्टि तो यह कथा भी कर ही देती है। अतः भारत के प्रति कोरियाई लोगों की बढ़ती हुई दिलचस्पी के उपर्युक्त ये सांस्कृतिक, पारम्परिक एवं महत्त्वपूर्ण कारण हैं। यहाँ प्रसंग से थोड़ा हटकर बताना चाहूँगा कि अयोध्या की राजकुमारी का भारतीय नाम कहीं नहीं मिलता। इधर मनगढ़ंत तरीके से एक अति उत्साही भारतीय ने उसे सूरीरत्न नाम दे दिया है और उनके प्रभावशाली होने के कारण कुछ भारतीय और कदाचित कुछ भ्रमित कोरियाई भी इसी नाम का प्रयोग करने लगे हैं। मेरी विनम्र निगाह में एक मिथ पर बेबुनियाद दूसरे मिथ का आरोपण कोई समझदारी की बात नहीं है। प्रो. ली जंग को ही नहीं कुछ भारतीयों को भी यह भारतीय नाम रखने का तर्कहीन व्यवहार अच्छा नहीं लगा है। खैर बहुत दिलचस्प कथा है, जिसका हिंदी में परिचय भी सबसे पहले इसी लेख के लेखक दिविक रमेश ने 1996 में प्रकाशित कराया था। अर्थात् भारत और कोरिया के बीच के सांस्कृतिक संबंधों का अतीत बहुत पुराना है। सब जानते हैं कि बौद्ध धर्म चीन से कोरिया होते हुए जापान गया था। पिछले कुछ वर्षों में कोरियाई कम्पनियों की भारत में होती गई प्रभावशाली उपस्थिति ने व्यावहारिक ज़रूरत के तौर पर भी भारत और हिंदी को कोरियाई लोगों के करीब ला दिया है और विशेष रूप से कोरिया की नई पीढ़ी में भारत और हिंदी का महत्त्व सहज ही बढ़ भी रहा है। मीडिया ने इस कार्य को सुगमता भी प्रदान की है। अनुवाद द्वारा प्रदत्त आदान–प्रदान की दिशा में बढ़ती कुछ अधिक सजगता एवं सक्रियता भी हिंदी जानने के महत्त्व को बढ़ा रही हैं।

थोड़ा तुलनात्मक ढंग से कोरिया में भारत और हिंदी के परिदृश्य को देखा जाए तो वास्तविकता को और अच्छे से समझा जा सकता है। दक्षिण कोरिया में सोल स्थित हांगुक विश्वविद्यालय और बूसान स्थित पूसान विश्वविद्यालय भारत और हिंदी के पठन–पाठन के गढ़ हैं। एक कैम्पस इमुन में हिंदी विभाग सन् 1972 में खुल गया था। दूसरे कैम्पस योंगिन में 1984 में खुला। इस विभाग के अन्तर्गत हिंदी भाषा सीखने के साथ–साथ, व्याकरण, हिंदी साहित्य, इतिहास, राजनीति,

अर्थशास्त्र आदि का भी अध्ययन किया जा सकता है। आजकल तो उर्दू भी सीख सकते हैं। विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति भी मिलती है। यूँ तो कोरियाई विश्वविद्यालयों में हिंदी में बी.ए. की उपाधि के लिए ही सामान्यतः विद्यार्थी प्रवेश पाते हैं, लेकिन व्यवस्था एम.ए. करने की भी है और पी.एच.डी. की भी। एक विद्यार्थी ने पी. एच.डी. के लिए संस्कृत–हिंदी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन भी किया है। हिंदी साहित्य में एम.ए. के लिए भी कुछ विद्यार्थी हैं। हिंदी फ़िल्मों का पहले भी प्रभाव था, लेकिन वह अब और अधिक बढ़ा है। यहाँ तक कि हिंदी के प्रति या हिंदी–अध्ययन को अधिक रोचक एवं दिलचस्प बनाने के लिए न केवल हिंदी फ़िल्मों का सहारा लिया जाता है, बल्कि हाल ही में हांगुक विश्वविद्यालय के योंगिन कैम्पस के हिंदी के एसोसियेट प्रोफ़ेसर डॉ. ई उंग गू ने मल्टीमीडिया हिंदी–1 नामक पुस्तक तैयार की है, जिसमें उन्होंने एक लम्बी भूमिका तो लिखी ही है, हिंदी फ़िल्मों और उनके गानों के सम्बन्ध में जानकारी भी दी गई है, साथ ही राष्ट्रगान के अतिरिक्त 37 पुराने–नए फ़िल्मी गानों का एक चयन भी प्रस्तुत किया है। वे इन गानों को विद्यार्थियों को सुनाते–सुनवाते हैं, गवाते हैं और फिर उनके विश्लेषण, उनपर बातचीत के आधार पर हिंदी में बोलने और लिखने का अभ्यास भी कराते हैं। यानी गाते–बजाते हिंदी सिखाने का उन्होंने यह एक ऐसा तरीका निकाला है, जिसके चलते विद्यार्थी मन लगाकर हिंदी में सोचते भी हैं और हिंदी पढ़ते भी हैं। यह जानकारी मुझे 2007 की यात्रा में ही प्राप्त हुई है। अतः स्पष्ट है कि कोरिया में हिंदी के पठन–पाठन को लेकर काफ़ी गम्भीरता है। प्रो. ई उंग गू ने भारत में ही डॉ. रामदरश मिश्र के निर्देशन में 'प्रेमचन्द एवं योम सेंग सोप के उपन्यासों में यथार्थ चेतना : तुलनात्मक अध्ययन' विषय पर पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की थी। भारतीय संस्कृति में उनकी गहरी दिलचस्पी है और उसके ज्ञाता भी हैं। उन्होंने भारतीय संस्कृति संबंधी एक पुस्तक भी लिखी है – कोरियाई भाषा में। 477 पृष्ठों का यह एक गम्भीर कार्य है। प्रेमचन्द के 'निर्मला' उपन्यास का अनुवाद भी किया है। हिंदी के ही वरिष्ठ प्राचार्य प्रो. ली. जंग हो, जिन्होंने भीष्म साहनी के उपन्यास 'तमस' का पहले पहल अनुवाद किया था और स्वातंत्र्योत्तर हिंदी और कोरियाई कहानी विषय पर पी.एच.डी. की उपाधि भी प्राप्त की है। इनके अनुसार भारतीय इतिहास, लोक जीवन, धार्मिक संबंधों को समझने के लिए यह उपन्यास बहुत ज़रूरी है। यह ग्रंथ पराग (अभिरुचि प्रकाशन, दिल्ली) से प्रकाशित भी हुआ था। ये हिंदी की सेवा निरन्तर कर रहे हैं। इन्होंने ही अपने संपादन में पहला हिंदी–कोरियाई शब्दकोश भी मेरे कोरिया में रहते (1995 में) तैयार किया और उसे प्रकाशित भी कराया। यह कोश 67000 शब्दों से सम्पन्न है। हिंदी शब्द के साथ कोष्ठकों में अंग्रेज़ी में हिंदी उच्चारण दे दिया गया है। शब्द के साथ जुड़ सकने वाले अन्य शब्द/शब्दों के अर्थ भी दिए गए हैं, जैसे 'अंतिम' और 'अंतिम चेतावनी'। इस कोश की भूमिका तत्कालीन भारतीय राजदूत श्री शशांक ने लिखी है। प्रोफ़ेसर ली. जंग हो का ही एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य उनके द्वारा रचित और हांगुक विश्वविद्यालय (वे दे) से प्रकाशित ग्रंथ 'हिंदी व्याकरण' (हिंदी मुन बाप) है। यह 381 पृष्ठों का एक विशाल ग्रंथ है। इन्होंने हिमांशु जोशी, भीष्म साहनी, राजेन्द्र यादव, अज्ञेय, काशीनाथ आदि की कहानियों के साथ–साथ लोककथाओं और जयप्रकाश भारती की रचनाओं के अनुवाद किए हैं। हांगुक विश्वविद्यालय (वे दे) की ही प्रो. किम ऊ जो ने अपनी देख–रेख में पहला कोरियाई–हिंदी शब्दकोश तैयार करके प्रकाशित कराया है। यह कार्य 1994 में प्रारम्भ हुआ था, लेकिन संपन्न 2000–08 में ही हो सका। इस 700 पृष्ठों के कोश में 50000 मुख्य और 20000 उपमुख्य प्रविष्टियाँ हैं। कोश का विमोचन कोरिया में ही भारतीय पर्यटन मंत्री माननीया श्रीमती अंबिका सोनी के हाथों संपन्न हुआ। एक जानकारी के अनुसार इन्होंने कबीर, घनानन्द, निराला, रघुवीर सहाय, धूमिल आदि की कविताओं तथा प्रेमचन्द, यशपाल, मोहन राकेश, मन्नू भंडारी, ज्ञानरंजन आदि की कहानियों के अनुवाद किए हैं, पर वे पुस्तकाकार रूप में उपलब्ध नहीं हैं। इन्होंने कोरियाई कविताओं का हिंदी में अनुवाद भी किया है, जो 'पहाड़ में फूल' शीर्षक से राजकमल प्रकाशन के द्वारा प्रकाशित है। अनुवाद बेहतर हो सकता था। प्रोफ़ेसर किम ऊ जो की एक पुस्तक 'बेसिक हिंदी' भी हांगुक विश्वविद्यालय से प्रकाशित है। इसी प्रकार भारत में अतिथि आचार्य रह चुके हांगुक विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर स हे जंग ने भी 'मानक हिंदी उच्चारण शिक्षण' शीर्षक से एक पुस्तक की रचना की है। भाषाशास्त्री प्रोफ़ेसर छै भी बहुत सक्रियता

से हिंदी के कोरियाई सरोकारों को निरन्तर आगे बढ़ा रहे हैं। भारत के केन्द्रीय हिंदी संस्थान ने हिंदी–कोरियाई वार्तालाप (conversational) निदेशिका (guide) तैयार की है। इसमें दो भाग हैं। पहले भाग में विभिन्न विषयों जैसे भाषा, अभिनन्दन, पर्यटन आदि पर हिंदी–वाक्य हैं; दूसरे भाग में अकार आदि क्रम से रोज़मर्रा प्रयोग में आने वाले शब्दों को संजोया गया है। इस 153 पृष्ठीय पुस्तक की कीमत 335 रुपए हैं और विद्यार्थियों के साथ–साथ इसकी उपयोगिता पर्यटकों के लिए भी है। भारत की ही हांगुक विश्वविद्यालय में हिंदी की अतिथि आचार्य (वर्तमान में मैसूर विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्रोफ़ेसर और अध्यक्ष हैं) ने प्राथमिक कोरियाई विद्यार्थियों के लिए 'हिंदी वार्तालाप' शीर्षक से एक पुस्तक प्रकाशित की है। साथ ही सी.डी. भी तैयार की है। मेरी जानकारी के अनुसार कहानियों के भी अनुवाद किए हैं, पर वे अप्रकाशित हैं। पुस्तक 2008 में हांगुक विश्वविद्यालय ने ही प्रकाशित की है। 214 पृष्ठों की इस पुस्तक की कीमत 12000 वॉन है।

किसी भी भारतीय एवं हिंदी प्रेमी के लिए यह जानकारी उत्साहवर्द्धक है कि जहाँ कुछ वर्ष पूर्व हांगुक विश्वविद्यालय (आज जहाँ लगभग 38 विदेशी भाषाओं का अध्ययन किया जा सकता है) में हिंदी की स्थिति दस नम्बर पर थी, वहाँ आज उसके इमुन कैम्पस में चौथे तथा योंगिन कैम्पस में दूसरे नम्बर पर है। कोरिया में 12वीं कक्षा के परिणाम के आधार पर विश्वविद्यालय और विषय दिया जाता है। आज हिंदी विषय लेने वालों में खुशी से हिंदी लेने वालों की प्रतिशत 50 से ऊपर पहुँच गई है। बहुत अच्छे अंक प्राप्त करने वाले कोरियाई छात्र भी अपनी रुचि से हिंदी पढ़ना चाहते हैं। पहले इस विश्वविद्यालय में लगभग 250 विद्यार्थियों के लिए 4 कोरियाई और एक भारतीय प्रोफ़ेसर का प्रबन्ध था। बाद में वहाँ 6 कोरियाई और दो भारतीय प्रोफ़ेसर हो गए। पूसान विश्वविद्यालय में भी लगभग 120–130 विद्यार्थी हिंदी पढ़ रहे हैं। कोरिया में हिंदी की प्रबल संभावनाओं और वहाँ की युवा पीढ़ी में 'हिंदी' का अध्ययन करने और भारत के प्रति उनकी बढ़ती हुई जिज्ञासा का एक सबल प्रमाण यह भी है कि वहाँ के एक अत्यंत प्रतिष्ठित सरकारी विश्वविद्यालय – सोल नेशनल विश्वविद्यालय में भी सेमिस्टर के आधार पर हिंदी पढ़ाने का प्रबन्ध करना पड़ा। प्रो. किम ऊ जो ने न के बराबर पैसा लेकर हिंदी के प्रति अपनी सद्भावनावश इस कार्य में सहयोग दिया। तीन विद्यार्थियों से हिंदी पढ़ाने का कार्य प्रारम्भ हुआ था। आज संख्या 25 पर पहुँच गई है। उन्हें नारायण नाम के भारतीय ने भी हिंदी पढ़ाया।

इसी प्रसंग में एक और पक्ष की ओर भी ध्यान दिलाना आवश्यक समझता हूँ। लगभग दस–ग्यारह वर्ष पूर्व कोरिया में हिंदी पढ़ने वाले विद्यार्थियों के समूह हर वर्ष दिल्ली विश्वविद्यालय में आकर 21 दिनों तक हिंदी सीखने के एक विशेष कार्यक्रम में हिस्सेदारी करते थे। अब अलग–अलग समूहों में 4–4 महीने के लिए वर्ष भर आते हैं। पूरा खर्चा स्वयं वहन करते हैं। यही नहीं पूसान विश्वविद्यालय और दिल्ली विश्वविद्यालय के मोतीलाल नेहरू महाविद्यालय के बीच भी आदान–प्रदान का एक करार हुआ था, जिसके तहत वहाँ के विद्यार्थी यहाँ आकर एक महीने के लिए हिंदी का विशेष अभ्यास और अध्ययन कर सकें। और ये विद्यार्थी हिंदी के न होकर मैनेजमेंट के थे। पूसान (बूसान) में बूसान युनिवर्सिटी में हिंदी विभाग 1983 में खोला गया था। खुशी की बात है कि वहाँ वर्षों से अध्यापन कर रहे भारतीय मूल के प्रोफ़ेसर आलोक कुमार राय आज डीन के पद पर हैं। दुःखद समाचार यह है (जो मुझे हाल ही में 14–15 जुलाई, 2015 को आई.सी.सी.आर. द्वारा आयोजित कोरिया संबंधी एक कार्यक्रम में भाग लेने के लिए आए बूसान विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर ई ग्वांगसू से मिला) कि मैनेजमेंट का अब कोई विद्यार्थी हिंदी नहीं पढ़ रहा। मुझे विश्वास है कि इस स्थिति में जल्दी ही सुधार होगा। इसी आयोजन में जब पूरी तरह अंग्रेज़ी के माहौल में प्रोफ़ेसर ली जंग हो ने अपनी बात हिंदी में शुरू की, तब हॉल तालियों से गूंज गया।

हांगुक विश्वविद्यालय में एक और व्यवस्थागत नया परिवर्तन हुआ है। जो विद्यार्थी अन्य विषयों के हैं, उनके लिए भी हिंदी पढ़ने की व्यवस्था कर दी गई है। अपनी पिछली यात्रा में मुझे हिंदी के विद्यार्थियों ने बताया कि फ़िलहाल इटेलियन, चीनी, सुहाली, स्पेनिश और जापानी भाषाओं के कुछ विद्यार्थी हिंदी भी सीख रहे हैं। मेरे लिए यह एक बहुत ही सुखद समाचार था। इमुन कैम्पस के हिंदी के विद्यार्थियों को तत्कालीन भारतीय प्रोफ़ेसर डॉ.

प्रतिभा मुदलियार और योंगिन कैम्पस के विद्यार्थियों को प्रोफ़ेसर ई उंग गू ने संबोधित करने की सुविधा प्रदान की थी। यह जानकारी भी हिंदी की कोरिया में प्रबल संभावनाओं की द्योतक है कि प्रायः हर विद्यार्थी ने अपना हिंदी नाम भी रखा हुआ था। मसलन ओ मिन सॅक ने आकाश, शिन स्योल योंन ने सरला, ची योंग मिन ने सीता और किम ह्यन जिन ने जीवन नाम रखा है। वैसे यह चलन चीनी विद्यार्थियों में भी देखा जा सकता है। शायद अन्य देशों के विद्यार्थियों में भी।

उत्सुकता हो सकती है कि कोरियाई नई पीढ़ी में हिंदी सीखने के लिए दिलचस्पी बढ़ने के मुख्य कारण जाने जाएँ। बातचीत के आधार पर ही कह सकता हूँ कि सर्वप्रमुख कारण तो भारत की संस्कृति, जीवन और दर्शन की गहरी जानकारी लेना है। वस्तुतः आज भारत के अनेक पक्षों को उजागर करने वाली सामग्री कोरियाई भाषा में उपलब्ध है। उनकी जानकारी ने कोरियाई नई पीढ़ी को भारत के सम्बन्ध में विस्तार और गहरे से जानने का इच्छुक बना दिया। और इस तरह वे हिंदी के अध्ययन की ओर झुके। कोरियाई अपनी भाषा को बहुत महत्त्व देते हैं। अतः भारत की भाषा हिंदी के प्रति, भारत को जानने की दृष्टि से, उनका झुकाव स्वाभाविक ही माना जाएगा। यह भ्रम भी काफ़ी हद तक टूटा है कि भारत को अंग्रेज़ी के माध्यम से पूरी तरह जाना जा सकता है और यह भी कि अंग्रेज़ी जानकर भारत में पूरी तरह काम चलाया जा सकता है। व्यवसायियों ने तो इस तथ्य को और अच्छे ढंग से समझ लिया है। वे अपने प्रबंधकों को भारत भेजने से पहले काम चलाऊ हिंदी सीखने की सलाह देते हैं।

भारतीय अर्थव्यवस्था में जो बदलाव आए हैं और जिस प्रकार वह विश्व के लिए खुलती गई है, उस कारण से भी कोरियाई नई पीढ़ी भारत और भारत की कोरिया में उपलब्ध भाषा हिंदी की ओर उत्सुक हुई है।

एक और दिलचस्प कारण की जानकारी चौंका सकती है। कोरिया में एक विशेष धर्म के लोग हैं। वे अपने धर्म को 'यो हो वा ज्युन इन' कहते हैं। वे इसका प्रचार कोरिया के बाहर भारत में भी करना चाहते हैं। अतः हिंदी सीखने वाले कुछ ऐसे कोरियाई विद्यार्थी भी हैं, जो अपने धर्म के सार्थक एवं व्यापक प्रचार के लिए हिंदी सीखते हैं। इसका प्रभाव यूँ अभी कम ही देखने को मिल रहा है।

हिंदी सीखने वाले विद्यार्थियों को तीन समूहों में बाँटा जा सकता है। एक वर्ग है जो कोरिया में औपचारिक रूप से हिंदी सीखता है, उपाधि प्राप्त करता है। दूसरा समूह ऐसा है, जो अपने आप हिंदी सीखता है और तीसरा वह है जो भारत जाकर हिंदी सीखता है।

जैसा पहले संकेत दिया जा चुका है, आज कोरिया के पुस्तकालयों में भारतीय साहित्यिक पुस्तकों के साथ–साथ अन्य विषयों की पुस्तकें भी उपलब्ध हैं। हिंदी के समाचार एवं अन्य कार्यक्रम दिखाने वाले टी.वी. चैनेल उपलब्ध होने से भी भारत के संबंध में जानकारी उपलब्ध होती रहती है और भारत के बारे में और अधिक जानने की स्वाभाविक रुचि कोरियाई लोगों में बढ़ती जाती है। लेकिन एक कोरियाई विद्यार्थी जिसका भारतीय नाम 'समीर' है, ने यह चिन्ता भी व्यक्त की कि हिंदी को भारत की राज एवं राष्ट्रभाषा जिस रूप में बना लिया जाना चाहिए था, उसमें भारतीय चूके हैं। उस ओर ध्यान दिया जाना चाहिए।

वस्तुतः कोई भी भाषा उसके देश के जीवन, उसकी संस्कृति से कटकर नहीं देखी जा सकती। और आज के संदर्भ में उसकी अर्थव्यवस्था से भी। किसी देश की भाषा को जानना असल में उस भाषा के देश को जानना है। इसे हम विपरीत ढंग से भी कह सकते हैं। आज कोरिया में हिंदी की ओर नई पीढ़ी का इस हद तक रूझान हुआ है, तो इसे भारत की ओर बढ़े रूझान के संदर्भ में ही समझा जा सकता था। पहले के भारतीय आज भी यही कहते मिल सकते हैं कि 'अरे भाई कोरिया में खाने की बड़ी मुसीबत है। लेकिन अब यह अतीत का कथन हो गया है। 2007 में अकेले सोल में 12–15 से अधिक भारतीय भोजनालय हो गए थे। दक्षिण भारत के लोगों ने तो चक्रा नाम से 8 भोजनालय खोल दिए हैं। और यहाँ कोरियाई बड़े चाव से भारतीय भोजन खाते हैं। पारम्परिक वस्तुओं के बाज़ार इन सा डोंग का 'लिटिल इंडिया' और भी लोकप्रिय हो गया है।

वहाँ के मशहूर बाज़ार इटेवान में जाइए और बांग्लादेशी द्वारा खोली गई दुकान का नज़ारा देखिए। कौन–सा मसाला है, कौन–सी दाल है या चाय है, जो वहाँ नहीं मिलती। यहाँ तक कि बनी–बनायी रोटियाँ और परांठे भी वहाँ उपलब्ध हैं और मैगी भी,

आटा भी।

इन भोजनालयों और दुकानों ने कितने ही हिंदी शब्द प्रचलित कर दिए हैं। समोसा, तंदूर, दाल आदि कितने ही शब्द आज नई पीढ़ी की जानकारी में हैं।

अंत में वरिष्ठ कवयित्री किम यंग शिक का नाम लिए बिना बात नहीं बनेगी। वे पहली कोरियाई हैं, जिन्हें उनके भारत प्रेम के कारण पद्मश्री की उपाधि प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त है। हाल ही में साहित्य अकादमी के फ़ेलो के रूप में सर्वोच्च सम्मान भी प्राप्त हुआ है। वे टैगोर सोसायटी ऑफ़ कोरिया की संस्थापक–अध्यक्ष हैं। भारत संबंधी अनेक कविताएँ लिखी हैं, जिनका अनुवाद इस लेख के लेखक ने ही किया है। कविताएँ पुस्तक रूप में प्रकाशित हैं। स्वयं उन्होंने दिविक रमेश की कविताओं का न केवल अनुवाद किया है, बल्कि अपने ही द्वारा प्रारम्भ शांति प्रकाशन से प्रकाशित भी किया है। पुस्तक का नाम है 'से दल उई ग्योल हन' अर्थात् 'चिड़िया का ब्याह'। किसी भी हिंदी कवि की कविताओं के कोरियाई अनुवाद की यह सर्वप्रथम पुस्तक है। किम छंग योंग के द्वारा हिमांशु जोशी की कहानियों की पुस्तक 'सु–राज' के अनुवाद की एक पुस्तक भी प्रकाशित की गई है। इसी प्रकार अयोध्या की राजकुमारी और कोरिया के राजा पर केंद्रित अंग्रेज़ी में लिखे गए कोरिया में रहे भारत के भूतपूर्व राजदूत श्री एन. पार्थासारथी के उपन्यास का अनुवाद भी किया है। सुखद समाचार यह है कि अब उन्होंने भारतीय वाद्य–यंत्रों आदि के प्रदर्शन के लिए गैलरी बनाई है। इस संबंध में उनसे चर्चा करते हुए लगभग निश्चय हुआ कि गैलरी का नाम ओम शांति गैलरी रखा जाए।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि जिस तरह कोरिया का भारत में, खासकर भारत के बाज़ार में धमाकेदार प्रवेश हुआ है, उसी प्रकार कोरिया में भारत की उपस्थिति बहुत दृढ़ता से देखी जा सकती है और इसी संदर्भ में कहा जा सकता है कि कोरिया में हिंदी की उपस्थिति भी उतनी ही दृढ़ता से अपना एहसास करा रही है। निश्चित रूप से, यदि हम भारतीय सरकार की ओर से भी हिंदी की केन्द्रीय भूमिका को और अच्छे से निभाने की ओर उचित ध्यान दिया गया, तो कोरिया में उसकी बढ़ती हुई प्रगति को कोई नहीं रोक सकेगा। बखूबी कहा जा सकता है आज कोरिया विश्व के उन गिने देशों में से एक है, जहाँ हिंदी का प्रभुत्व अग्रगामी है।

मैं, भारत और कोरिया को और अधिक करीब लाने के लिए चल रहे भारत स्थित कोरिया दूतावास की अहं भूमिका का भी संक्षिप्त ज़िक्र करना चाहूँगा। यूँ तो पिछले दिनों कोरिया की अनेक साहित्यिक सामग्री हिंदी में उपलब्ध हुई है और उसके पीछे कोरियाई दूतावास की प्रेरणा का भी महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है – (साहित्य अकादमी, नेशनल बुक ट्रस्ट, पीताम्बर पब्लिशिंग कम्पनी आदि ने महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित की हैं)। अपने ढंग की ये पुस्तकें किसी भी भारतीय भाषा अर्थात् हिंदी में पहली हैं। सौभाग्य से अनुवाद की इन पुस्तकों के सृजन का अवसर इस लेख के लेखक (दिविक रमेश) को ही मिला है। पुस्तकें हैं : कोरियाई कविता यात्रा, कोरियाई बाल कविताएँ, कोरियाई लोक कथाएँ, जादुई बांसुरी और अन्य कोरियाई कथाएँ और ओ इंडिया (किम यंग शिक की भारत संबंधी कविताएँ), 2015 में प्रकाशित 'खलनायक' (यी मुन यॉल के कोरियाई उपन्यास का हिंदी अनुवाद)। इसके अतिरिक्त इसी लेखक यानी दिविक रमेश के कितने ही कोरिया संबंधी प्रकाशित लेख (हिंदी और अंग्रेज़ी में) भी उपलब्ध हैं। कोरिया संबंधी दो अन्य उल्लेखनीय पुस्तकों में रामदरश मिश्र की 'भोर का सपना' और पद्मा सचदेव की सीजो कविताओं के अनुवादों की पुस्तक 'शिशिर रात्रि का अनुराग' कही जा सकती हैं। एक पुस्तक 'पहाड़ में फूल' नाम से राजकमल प्रकाशन ने भी प्रकाशित की है। लेकिन राजदूत महामहिम पेक योंग सुन (और सूचना एवं संस्कृति के पूर्व काउन्सलर श्री किम सॅग हो) ने भी इस दिशा में विशेष रुचि ली है। वे आदान–प्रदान के आधार पर साहित्यिक–सांस्कृतिक गतिविधियों को प्रभावी ढंग से बढ़ाने के हिमायती रहे हैं। एक बड़े साहित्यिक पुरस्कार की योजना पर भी उन्होंने काम किया है। स्पष्ट है कि दोनों देशों की भाषाओं के महत्त्व को और अधिक बढ़ाएगी। और हाँ, बावजूद विवादों के अन्य भारतीय भाषाओं के साथ–साथ हिंदी के रचनाकारों को साहित्य अकादमी के तत्त्वावधान में कोरिया की बहुत बड़ी कम्पनी सेमसोंग की केवल आर्थिक मदद के द्वारा स्थापित 'टैगोर पुरस्कार' भी भारत और हिंदी के प्रति एक सार्थक कदम है। उल्लेखनीय है कि निर्णायक मंडल साहित्य

अकादमी का ही रहेगा और पुरस्कृत रचनाकारों को कोरिया–दर्शन भी कराया जाएगा। अवश्य कोरिया स्थित 'टैगोर सोसाइटी आफ़ कोरिया' की संस्थापिका प्रथम पद्मश्री रचनाकार श्रीमती किम यांग शिक को भी जोड़ा जा सकता था। वैसे आश्चर्य मुझे भी हुआ कि समारोह की सूचना तक मुझे नहीं मिल पायी थी, जबकि स्वयं साहित्य अकादमी ने मेरे द्वारा अनूदित कोरियाई कविताओं की पुस्तक 'कोरियाई कविता यात्रा' 1999 में प्रकाशित की है और उसकी प्रस्तावना महामहिम कोरियाई राजदूत के द्वारा लिखी गई है तथा जिसे नामवर जी, गोपीचंद नारंग जी, विष्णु खरे जी, मंगलेश डबराल, हिमांशु जोशी जैसे विद्वान साहित्यकारों की मान्यता भी मिली है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि भारत स्थित कितनी ही कोरियाई कम्पनियों ने इस पुस्तक की प्रतियाँ खरीद कर निःशुल्क वितरित भी की थीं। इस दिशा में इन दिनों कुछ होता नज़र नहीं आ रहा।

न्यूयॉर्क में आयोजित विश्व हिंदी सम्मेलन (जुलाई, 2007) में संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव महामहिम बान की मून ने, जो कोरियाई हैं, अपने भाषण में हिंदी का उपयोग और हिंदी की महत्ता को रेखांकित करके दक्षिण कोरिया में हिंदी एवं भारत–प्रेम की ही स्थापना की है। उनके दामाद तो भारतीय हैं ही।

संदर्भ–सूची :

1. स्पैन, मार्च, अप्रैल, 2007, पृ. 12
2. जनसत्ता, दिल्ली, 29 अप्रैल, 2007, पृ. 7
3. हिंदी और विदेश (,दिविक रमेश)
4. कोरिया और भारतः संदर्भ संस्कृति और भाषा (भाषा, जुलाई–अगस्त, 1998, दिविक रमेश)
5. डॉ. ली. जंग हो से दिविक रमेश की भेंटवार्ता (गगनांचल, जन–मार्च, 1996)
6. समगुक यूसा, 1986, पृ. 158
7. मल्टीमीडिया हिंदी–1, प्रोफ़ेसर डॉ. ई उंग गू, 2007
8. हिंदी–कोरियाई शब्द कोश, डॉ. ली. जंग हो, 1995 तथा उस पर दिविक रमेश की समीक्षा
9. अनुवाद कोश विशेषांक, अंक 94–95; जनवरी–जून, 1998
10. ''हिंदी व्याकरण'' (हिंदी मुन बाप), डॉ. ली. जंग हो
11. कोरियाई–हिंदी शब्द कोश, प्रो.किम ऊ जो, 2008
12. बेसिक हिंदी, किम ऊ जो, हांगुक विश्वविद्यालय, सोल
13. मानक हिंदी उच्चारण शिक्षण, प्रोफ़ेसर स हे जंग
14. हिंदी–कोरियाई वार्तालाप, केन्द्रीय हिंदी संस्थान, भारत
15. हिंदी वार्तालाप, डॉ. प्रतिभा मुदलियार, हांगुक विश्वविद्यालय, 2008
16. से दल उई ग्योल हन अर्थात् 'चिड़िया का ब्याह', दिविक रमेश, अनुवादक
17. श्रीमती किम यांग शिक, शांति प्रकाशन, सोल, 2007
18. समगुक यूसा पृ. 162, 1986, इलयोन, योनसाइ यूनिवर्सिटी प्रॅस, सोल
19. कोरियाई कविता–यात्रा, दिविक रमेश, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, भारत, 1999
20. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी और कोरियाई कहानी : तुलनातमक आलोचना, ली. जंग हो
21. अभिरुचि प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 148
22. खलनायक (कोरियाई उपन्यासकार यी मुन यॉल के उपन्यास उरिदिल उई इलगराजिन योंग
23. उन का हिंदी अनुवाद) राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015

divikramesh34@gmail.com

हिंदी हमारी मौसी है और मौसी का प्रेम निश्चय ही माता से कम नहीं होता।

— मनोहर कृष्ण गोलवलकर

यूरोपीय महाद्वीप में हिंदी

– डॉ. श्याम नारायण
उत्तराखंड, भारत

हिंदी दुनिया की पहली बड़ी भाषा है। विश्व के 130 देशों में भारतीय मूल के लगभग डेढ़ करोड़ लोग रहते हैं। वे किसी–न–किसी रूप में हिंदी का प्रयोग करते हैं। विश्व के 150 देशों में हिंदी की पढ़ाई किसी–न–किसी रूप में होती है। विश्व के अनेक देशों में हिंदी की पत्र–पत्रिकाएँ निकल रही हैं। इसके अलावा बी.बी.सी., वॉइस ऑफ़ अमेरिका, रेडियो जर्मनी आदि कुछ महत्त्वपूर्ण विदेशी रेडियो स्टेशन हैं, जो हिंदी के लिए समर्पित भाव से प्रसारण करते हैं। यही नहीं हिंदी का अपना एक वैश्विक साहित्य है। यहाँ हम संक्षेप में यूरोपीय महाद्वीप में लिखे गए साहित्य की चर्चा करेंगे।

स्कैंडिनेवियाई देशों में हिंदी

स्कैंडिनेवियाई देशों में स्वीडन, डेनमार्क, फ़िनलैंड और नॉर्वे नामक देश आते हैं। इन देशों में आप्रवासी भारतीय पर्याप्त रूप में रहते हैं, लेकिन इन देशों में हिंदी साहित्य का विकास पर्याप्त रूप में नहीं हो पाया है। डेनमार्क के हिंदी विद्वान थीसेन के शब्दों में ''हमारे देश में यह कहा जाता है कि जब हिंदुस्तान में सारा काम अंग्रेज़ी के माध्यम से होता है, तब हिंदी सीखने की क्या आवश्यकता है? विदित हो कि फ़िनलैंड के प्रो. थीसेन और वर्तिल तिक्कनैन की गणना हिंदी के प्रमुख विद्वानों में की जाती है। तिक्कनैन ने 'गोदान' का फ़िनिश भाषा में अनुवाद किया तथा 'फ़िनिश–हिंदी शब्दकोश' भी तैयार करवाया।

इनके अलावा डेनमार्क में कुछ आप्रवासी भारतीय भी रचनारत हैं। इनमें अर्चना पैन्युली का नाम महत्त्वपूर्ण है। ये पेशे से शिक्षिका हैं और हिंदी में कहानी, कविता और उपन्यास लिखती हैं। आपकी हिंदी और अंग्रेज़ी में लगभग 50 कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। 'परिवर्तन' और 'ह्वेयर डू आई बिलांग' नामक दो उपन्यास भी इन्होंने लिखा है। 'परिवर्तन' में उत्तरांचल की एक स्त्री के संघर्ष का चित्रण है। 'ह्वेयर डू आई बिलांग' में एक आप्रवासी लड़की अपनी अस्मिता की तलाश करती हुई दिखाई देती है।

नॉर्वे के साहित्यकारों का भी हिंदी के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है। इनमें प्रमुख हैं – पूर्णिमा चावला, हरचरण चावला, अमित जोशी, मीना ग्रोवर, शिखा चन्द्र, रश्मि क्षत्री, सुरेश चन्द्र शुक्ल, इन्द्रजीत पाल, उषा जैन आदि। सुरेश चन्द्र का कहानी–संग्रह 'अर्द्ध रात्रि का सूर्य' नॉर्वे के उन्मुक्त समाज और उपभोक्ता संस्कृति को नंगा करता है। इसके अलावा रुपर्ट स्नेल, जॉन चेंबरलेन, जे.टी. हामसन, ओदोलन स्मेकल, जुलियस फ़्रेडरिक, जॉनसन आदि ने हिंदी में रचनाएँ की हैं। आप्रवासी भारतीयों ने बहुत कम समय में ही अपनी पहचान बना ली है। उनके प्रयासों से ही यहाँ 'परिचय', 'पहचान', 'त्रिवेणी', 'अल्फ़ा', 'ओमेगा', 'आप्रवासी टाइम्स', 'सनातन मंच' आदि पत्रिकाएँ निकाली गईं। यह अलग बात है कि ये अधिक दिनों तक नहीं चल पाईं। श्री सुरेश चन्द्र शुक्ल कई वर्षों से 'स्पाइल' नामक पत्रिका निकाल रहे हैं। 'शांति दूत' का प्रकाशन 1990 से हो रहा है। यह एक अंतरराष्ट्रीय पत्रिका है। संख्या की दृष्टि से कम होने के बावजूद इन देशों के आप्रवासी भारतीयों का हिंदी प्रेम आदरणीय है।

रूस में हिंदी

अन्य देशों की तुलना में रूस में हिंदी की स्थिति अच्छी नहीं है। यहाँ अधिकतर अनुवाद और शोध–क्षेत्र में काम हुआ है। अनुसंधान के क्षेत्र में अ. वीगोर्नित्सकी ने अच्छा कार्य किया है। 1926 में इन्होंने 'हिन्दुस्तानी का संक्षिप्त व्याकरण' तैयार किया। 1935 में इनकी 'हिन्दुस्तानी' (उर्दू और हिंदी) पुस्तक प्रकाशित हुई। 1952 से लेकर 1957 के मध्य कई विद्वानों ने अपने–अपने शोध ग्रन्थ प्रस्तुत किए। रूसी विद्वान जाल्मन दीमशित्स का 'हिंदी व्याकरण' एक मानक ग्रन्थ है। इसी प्रकार डॉ. ओ.ग. उलत्सिफ़ेरोव का 'हिंदी में क्रिया और हिंदी वाक्य–विन्यास' पर किया गया कार्य समादर से देखा जाता है। प्रो. येवोनी चेलिशेव

द्वारा 'हिंदी और भारतीय साहित्य' पर किया गया कार्य उच्च स्तरीय है। इससे पहले उनकी पुस्तक 'सुमित्रानंदन पन्त तथा आधुनिक हिंदी कविता' (1970) आई थी। उन्होंने एक और पुस्तक 'भारतीय साहित्य की समस्याएँ' भी लिखी। रूसी हिंदी आलोचक अलेक्सांद्र की पुस्तक 'समकालीन हिंदी साहित्य' भी उल्लेखनीय है।

आर. वारान्निकोव ने 'रामचरितमानस' तथा 'सूरसागर' का रूसी भाषा में अनुवाद किया। डॉ. पुश्किन, टॉलस्टॉय, गोर्की, दोस्तोवस्की, चेखव जैसे महान् रचनाकारों की कृतियों का अनुवाद हिंदी में किया। अनिल जनविजय ने इवान वुनिन, ओसिय मेदेलाश्ताम, येवोनी येव्तुशेको जैसे आधुनिक लेखकों की रचनाओं का अनुवाद हिंदी में किया। रूस के प्रकाशन गृह से 'सोवियत संघ' (संपादक – श्री निकोलाई) एवं 'सोवियत नारी' (संपादक – श्री इ. पा. गोलुवेन) नामक दो प्रचारात्मक पत्रिकाएँ निकल रही हैं। ये मासिक पत्र हैं तथा हिंदी के अलावा दुनिया की अन्य भाषाओं में भी प्रकाशित हो रहे हैं। रूस के विभिन्न व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत भारतीय छात्रों ने 1995 में 'भारत भूमि' नामक हिंदी पत्र निकाला। इसी वर्ष 'भारत दर्पण' समाचार–पत्र भी आरम्भ हुआ। रूस में अन्य विधाओं का अभाव–सा है।

पोलैंड में हिंदी

पोलैंड में वारसा, पोज़नैन, क्रेकोव के विश्वविद्यालयों में हिंदी पढ़ाई जाती है। वारसा विश्वविद्यालय के हिंदी विभागाध्यक्ष प्रो. दानुता स्ताशिक की पुस्तक 'हिंदी भाषा की पाठ्यपुस्तक' हिंदी सीखने वाले छात्रों के काम आती है। पोलैंड में हिंदी भाषा तथा साहित्य के लिए काम करने वाले व्यक्तियों में प्रो. शायेर, डॉ. रुत्कोत्सका, प्रो. एम. के. ब्रिस्की, श्री प्रो. युत्युष पर्नोत्सकी, अजेय बुगोत्स्की, श्रीमती आल्तिस्या कार्लितोत्सका, डॉ. आग्नेयेश्का कोवातस्कसोनी, प्रो. दानुता स्ताशिक, प्रो. तादेउश पोबोजन्याक, श्रीमती अन्ना श्लुत्स्का, श्री दार्युष आदि नाम उल्लेखनीय हैं। प्रो. ब्रिस्की तो भारत को अपना गुरु भूमि तक मानते हैं। उनके अनुसार – *''मेरी मातृभूमि तो पोलैंड है, पर गुरु भूमि भारत है। भारत आने पर मुझे हमेशा यही लगता है कि मैं अपने घर में ही हूँ।''*

नीदरलैंड में हिंदी

नीदरलैंड में श्री चंदर सुरजन, मोहनकान्त गौतम, श्री महातम आदि यहाँ के कुछ प्रमुख साहित्यकार हैं। श्री गुरुदत्त कल्ला गीतकार और नाटककार हैं। उनका नाटक 'प्रवासी' तो सूरीनाम और भारत के बीच सेतु का काम करता है। हिंडोरी ने 1930 में पहला नाटक 'वीर हकीकत राय' लिखा। 'लल्लारुख' यहाँ की प्रसिद्ध पत्रिका है। गांधी की प्रेरणा से यहाँ 'मन्नान' नामक संस्था की स्थापना प्रवासियों के द्वारा की गई है।

इटली में हिंदी

इटली में भारतीय आप्रवासियों की संख्या कम है, इसलिए यहाँ पर हिंदी की स्थिति भी दयनीय है। एन.जी. तुरबियानी के अनुसार – *''हिंदी के व्याकरण अंग्रेज़ी में तो मिलते हैं, परन्तु विश्व की अन्य भाषाओं में नहीं। इटेलियन में भी हिंदी का व्याकरण नहीं मिलता।''* इस कारण वहाँ हिंदी सीखने में परेशानी होती है। इटली के प्रसिद्ध हिंदी विद्वानों में पेनुचा कराकी, मरियोली आफ़रीदी, सरमाती चेचिलिया, जॉन फ़िलप्पी, प्रो. जोरजो मिलनेती, प्रो. दोलचीनी, प्रो. एन.जी. तुरबियानी आदि प्रमुख हैं।

हंगरी में हिंदी

हंगरी के बुडापेस्ट विश्वविद्यालय में हिंदी पढ़ाई जाती है। यहाँ हिंदी के विद्वानों में कैलेचैनी, इमरे बंघा, सरमाती, इवा इरादी, डॉ. मारिया नेज्यैसी आदि के नाम प्रमुख हैं। डॉ. मारिया नेज्यैसी को हिंदी के प्रसार पर गर्व होता है। उनके अनुसार – *''हिंदी तो समुद्र है, इसकी शब्दावली असीमित है। यह एक सम्पूर्ण भाषा है।''* यहाँ हिंदी लेखन की परंपरा नहीं है, लेकिन हाल ही में एलते विश्वविद्यालय में नियुक्त हुए अतिथि प्रोफ़ेसर डॉ. प्रमोद कुमार शर्मा ने 'भारोपीय अध्ययन विभाग' के छात्रों के लिए एक भित्ति पत्रिका 'प्रयास' निकालनी शुरू की है।

फ़्रांस में हिंदी

आधुनिक भाषाओं के अध्ययन की प्रगति के लिए 1795 में पेरिस में पूर्वी भाषाओं का संस्थान खुला। कालांतर में यहीं के प्रो. गार्सा–द–तासी ने हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास लिखा।

तासी के बाद इस पद पर ज्युल ब्लाख नियुक्त हुए। उन्होंने इस पद पर रहते हुए एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'ल ऑ दो एरिया' की रचना की, जिसका हिंदी अनुवाद 'भारतीय आर्य भाषा' नाम से किया। हिंदी के लिए काम करने वालों में श्रीमती डॉ. वोदबील का नाम उल्लेखनीय है। अतः हम कह सकते हैं कि हिंदी की स्थिति यहाँ अच्छी नहीं है।

बुल्गारिया में हिंदी

1960 में सोफ़िया विश्वविद्यालय में पूर्वी भाषा विभाग की स्थापना से यहाँ हिंदी की विधिवत पढ़ाई शुरू हुई। यही पर नियुक्त होकर विमलेश कांति वर्मा, डॉ. महेंद्र, डॉ. रामकृष्ण कौशिक, डॉ. कर्ण सिंह आदि ने अध्यापन का कार्य किया। उन लोगों ने बल्गारियन भाषा का गहन अध्ययन किया तथा 'बल्गारियन हिंदी कोश' की रचना में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन लोगों ने पाठ्यपुस्तकों की रचना भी की। इसके अतिरिक्त यहाँ से सुश्री योर्दाका बोयानोवा, श्री गोरनोवा, श्रीमती बोर्याना कमोवा, सरमाती वान्या गंचेवा, श्रीमती मैरिनोवा आदि ने भी हिंदी के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

बेल्जियम में हिंदी

वर्तमान में बेल्जियम में लूवें, घेंट तथा ल्येज विश्वविद्यालयों में हिंदी की पढ़ाई हो रही है। 1958 में प्रो. रोशे डच ने अंग्रेज़ी में 'मैनुअल ऑफ़ मॉडर्न हिंदी' नामक पुस्तक लिखी तथा 1968 में 'भारत की भाषा समस्या' पर उनका एक लेख प्रकाशित हुआ। वर्तमान में यहाँ हिंदी के लिए काम करने वालों में प्रो. ल्यू, प्रो. वान द बोस्से तथा बिनाण्ड कैलेवियर्ट का नाम प्रमुख है।

पूर्वी जर्मनी में हिंदी

यहाँ के हम्बोल्ट विश्वविद्यालय में हिंदी की पढ़ाई लम्बे समय से हो रही है। 1975 में नागपुर में प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन में हिंदी के विषय में गात्सलाफ़ ने कहा कि *''ब्रिटिश गुलामी के दौरान अंग्रेज़ी द्वारा भारतीय भाषाओं का दबाया जाना स्वाभाविक था, परन्तु स्वाधीन भारत में हिंदी का वर्चस्व कदापि अशोभनीय नहीं है।''* गात्स्लाफ़ हिंदी की विद्वान हैं और उन्होंने 'ग्रामटिसर विफ़दिनेस हिंदी' लिखा तथा 'जर्मन–हिंदी कोश' का भी संपादन किया। 1971 में सरमाती एरिका क्लेम्स का 'हिंदी–जर्मन' कोश छपा। श्रीमती डगमर मर्कोली अंसारी और डॉ. म. अहमद अंसारी ने 1981 में 'जर्मन–हिंदी बातचीत' प्रकाशित की। सरमाती अंसारी ने 'बीसवीं सदी के हिंदी गद्य साहित्य' का एक संकलन भी प्रकाशित करवाया। श्रीमती एरोना तथा सेलोदा बियर ने हिंदी की कुछ कृतियों का जर्मन में अनुवाद भी किया।

पश्चिमी जर्मनी में हिंदी

प. जर्मनी के डॉ. लूथर ने प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन में कहा था – *''मैं अपने देश में हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं के स्थान की बात तब तक ठीक से नहीं कह सकता, जब तक कि भारत में उनके स्थान की बात न करूँ। मुझ सरीखे लोगों के लिए अपनी युवा पीढ़ी के भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न करना तब तक मुश्किल हो, जब तक भारतीय ही इस दिशा में कोई सुनिश्चित निर्णय न लें।''* इससे प. जर्मनी के लोगों का हिंदी प्रेम और हिंदी वालों का हिंदी की उपेक्षा की बात को सहज ही समझा जा सकता है। प. जर्मनी के कई विश्वविद्यालयों में हिंदी की पढ़ाई तो होती है, पर स्वतन्त्र भाषा के रूप में नहीं। यहाँ हिंदी के विकास के लिए व्याकरण की पुस्तकें तैयार हुई हैं तथा कुछ भारतीय रचनाओं का अनुवाद भी हुआ है।

आर्येंदु शर्मा और फ़ेरमियर ने 'हिंदी शिक्षण और देवनागरी परिचय' नामक पुस्तक लिखी। डॉ. हेलमुट ने 'हिंदी क्रिया कोश' की रचना की। हैकरपाल ने 'हिंदी व्याकरण पर कुछ विचार', गैन्फ़र्क पीटर ने 'हिंदी वाक्य रचना पर प्रयोग', मार्गी हेलसिंगे ने 'आधुनिक साहित्यिक हिंदी में 'हुआ' के गुण तथा प्रयोग', शुमाशेर सल्फ़ ने 'हिंदी में निरपेक्ष रचना', श्रीमती एरिका क्लेमेक्स ने 'हिंदी–जर्मन कोश' आदि की रचना की।

रोमानिया में हिंदी

प्राचीन काल से ही रोमानियन के बहुत सारे विद्वान भारतीय संस्कृति से प्रभावित थे। इनमें रोमानियन कवि एमिनेस्कु (1850–1889) और कवि लुच्यान प्रमुख हैं। एमिनेस्कु की रचनाओं में भारतीय चिंतन और रहस्य साफ़ झलकता है –

"अब अव्यक्त था तब असत था,
यद्यपि प्रत्येक सत इसमें निहित था,
जब तम से तम लिपटा हुआ था,
क्या वह गह्वर था गुफ़ा थी,
जल का अनंत विस्तार था"

रोमानिया में आधुनिक हिंदी की पढ़ाई 1956 में बुखारेस्ट के 'रोमानियन प्राच्य विद्या समाज' की स्थापना से प्रारंभ हुई। बुखारेस्ट विश्वविद्यालय में भी हिंदी की पढ़ाई होती है। डॉ. इंदु प्रकाश पाण्डेय ने रोमानिया में पहली 'हिंदी पाठ्यपुस्तक' 1967 में लिखी। डॉ. विद्या सागर दयाल ने भी 'हिंदी भाषा कोर्स' तथा सह लेखक इयों के सहयोग से 'हिंदी–रोमानियन शब्दकोश' तथा 'रोमानियन–हिंदी शब्दकोश' तैयार किया। डॉ. सूरजभान ने नवीन भाषा वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर दो खंडों में हिंदी भाषा की पाठ्यपुस्तक लिखी।

चेकोस्लोवाकिया में हिंदी

चेकोस्लोवाकिया के प्रमुख हिंदी विद्वान वित्सेत्स लेसनी ने हरिऔध की पुस्तक 'ठेठ हिंदी का ठाठ' का चेक भाषा में 'देवबाला' के नाम से अनुवाद किया। उन्होंने चार्ल्स विश्वविद्यालय से 'नोवी ओरियंत' (नया पूरब) नाम से हिंदी की एक पत्रिका निकाली। ओताकर ने हिंदी पर पहली चेक पुस्तक लिखी। ओदोलन ने प्राग विश्वविद्यालय से हिंदी की पाँच पुस्तकें 'हिंदी वार्तालाप', 'हिंदी पाठमाला', 'हिंदी क्रियाएँ', 'हिंदी क्रिया पदबंध' तथा 'हिंदी शब्दावली' तैयार की। डॉ. डागमर अंसारी ने कई हिंदी कृतियों का चेक भाषा में अनुवाद किया, जो 'न्यू ओरियंटल' मैगज़ीन में समय–समय पर प्रकाशित हो रहे हैं। चेक भाषा का एक प्रमुख उपन्यास 'बेले नेके चेनी डोय' का इन्होंने हिंदी अनुवाद 'अंतहीन अंत नाम' से किया। उन्होंने चेक की कुछ मनोरंजक लोक–कथाओं का हिंदी अनुवाद 'सात काले कौवे' नाम से किया। उन्होंने हिंदी की प्रशंसा में 1975 में नागपुर से कहा था – *"हिंदी में पीढ़ियों का द्वंद्व नहीं दिखता, बल्कि युग का यथार्थ बोध है, जो कि उसकी गतिशीलता का द्योतक है।"*

शारका लितविनोवा हिंदी चेक भाषा की विदुषी हैं, जिन्होंने हिंदी की कई कृतियों का अनुवाद किया। 1975 में समेकल ने हिंदी के 25 आधुनिक कवियों का एक प्रतिनिधि संग्रह निकाला।

ब्रिटेन में हिंदी

पद्य साहित्य – ब्रिटेन में हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि उसी समय तैयार हो गई थी जब ग्रियर्सन, पिन्कॉट, जॉन शेक्सपियर, जॉन गिलक्रिस्ट, बीम्स जैसे विद्वानों ने अंग्रेज़ों के लिए हिंदी के व्याकरण तैयार किए। जॉन चेम्बरलेन, जॉन पर्सन, डॉ. रुपर्ट स्नेल आदि जैसे कुछ विद्वानों ने हिंदी में कविता भी लिखी। प्रस्तुत है रुपर्ट की एक कविता –

"दोहे अनगिनत रचि गए, तव गुण गन के गान,
तुम मुझको जो दो गिनो, गणित को नाहीं ज्ञान,
ऋषि मुनि तपसी यों करें, शून्य को मन में ध्यान
शून्य ही यह जगह है, बिनु सुनि बंशी तान।"

फ़िलहाल ब्रिटेन में कविता लिखने वालों की तीन पीढ़ियाँ हैं। प्रथम पीढ़ी में सत्येन श्रीवास्तव, गौतम सचदेव, प्राण शर्मा, सोहन राही, डॉ. कृष्ण कुमार आदि हैं। मध्य पीढ़ी में उषा राजे सक्सेना, उषा वर्मा, शैल अग्रवाल, दिव्या माथुर जैसी कवयित्रियाँ शामिल हैं।

स्व. गौतम सचदेव बी.बी.सी. के पूर्व प्रसारक थे। उनके तीन काव्य–संग्रह हैं – 'अधर का पुल', 'एक और आत्म–समर्पण', 'गीतों भरे खिलौने'। 'प्रेमचंद कहानी शिल्प', 'गबन समीक्षा' आदि उनकी आलोचनात्मक पुस्तकें हैं। सचदेव जी मानवीय संवेदना के कवि थे। उनकी चिंता थी कि संस्कार और रिश्ते की मर्यादा ख़त्म हो जाए, तो संसार को बचाना मुश्किल होगा। प्रस्तुत है 'पनीला दैत्य' कविता की एक झलक –

"बलात्कार की शिकार इड़ा,
गर्भवती हो चुकी है
उसके तन पर बने
दांतों और नखों के घाव भरने लगे हैं,
नए पौधे और कलियाँ आने लगी हैं,
आकाश की नीलिमा पीकर उन्मुक्त पनीले दैत्य ने,
जलसमाधि ले ली है फ़िलहाल।"

ब्रिटेन की कविता मॉरीशस, फ़िजी आदि प्रवासी देशों की

कविता से भिन्न है। भाषा और संवेदना की दृष्टि से भी और विषय–वस्तु की दृष्टि से भी। यहाँ अभाव और पीड़ा नहीं, बल्कि एकाकीपन और महत्वाकांक्षा से उपजी यांत्रिकता की पीड़ा है। कविता 'चुप्पी' से एक उदाहरण–

''अन्दर गहरे तक,
एकदम चुप्पी है,
परम नीरवता/ गहरी/ अनंत
अनुभूति संपन्न/ अथाह / अपरिचित ।''

श्री तेजेंद्र शर्मा ब्रिटेन के एक प्रतिभा संपन्न साहित्यकार हैं। उन्होंने अन्य विधाओं के साथ–साथ कविताएँ भी लिखी हैं। शर्मा जी 'थेम्स का पानी' कविता में पूर्व और पश्चिम की तुलना करते हुए लिखते हैं –

''थेम्स कभी खाड़ी है, तो कभी सागर है,
उसके प्रति लोगों के मन में, न श्रद्धा है, न आदर है,
बाज़ार संस्कृति में नदियाँ, नदियाँ ही रह जाती हैं,
बनती हैं व्यापार का माध्यम, माँ नहीं बन पाती।''

उषा राजे सक्सेना ब्रिटेन की बड़ी साहित्यकार हैं। आपका जन्म उत्तर प्रदेश के गोरखपुर ज़िले में हुआ। आपने हिंदी की विविध विधाओं में रचनाएँ की हैं। आपकी कुछ रचनाएँ जापान के ओसाका विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में शामिल की गई हैं। आपकी कहानियाँ कई भाषाओं में अनूदित भी हुई हैं। आपके कविता–संग्रह हैं – 'विश्वास की रजत सीपियाँ' (1976), 'इंद्रधनुष की तलाश में' (1997)। आपकी कविताओं में संसार भर की पीड़ा दिखाई देती है। 'पृथ्वी सपाट होती जा रही है' कविता में भीड़ पर चिंता व्यक्त करती हुई उषा राजे कहती हैं –

''लगातार बढ़ता हुआ आदमियों का हुजूम,
सूत की लक्षियों–सी दिनों दिन,
सिकुड़ती सड़कें,
पैरों में पिपटती जा रही है।''

ब्रिटेन में अन्य कई कवि भी साहित्य सृजन में लगे हुए हैं।

गज़ल साहित्य

ब्रिटेन में एक अच्छी गज़ल लेखन परंपरा ने जन्म लिया है। यहाँ के गज़लकारों में प्राण शर्मा, गौतम सचदेव, सोहन राठी, उषा राजे सक्सेना आदि प्रमुख हैं। प्राण शर्मा ने 'सुराही' नामक गज़ल संग्रह निकाला है। 'बूँद–बूँद आकाश' गौतम सचदेव की छंदोबद्ध कविता–संग्रह है, जिसमें गज़ल भी है।

गद्य साहित्य

उषा राजे सक्सेना के अनुसार – *''इंग्लैंड में बसे हिंदी लेखकों की रचना में जहाँ एक ओर नॉस्टेलजिया है, भारतीय मानकों से परिचालित प्रवृत्तियाँ हैं, वही नए समाज की बुनावट, बदलते परिवेश और बदलती मान्यताओं के आकलन और पड़ताल के साथ धन से आई थकान, ऐश्वर्य और विकृतियों से आई घबराहट भी है।''*

बदलते परिवेश में परिस्थितियाँ किस कदर करवट लेती हैं, यह देखने वाली बात है। औपनिवेशिक काल में गोरे लोग काले लोगों का शोषण किया करते थे, लेकिन ब्रिटेन आदि देशों में अब गोरों की जगह काले आप्रवासी ही कई मामलों में गोरों का शोषण करते हुए दिखाई देते हैं। उषा राजे का 'वह रात और अन्य कहानियाँ', के.सी. मोहन की 'कथा परदेश' तथा कादंबरी मेहरा का 'कुछ जग की' जैसे कुछ कहानी–संग्रहों में इस शोषण को काफ़ी सच्चाई के साथ दर्शाया गया है।

तेजेंद्र शर्मा प्रमुख कथाकार हैं। आपके कहानी–संग्रह हैं – 'ढिबरी टाइट', 'काला सागर', 'देह की कीमत', 'यह क्या हो गया'। तेजेंद्र शर्मा की कहानियों में जहाँ एक ओर अर्थ प्रधान देशों में आत्मनिर्वासित लोग दिखाई देते हैं, तो दूसरी ओर रिश्तों में आई खटास के कारण पैदा हुई पीड़ा से जूझते हुए लोग भी।

काले आप्रवासी के दोहरे चरित्र पर भी कहानियाँ लिखी गई हैं। इस तरह के चरित्र को उजागर करने वाली प्रमुख कहानियाँ हैं – 'बेघर' – अचला शर्मा; 'पुराना घर, नए वासी' – फिरोज़ मुखर्जी; 'फिर कभी सही' – दिव्या माथुर; 'घर का ठूंठ' – शैलजा अग्रवाल आदि।

'प्रवास में पहली कहानी' हिंदी–उर्दू महिला कथाकारों द्वारा लिखी गई पहली कहानियों का संग्रह है। डॉ. वंदना मुकेश के शब्दों में – *''विश्व के हिंदी साहित्य में यह संग्रह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। पहली कहानी पहली संतान की तरह प्रिय होती*

है।'' संग्रह की संपादिका उषा वर्मा के शब्दों में – *''यदि मैं तुम्हारी पीढ़ी में इन किताबों के माध्यम से जीवित रहूँ, तो यही मेरी मुक्ति है।''*

अन्य विधाएँ

ब्रिटेन में हिंदी साहित्य की अन्य विधाओं पर काम कम हुआ है। कुछ साहित्यकार जैसे तेजेंद्र शर्मा, उषा राजे सक्सेना अन्य विधाओं पर भी लेखनी चला रहे हैं। 'ब्रिटेन में हिंदी' उषा राजे सक्सेना का निबंध–संग्रह है।

पत्र–पत्रिकाएँ

ब्रिटेन में सर्वप्रथम कालाकांकर नरेश के संपादन में 'हिन्दोस्तान' (1883) का प्रकाशन हुआ। इसके बाद आर्य समाज का 'वैदिक पब्लिकेशन' निकला। लंदन से जे. एस. कौशल के संपादन में 'अमरदीप' का प्रकाशन हुआ। कालांतर में जब 'हिंदी प्रचार परिषद्' की स्थापना हुई तब उसके मुख्य पत्र के रूप में 1964 में हिंदी त्रैमासिक 'प्रवासिनी' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। इसके संपादक हैं धर्मेन्द्र गौतम। इसके कई विशेषांक भी निकले, जिनमें 'गोपालकृष्ण' विशेषांक काफ़ी चर्चित हुआ।

इस तरह हम देखते हैं कि ब्रिटेन में हिंदी की समृद्ध परंपरा मिलती है। ब्रिटेन के साहित्य पर प्रतिक्रिया देते हुए श्री विद्या निवास मिश्र जी कहते हैं – *''जो लोग अपनी धरती पर नहीं लौट पाते, वे जहाँ रहते हैं, वहाँ अपनी धरती का टुकड़ा अपने लिए रच लेते हैं। आदमी सब चीज़ों के अनुकूल अपने को बना लेता है, लेकिन उसका कुछ जातीय स्वाद होता है। आदमी भले अपने को विदेशी चाल–ढाल में ढालने की कोशिश करे, ढाल भी ले पर वह कहीं–न–कहीं स्वदेश के लिए तड़पता ही रहता है। यही तड़पन कभी उसे देश वापस लाती है, तो कभी मित्रों के बीच संवाद कराती है, तो कभी लेखन और अन्य सांस्कृतिक कार्यों में उभरती है।''*

सन्दर्भ :

1. जगदीश प्रसाद बरनवाल 'कुंद' – विदेशी विद्वानों का हिंदी प्रेम, पृष्ठ 259
2. वही – पृष्ठ 270
3. वही – पृष्ठ 221
4. वही – पृष्ठ 357
5. वही – पृष्ठ 245
6. वही – पृष्ठ 246
7. डॉ. सूरजभान सिंह – साहित्य अमृत, जून – 2013, पृष्ठ 51
8. जगदीश प्रसाद बरनवाल 'कुंद' – विदेशी विद्वानों का हिंदी प्रेम, पृष्ठ 240
9. वही – पृष्ठ 259
10. गौतम सचदेव, www.srijangatha.com (नवम्बर – 2006), पृष्ठ 3
11. वही – पृष्ठ 1
12. तेजेंद्र शर्मा, www.srijangatha.com (नवम्बर – 2006), पृष्ठ 12
13. उषा राजे, www.srijangatha.com (नवम्बर – 2006), पृष्ठ 4
14. डॉ. हीरालाल बाछोतिया, गगनांचल (जुलाई–दिसंबर – 2007), पृष्ठ 41
15. नुपूर आहूजा, www.hindyugm.com (हिंदी खबरें – 18 अगस्त – 2009)
16. नुपूर आहूजा, www.hindyugm.com (हिंदी खबरें – 18 अगस्त – 2009)
17. www.abhivyakti.com (3/17/2009), पृष्ठ 4

shyam.kundan@gmail.com

हिंदी की प्रथम वैश्विक प्रचारक संस्था : काशी नागरी प्रचारिणी सभा

– डॉ. राकेश कुमार दूबे
वाराणसी, भारत

हिंदी भाषा के वैश्विक प्रचारकों में जिन व्यक्तियों एवं संस्थाओं का नाम प्रमुखता से लिया जाता है, उनमें काशी नागरी प्रचारिणी सभा का अति विशिष्ट स्थान रहा है। नागरी (हिंदी भाषा और नागरी लिपि) के प्रचारार्थ स्थापित हुई इस संस्था ने भारत में हिंदी का जो आंदोलन आरंभ किया, उसे अत्यंत व्यापक फलक प्रदान किया और हिंदी के लिए तब तक संघर्ष किया जब तक कि उसे आंशिक रूप में ही सही, लोकभाषा से राजभाषा के पद तक नहीं पहुँचा दिया, परंतु इसके समानांतर ही सभा ने एक और आंदोलन चलाया और वह था भारत से बाहर रह रहे भारतवंशियों और विदेशियों में भी हिंदी भाषा का प्रचार करना और सभा द्वारा चलाया गया यह आंदोलन इतना महत्त्वपूर्ण था कि सभा के अलावा यदि अन्य व्यक्तियों ने भी विदेशों में हिंदी प्रचार का यदि कोई कार्य किया, तो उसका भी प्रारूप और प्रेरणा स्रोत यहीं संस्था बनी।

नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना 16 जुलाई, 1893 ई. को एक वाद–विवाद संस्था के रूप में काशी में हुई थी, जिसके मूल में नागरी (हिंदी भाषा और नागरी लिपि) का प्रचार प्रमुख था। इसके स्थापनकर्तात्रय पं. रामनारायण मिश्र, बाबू शिवकुमार सिंह और बाबू श्यामसुंदरदास थे।[1] सभा की स्थापना के समय ही सभा के उद्देश्य, नियम और सभासदों के कर्त्तव्य निर्धारित किये गये, उनमें ''सभासदों का मुख्य कर्त्तव्य है कि नागरी भाषा से अपनी उन्नति करें, नागरी जानने वाले इष्ट मित्रों से नागरी अक्षर और भाषा में पत्र–व्यवहार करें, लोगों की रुचि इस ओर आकर्षित करें; इसके सभासद अन्य स्थानीय नागरी प्रचारिणी सभाओं से पत्र–व्यवहार द्वारा एकता और मित्रता करें, यथामध्य दूसरे स्थानों में ऐसी सभा स्थापन करने का प्रयत्न करें।[2]

हिंदी का सर्वत्र प्रचार करना सभा के उद्देश्यों में शामिल था। इसलिए सभा की स्थापना के साथ ही इस बात का उद्योग होने लगा कि हिंदी के विद्वानों को इस संस्था से जोड़ा जाए। भारत जीवन पत्र के संपादक बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री प्रथम महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे, जो सभा से जुड़े। 17 फरवरी, 1894 ई. को बाबू राधाकृष्णदास ने सभा का सभापति होना स्वीकार कर लिया[3], उसके बाद दिनोंदिन सभा में हिंदी के अच्छे–अच्छे विद्वान स्थानिक और विदेशी, सभा के सभासद होने लगे।

नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा विदेशों में किये गये हिंदी प्रचार कार्य का अध्ययन करने से पूर्व उसके प्रचार कार्य के स्वरुप अर्थात् अपनाये गये माध्यमों का अध्ययन महत्त्वपूर्ण होगा। सभा के दस्तावेज़ों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि अपनी स्थापना के बाद ही सभा ने सर्वप्रथम हिंदी के विदेशी विद्वानों एवं हितैषियों को सभा से जोड़ना आरंभ किया, जिन्होंने सभा की हर प्रकार से सहायता की। दूसरे, 20वीं सदी के आरंभ में भारत के अनेक समाज सुधारकों, राजनीतिज्ञों, शिक्षाविदों एवं धर्म प्रचारकों का नागरी प्रचारिणी सभा की सदस्यता ग्रहण कर लेने के परिणामस्वरुप भारत के विभिन्न क्षेत्रों में जो हिंदी संस्थाएँ, पाठशालाएँ और पुस्तकालय स्थापित हुए उनके नाम नागरी प्रचारिणी सभा, हिंदी प्रचारिणी सभा, हिंदी सभा, हिंदी साहित्य सम्मेलन इत्यादि रखे गये अर्थात् सभी काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के 'मॉडल' पर और 20वीं सदी के प्रथम दशक में जब भारत के कई प्रचारक भारतीय संस्कृति एवं भाषा के प्रचारार्थ उपनिवेशों में गये, तब उन्होंने वहाँ पर भी इसी मॉडल पर ही संस्थाओं की स्थापना करवायी और उसके बाद जब उपनिवेशों में रहे, प्रवासी भारतवंशियों में अपनी सभ्यता, संस्कृति एवं भाषा के प्रति चेतना जाग्रत हुई तो उन्होंने भी उसी प्रारुप पर संस्थाएं स्थापित कीं अर्थात् मूल प्रेरणा स्रोत कहीं न कहीं काशी की नागरी प्रचारिणी सभा ही थी।

विदेशों में हिंदी प्रचार के संदर्भ में यदि भारतीयों की बात की जाय, तो ज्ञात होता है कि भारतेंदु हरिश्चंद्र भारत के ऐसे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने प्रथम बार हिंदी का अंतर्राष्ट्रीयकरण करने और उसे भारत के बाहर पहुँचाने का कार्य किया। उन्होंने अपनी किताबों का एक सेट सीधा महारानी विक्टोरिया को भेजा। एक सेट सीधा जर्मनी के कैसर के पास भेजा, जिसकी स्वीकृति ब्रिटिश दूतावास की मार्फत लंदन आई। फिर वायसराय

की मार्फत बनारस पहूँची। ऐसे ही एक सेट रूस के जार के पास भी भेजा। इसकी स्वीकृति भी उनके पास आई। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन्हीं बातों के कारण हिंदी के अस्तित्व को पहली बार देश के बाहर मान्यता मिली।[4]

भारतेंदु हरिश्चंद्र के बाद विदेशों में हिंदी के प्रचार का सबसे सफल प्रयास काशी की नागरी प्रचारिणी सभा ने किया, जैसा कि आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा था कि 'भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र और उनके सहयोगियों ने जो प्रस्तावना की थी उसी का उद्घाटन नागरी प्रचारिणी सभा के पचास वर्षों का इतिहास है।[5] डॉ. जी. ए. ग्रियर्सन हिंदी के प्रथम विदेशी विद्वान थे, जिन्होंने सर्वप्रथम सभा की सदस्यता स्वीकार की। वे उन 72 व्यक्तियों में से एक थे जिन्होंने प्रथम वर्ष में ही सभा की सदस्यता ग्रहण की।[6] साथ ही सभा का अभिभावक बनना भी स्वीकार किया। डॉ. ग्रियर्सन ने 24 मार्च 1894 ई. को ही सभा की सदस्यता ग्रहण कर ली थी और उनकी सभासद संख्या 22 थी।[7]

डॉ. ग्रियर्सन जैसे विद्वान के प्रथम वर्ष में ही नागरी प्रचारिणी सभा की सदस्यता ग्रहण कर लेने के पश्चात् हिंदी के कई विदेशी विद्वानों ने भी सभा की सदस्यता ग्रहण कर ली। 10 दिसंबर 1894 को डॉ. जी. थीबो[8], प्रिंसिपल म्योर सेंट्रल कॉलेज, इलाहाबाद, 28 जनवरी 1895 को डॉ. ए. फुहरर, म्यूजियम, लखनऊ[9] और 28 जनवरी 1895 को लाला टहलराम, क्राइस्ट कॉलेज, ऑक्सफोर्ड इंग्लैंड[10] ने सभा की सदस्यता ग्रहण कर ली।

सभा की स्थापना के साथ ही एक 'नागरी भंडार' पुस्तकालय भी स्थापित हुआ था और आरंभ से ही उसे हिंदी की पुस्तकों से समृद्ध करना भी सभा के उद्देश्यों में शामिल था। प्रथम वर्ष से ही देश के हिंदी विद्वानों के साथ ही विदेशी विद्वानों ने भी सभा के इस कार्य में पूर्ण सहयोग दिया। सभा की स्थापना के दूसरे ही वर्ष डॉ. ग्रियर्सन ने पुस्तकों से सभा की सहायता की।[11] तृतीय वर्ष में डॉक्टर जी. ए. ग्रियर्सन (बांकीपुर) ने तीन पुस्तकों से और पादरी आर. ई. ग्रीब्स (मिर्जापुर) ने दो पुस्तकों से सभा की सहायता की।[12] इसी प्रकार चतुर्थ वर्ष में उपर्युक्त लिखित व्यक्तियों के अलावा मिस्टर ब्लॉकेट (मथुरा) ने भी पुस्तकों द्वारा सभा की सहायता की[13] और आगे भी यह क्रम जारी रहा।

काशी की यह संस्था सभी हिंदी सेवियों के कार्यों पर अपनी दृष्टि रखती थी और समय—समय पर उनके कार्यों की समालोचना भी किया करती थी। 7 फ़रवरी, 1896 ई. को हिंदी के परम हितैषी फ्रेडरिक पिनकाट की मृत्यु हो गयी[14], तो इस घटना पर सभा में हार्दिक शोक प्रकट किया गया।[15] महारानी विक्टोरिया की हीरक जुबली पर 1897 ई. में कई लोगों को पदवियाँ मिलीं, जिनमें डॉ. रुडाल्फ हार्नली भी शामिल थे। उनको सी. आई. ए. की पदवी मिली तो सभा ने हर्ष प्रकाशित किया[16] और उनको आनंद प्रकाशक—पत्र भेजा।[17] इसी प्रकार जब डॉक्टर जी. ए. ग्रियर्सन ने 'बिहारी सतसई' को संपादित किया तब सभा ने इस ग्रंथ की सुंदर समालोचना करते हुए लिखा कि ''डॉ. ग्रियर्सन द्वारा यह ग्रंथ संपादित है और लालचंद्रिका टीका सहित है। यह ग्रंथ बहुत ही सुंदर छपा है और इसमें नोट, जीवन, चरित्र आदि में संपादक ने बड़ा ही परिश्रम किया है।''[18]

सितंबर, 1896 में पेरिस नगर में 'इंटरनेशनल कांग्रेस ऑफ ओरिएंट लिस्ट' का 11वाँ अधिवेशन आयोजित हुआ, जिसमें संसार भर के पुरातत्व तथा भाषातत्त्ववेत्ताओं का जमघट हुआ। काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने भी यूरोपीय विद्वानों का ध्यान हिंदी की ओर आकृष्ट कराने का सुअवसर जानकर कांग्रेस में एक पत्र भेजा और उसके साथ ही अंग्रेज़ी में एक लेख बाबू श्यामसुंदर दास से लिखवाकर भेजा, जिसमें संक्षेप में हिंदी का इतिहास, हिंदी की उत्तमता, हिंदी में अत्यंत उपयोगी ग्रंथों का वर्तमान होते हुए भी अंधकार में पड़े रहना, एशियाटिक सोसाइटी के थोड़े ही उद्योग से जिन उत्तम ग्रंथों का पता लगा है, उनका वर्णन आदि भली—भांति दिखलाया गया था।[19] सभा के इस कार्य से पाश्चात्य विद्वान काफ़ी प्रभावित हुए और उनमें हिंदी के प्रति आकर्षण बढ़ा और उसी का प्रभाव था कि 1897 ई. में जब फ़्रांस के प्रसिद्ध विद्वान डॉक्टर सिल्वान लेवी, जो कि पेरिस की प्रसिद्ध 11वीं ओरिएंट लिस्ट कांग्रेस के भारतीय विभाग के सेक्रेटरी थे, भारत आये तब वे सभा को देखने काशी आये थे और सभा के कार्यकलाप देखकर अपनी परम प्रसन्नता प्रकाशित की थी।[20]

सभा की स्थापना के बाद हिंदी के विदेशी विद्वानों ने न केवल सभा की सदस्यता ग्रहण की, बल्कि उसके संरक्षक, आनरेरी सभासद और प्रबंधकारिणी समिति में भी शामिल हुए और सभा के साधारण अधिवेशनों और वार्षिक अधिवेशनों में तो विदेशी लोगों की उपस्थिति उत्साहजनक हुआ करती थी। डॉ. जी. ए. ग्रियर्सन ने प्रथम वर्ष में ही सभा का संरक्षक बनना स्वीकार किया था। तृतीय वर्ष में सभा के कुल आनरेरी सभासदों की संख्या मात्र 7 थी, जिनमें डॉक्टर जी. थीबो और डॉक्टर ए. फुहरर

अर्थात् दो विदेशी विद्वान उसमें शामिल थे।[21] और पाँचवें वर्ष में ही रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज उन 8 लोगों में शामिल थे, जो सभा की प्रबंधकारिणी समिति में शामिल थे।[22] सभा का चौथा वार्षिक अधिवेशन 28 जुलाई 1897 ई. को हुआ, जिसमें काशी के मजिस्ट्रेट मि. डब्ल्यू. एच. कॉब ने सभापति का आसन ग्रहण किया और महाराज कुमार भिनगा, ठाकुर साहब जयपुर, प्रोफ़ेसर जॉनसन, मिस्टर ग्रीव्ज, मिस्टर टामसन, ज्वाइंट मजिस्ट्रेट मिस्टर डुपर्ने इत्यादि अधिवेशन में उपस्थित थे। इस अधिवेशन में वार्षिक रिपोर्ट और अंग्रेज़ी की क्वार्टरली रिपोर्ट पढ़ी गयी और उसके बाद बाबू श्यामसुंदर दास बी. ए. ने अपना लेख 'हिंदी साहित्य' पर पढ़ा और उसके बाद मिस्टर ग्रीब्ज ने भी इसी विषय पर अपना मत प्रकाशित किया।[23]

सभा ने हिंदी भाषा और साहित्य के उत्थान के लिए जितने भी बड़े आयोजन किये उन सबों में उसे हिंदी के विदेशी विद्वानों का पूर्ण समर्थन और सहयोग प्राप्त हुआ। हिंदी का एक सर्वांग व्याकरण बनाने में,[24] हिंदी की लेख प्रणाली के सुधार लाने एवं उसे एक निश्चित रूप देने में,[25] सभा के वर्तमान भवन की ज़मीन प्राप्त करने में,[26] 1904 ई. से आयोजित 'सुबोध व्याख्यान माला' की आयोजना करने में,[27] हिंदी शब्द सागर के निर्माण में[28] अर्थात् सभी बड़े आयोजनों में हिंदी के विदेशी विद्वानों का पूर्ण सहयोग और समर्थन प्राप्त था। सभा के शुरुआती वर्षों में डॉ. जी. ए. ग्रियर्सन, रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज और ई. एच. रेडिचे ने जैसा सहयोग प्रदान किया, वह सभा के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। डॉ. ग्रियर्सन सभा के लिए बड़े दानदाताओं में से थे। उन्होंने विभिन्न मदों में कुल रु. 3001 का दान सभा को दिया था।[29] वहीं, रेवरेंड ऐडविन ग्रीब्ज और ई. एच. रेडिचे के नाम को चिरस्थायी बनाने के लिए दो रजत पदक 'ग्रीब्ज पदक' और 'रेडिचे पदक' स्थापित किया, जो कि प्रति चौथे वर्ष विज्ञान विषय पर दिया जाता था।[30]

20वीं सदी का आरंभ आते–आते काशी की सभा की गणना भारत की प्रमुख संस्थाओं में की जाने लगी और इसका हिंदी प्रचार का क्षेत्र राष्ट्रव्यापी हो गया था। इस समय तक डॉ. जी. ए. ग्रियर्सन, रेवरेंड एडविन ग्रीब्ज, डॉ. ए. फुहरर, डॉ. जी थीबो के अलावा 2 सितंबर, 1901 को डॉ. रुडाल्फ हार्नली (इंग्लैंड),[31] 1 दिसंबर 1902 को बाबू सालिगराम सिंह (जापान),[32] 26 मार्च 1904 को मिसेज एनी बेसेंट (भारत),[33] 26 मार्च को मि. जार्ज एस. एरण्डेल और मिस फ्रेंसिसिया एरण्डेल (दोनों भारत),[34] और 27 मई 1905 को कलेक्टर ई. एच. रेडिचे[35] ने सभा की सदस्यता स्वीकार कर ली और हिंदी के विदेशी विद्वानों में सभा काफी लोकप्रिय और एक सम्मानित संस्था बन गयी थी।

भारत से बाहर हिंदी का व्यवस्थित रूप से प्रचार कार्य 20वीं सदी के प्रथम दशक से आरंभ होता है और इसको करने का श्रेय आर्यसमाजी प्रचारकों को जाता है। आर्य समाजियों द्वारा भारतीय संस्कृति और हिंदी भाषा का जो प्रचार कार्य किया गया, उसे दो भागों में बाँटा जा सकता है भारत में प्रचार और विदेशों में प्रचार। आर्य समाज के जो दस नियम बनाये गये थे उनमें अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करना, संसार का उपकार करना और सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझना, इत्यादि बातें विदेशों में आर्य समाज और हिंदी के प्रचार से कहीं न कहीं संबंधित थीं[36] और 20वीं सदी के आरंभ से आर्य समाजी प्रचारकों ने यह कार्य किया।

1893 ई. में महात्मा गांधी दक्षिण अफ्रीका गये और लम्बे समय तक वहाँ पर प्रवासी भारतवंशियों के लिए संघर्ष किया।[37] पर उनका दृष्टिकोण राजनीतिक अधिक था। सर्वप्रथम 1896 ई. में प्रथम नं. बंगाल पदाति सेना तीन वर्ष के लिए मॉरीशस गयी और जब वापस आने लगी तब कुछ आर्य समाजी सूबेदारों ने सत्यार्थ प्रकाश की प्रतियाँ लोगों में बाँट दीं और वहाँ के कुछ लोग आर्यसमाजी विचारों के संपर्क में पहली बार आये। इसी दौरान लाहौर से प्रकाशित 'आर्य पत्रिका' नामक अंग्रेजी पत्र भी यहाँ आने लगा। इसका प्रभाव यह हुआ कि यहाँ पर कुछ लोग आर्य समाज से काफ़ी प्रभावित हो गये और 1903 ई. में तोतारामजी, जगमोहन गोपालजी और गुरुप्रसाद दलजीत लालजी ने मॉरीशस में आर्य समाज स्थापित करने का घोर परिश्रम किया पर पूरी तरह से सफल न हो सके।[38]

1905 ई. से पूर्व जो भारतवासी उपनिवेशों को गये, उनमें से कुछ आर्य समाजी विचारों से प्रभावित थे और उन्होंने वहाँ जाकर आर्यसमाजी विचारों का प्रचार और आर्यसमाजी संस्था स्थापित करने का प्रयास किया। इस तरह की प्रथम संस्था ब्रिटिश पूर्वीय अफ्रीका में कीनिया के नैरोबी शहर में 3 अगस्त, 1903 ई. को 'आर्यसमाज' नाम से स्थापित हुई।[39] इस तरह की दूसरी संस्था 1904 ई. में फ़िजी देश के सामाबूला शहर में स्थापित हुई।[40]

भारत से बाहर आर्यसमाज का व्यवस्थित रूप में प्रचार 1905

ई. से आरंभ होता है, जब दक्षिण अफ़्रीका के प्रवासी भारतवासियों के अनुरोध पर दयानंद कॉलिज, लाहोर के प्रधानाचार्य महात्मा हंसराज ने भाई परमानंद को केवल 27 वर्ष की उम्र में आर्यसमाजी प्रचारक के रूप में नेटाल भेजा।[41] भाई परमानंद ने वहाँ जाकर नेटाल, मेरित्सबर्ग, लेडीस्मिथ, डंडी, ट्रांसवाल, प्रिटोरिया, केपटाउन इत्यादि नगरों में आर्य आदर्श और प्राचीन वैदिक धर्म का उपदेश दिया और वह भी अधिकांशतः हिंदी भाषा में। उनके उपदेश का फल यह हुआ कि वहाँ पर 'हिंदू सुधार सभा' और 'हिन्दू यंगमैंस एसोसिएशन' नामक संस्थाओं की स्थापना हुई और भारतवंशियों में एक नवीन चेतना का संचार हुआ।

20वीं सदी के प्रथम दशक से आर्यसमाजी प्रचारकों के विदेशों में जाने एवं अपना अधिकांश प्रचार कार्य हिंदी भाषा में करने के पीछे मुख्य कारणों को जानना महत्त्वपूर्ण होगा। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा अखिल भारतीय स्तर पर हिंदी का प्रचार कार्य करने के कारण तत्कालीन प्रमुख आर्यसमाजी नेता एवं प्रचारक सभा के प्रचार कार्य से काफ़ी प्रभावित थे और उनमें से अधिकांश यथा–लाला हंसराज, लाला लाजपत राय[42] और यहां तक कि स्वयं भाई परमानंद सभा के सभासद बन गये थे। हिंदी में प्रचार कार्य करने का दूसरा कारण यह था कि विदेशों में जो भारतवासी मजदूरों के रूप में ले जाये गये थे, वे भारत के भिन्न–भिन्न क्षेत्रों से थे और सबकी भाषा तथा बोलियाँ एक दूसरे से भिन्न थीं। परंतु हिंदी भाषा उनमें से अधिकांश थोड़ा बहुत समझ लेते थे, जिसकी सुंदर विवेचना करते हुए भवानी दयाल संन्यासी ने लिखा था कि ''यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि केवल दक्षिण अफ़्रीका का ही नहीं, प्रत्युत जिन–जिन उपनिवेशों में हमारे देशवासी गिरमिट की प्रथा में गये हैं, यद्यपि वे एक दूसरे से हज़ारों कोस दूर हैं, कोई प्रशांत महासागर के तट पर है, तो कोई हिंद महासागर के किनारे, कोई अमेरिका के दक्षिणी भाग में है, तो कोई अफ़्रीका के दक्षिणी भाग में, तो यह देखकर विस्मय होता है कि उन सभी देशों के प्रवासी भारतीयों ने पारस्परिक व्यवहार के लिए एकमत में हिंदी को ही राष्ट्रभाषा स्वीकार किया। उसी से अपनी तत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति की।''[43]

भाई परमानंद के बाद प्रवासी भारतवंशियों में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति, विशेषकर हिंदी भाषा के प्रचार–प्रसार में अग्रणी एवं अति विशिष्ट स्थान स्वामी शंकरानंद संन्यासी का था। उनका काशी नागरी प्रचारिणी सभा से घनिष्ठ संबंध था। वे उन 12 लोगों में से एक थे, जिन लोगों ने इस सभा की आधारशिला रखी थी।[44] प्रवासी भारतीयों को वैदिक सभ्यता का ज्ञान देने एवं मातृभाषा की महत्ता बतलाने हेतु स्वामी शंकरानंद 29 सितंबर 1908 को दक्षिण अफ़्रीका पहुँचे थे। वे लगभग 4 वर्षों तक दक्षिण अफ़्रीका में रहे और वहाँ के विभिन्न नगरों में घूम–घूमकर वैदिक सभ्यता एवं संस्कृति का प्रचार किया और वह भी अधिकांशतः हिंदी भाषा में। उन्होंने लोगों से मातृभाषा में शिक्षा और 16 संस्कारों को अपनाने की बात पर बल दिया। साथ ही भारतीय रीति–रिवाजों एवं त्योहारों को अपनाने की शिक्षा दी।[45] भारतीयों के धार्मिक भाव जो कुसंग और बुरे संस्कारों के कारण दब गये थे, वे स्वामीजी के विद्वत्तापूर्ण भाषणों से फिर पल्लवित हो उठे। उनके प्रचार का फल यह हुआ कि हिंदुओं की अंतर्दृष्टि खुल गई और वे अपना सच्चा स्वरूप देख पाए। दीपावली, रामनवमी, कृष्ण जन्माष्टमी के साथ ही प्रवासी भारतीयों में अत्यंत लोकप्रिय पर्व महाशिवरात्रि जो मनाया जाता है, वह बहुत कुछ आर्य समाजियों, विशेषकर स्वामी शंकरानंद, की देन है।

भारत से बाहर और भारत में भी हिंदी भाषा के प्रचार में भवानी दयाल संयासी का नाम प्रमुखता से गिना जाता है। दक्षिण अफ़्रीका में जन्म लेकर तथा दक्षिण अफ़्रीका और भारत में रहते हुए उन्होंने भारत तथा संपूर्ण विश्व में बसे प्रवासी भारतीयों में हिंदी के प्रचार का हर संभव प्रयास किया। जर्मिस्टन में मज़दूरी करते हुए भी उन्होंने 'ट्रांसवाल हिंदी प्रचारिणी सभा' की स्थापना की।[46] उन्होंने पाँच साल लगातार हिंदी का प्रचार–कार्य किया और इस दौरान जर्मिस्टन, न्यूकासल, डेनहाउसर, हाटिंगस्प्रुट, ग्लेंको, वर्नसाइट, लेडीस्मिथ, विनेन एवं जेकोब्स आदि शहरों और कस्बों में 'हिंदी प्रचारिणी सभाएँ' और हिंदी पाठशालाएँ स्थापित कीं। इन सभाओं को एक केंद्रीय मंडल के अंतर्गत संगठित करने के लिए 'दक्षिण अफ़्रीका हिंदी–साहित्य–सम्मेलन' की स्थापना की, जिसका प्रथम वार्षिक अधिवेशन 1916 ई. में लेडीस्मिथ में और दूसरा वार्षिक अधिवेशन 1917 ई. में पीटर मेरित्सवर्ग में बड़ी धूमधाम से हुआ।[47]

1922 ई. में भवानी दयाल ने हिंदी और अंग्रेज़ी दोनों भाषाओं में 'हिंदी' नामक साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया, जिसने पत्रकारिता के इतिहास और हिंदी के प्रचार में एक प्रतिमान स्थापित किया। यह पत्रिका सचित्र और विषयवस्तु

की दृष्टि से काफ़ी समुन्नत थी और प्रवासी भारतीयों में तो वह ऐसी लोकप्रिय हुई कि नेटाल के साथ ही साथ ट्रांसवाल, केप, रोडेशिया (वर्तमान जिम्बाब्वे), मोज़ाम्बिक, टंगेनिका, युगान्डा, केनिया, मॉरीशस, फ़िजी, डमरारा, जमैका, ग्रेनेडा, सूरीनाम, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, कनाडा और भारत में भी उसकी काफ़ी माँग थी। परंतु जिस प्रकार हिंदी पत्रिका उन्नति करती जा रही थी, उसी क्रम में उसे निकालने में घाटा भी होता जा रहा था। 1923–24 ई. में ही भवानी दयाल जी ने अपील की कि यदि उन्हें उचित सहायता न मिली, तो इस पत्र को बंद कर देना पड़ेगा। संसार के विभिन्न भागों से इस पत्रिका को सहायता मिली, यहाँ तक कि काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने भी 50 रु. पत्रिका के सहायतार्थ प्रदान किये थे।[48]

1930 ई. के बाद सभा ने उपनिवेशों में हिंदी के प्रचार का उद्योग आरंभ किया। उपनिवेशों में हिंदी के प्रचार का जो कार्य हुआ था और इस क्षेत्र में सभा जो उद्योग कर रही थी, उसका बड़ा ही सुंदर लेखा–जोखा सबके सम्मुख प्रस्तुत किया और अपने वार्षिक विवरण में लिखा कि ''सभा ने इस वर्ष उपनिवेशों में हिंदी प्रचार के लिए विशेष प्रयत्न किया है और मॉरीशस के श्री त्रिभुवन सिंह जी ने, जो सभा के सभासद हैं और इस समय भारत में है, यह कार्य करना स्वीकार किया है। लंका में सभा की ओर से श्री सत्यनारायण शर्मा प्रचार कार्य कर रहे हैं। आशा है उपनिवेशों में हिंदी प्रचार का कार्य बढ़ेगा।[49]

1940 ई. के बाद विदेशों में हिंदी का प्रचार बढ़ा, जिसका सबसे बड़ा प्रमाण यह था कि जहाँ पर पहले विदेशी सभासदों की संख्या मात्र 8 थी, वहीं 1942 ई. में 14 हो गयी, जिनमें मॉरीशस में के. एम. भगत (हिंदी प्रचारिणी सभा, मोताईलोंग) केनिया में रणधीर विद्यालंकार, रमन भाई जे. पटेल और सत्यपाल, युगांडा में दयालजी भीमभाई देसाई, बोस्टन, अमेरिका में डॉ. आनंद के. कुमारस्वामी, मस्केट में विश्राम जे. पटेल और बर्मा में डॉ. ओमप्रकाश और गोपालदास।

गोपालदास; इंग्लैंड में रेवरेंड एडविन ग्रिब्ज, टी. ग्राहम बेली और जे.सी. जैक्शन; पोलैंड में प्रो. स्टेफ़ेन स्टासिक; और रूस में ए. बारान्निकोव सभा के सभासद थे।[50] काशी की इस सभा ने यह बतलाया कि किस प्रकार एक छोटे से टापू मॉरीशस में हिंदी उन्नति कर रही है। 1926ई. में 'तिलक विद्यालय सभा' के नाम से स्थापित संस्था 1935 ई. में 'हिंदी प्रचारिणी सभा' नाम से जानी गयी और इसी वर्ष इसकी रजिस्ट्री भी हुई। हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से संबद्ध इस संस्था ने मॉरीशस में हिंदी विद्यालय, पुस्तकालय और हिंदी के प्रचार का महत्त्वपूर्ण कार्य किया।[51] इसके अलावा चीन, फ्रांस के अलावा नई दुनिया यानी कि अमेरिका में हिंदी के प्रचार के लिए पं. गोविंदवल्लभ पंत और जगदीशचंद्र अरोड़ा के द्वारा किये गये कार्यों को भी सभा ने पटल पर रखा।[52]

15 माघ, सं. 2000 वि. (1943 ई.) को काशी की नागरी प्रचारिणी सभा ने अपना अर्ध–शताब्दी उत्सव मनाया। उस समय भारत में एक से बढ़कर एक हिंदी के विद्वान थे परंतु फिर भी भारत से बाहर प्रवासी भारतियों में हिंदी प्रचार के लिए भवानी दयाल संन्यासी जी द्वारा किये गये प्रयास और उनकी हिंदी सेवाओं को मान्यता प्रदान करते हुए काशी की सभा द्वारा उन्हें अपने 'अर्द्ध–शताब्दी उत्सव' के सभी कार्यक्रमों का सभापति चुना गया। सभाभवन के पीछे बनवाये गये विशाल पंडाल में यह उत्सव हुआ और भारत के गण्यमान्य हिंदी के विद्वान इस अवसर पर उपस्थित थे। सबसे अंत में भवानी दयाल जी ने अपना मुद्रित भाषण पढ़ा जिसमें भारत तथा वृहत्तर भारत में हिंदी भाषा की तत्कालीन अवस्था का सिंहावलोकन कराते हुए उसकी विभिन्न समस्याओं का बहुत सुंदर विवेचन किया था।[53]

भारत की आज़ादी के बाद भी सभा द्वारा हिंदी का प्रचार कार्य जारी रहा और यह कार्य न केवल भारत के अहिंदी–भाषी क्षेत्रों, बल्कि भारत के बाहर भी चलता रहा जिसका परिणाम यह हुआ कि 1951ई. तक विदेशी सभासदों की संख्या 22 तक पहुँच गयी, जिनमें डॉ. जे शिवगोबिन (मॉरीशस), प्रकाशवती दयाल (नेटाल, दक्षिण अफ़्रीका), प्रो. डब्ल्यू. नारमन ब्राउन (प्रो. संस्कृत, पेंसिलवेनिया विश्वविद्यालय, अमेरिका), वैद्यनाथ वर्मा (न्यूयॉर्क, अमेरिका), काशीनाथ दामोदर नायक (डच इंडिया), रामप्रसाद जी खंडेलवाल (कराची, पाकिस्तान), श्यामचरण मिश्र (बर्मा), डॉ. आर. टर्नर, डॉ. एच. डब्ल्यू. बेली, ए.जी. शिरफ़, डब्ल्यू. जी. आर्चर (सभी इंग्लैंड), डॉ. जी. टुची (रोम विश्वविद्यालय, इटली), डॉ. ऐल्सडार्फ़ (हैंबर्ग विश्वविद्यालय, जर्मनी), आर. क्लोडिक विलहरजेवा (युगोस्लाविया), प्रो. जी मार्गेनस्टर्न (ओस्लो विश्वविद्यालय, नॉर्वे), डॉ. जूल्स ब्लॉक (पेरिस विश्वविद्यालय, फ्रांस), डॉ. आद्रे शार्प वान वेनेडेनली (बेल्जियम), प्रो. ए. बारान्निकोव (लेनिनग्राद, रूस), दयानंद सीनाथ (ट्रिनिडाड),

डॉ. एफ़. बी. जे. कुपलर और डॉ. जे. पी. एच. वोगेल (लीडेन विश्वविद्यालय, हॉलैंड) शामिल थे[54] और उनकी गणना तत्कालीन विश्व के प्रमुख हिंदी विद्वानों में की जा सकती है। सभा का यह प्रचार कार्य आगे भी चलता रहा और विदेशी सभासदों की संख्या तो बढ़ती ही गयी साथ ही उपनिवेशों की आज़ादी के साथ ही विदेशों में हिंदी का प्रचार भी बढ़ता गया।

संदर्भ सूचीः

1. शास्त्री, वेदव्रत, नागरीप्रचारिणी सभा का अर्ध–शताब्दी का इतिहास, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, सं. 2000 वि., पृष्ठ 5
2. भारत जीवन, 14 अगस्त, 1893, भारत जीवन कार्यालय, बनारस सिटी, पृष्ठ 7
3. नागरीप्रचारिणी सभा का प्रथम वार्षिक विवरण, 1893–94ई., पृष्ठ 5
4. गोपाल, मदन, भारतेंदु हरिश्चंद्र, राजपाल एण्ड संस दिल्ली 1976ई. पृष्ठ 34
5. शास्त्री, वेदव्रत, काशी नागरीप्रचारिणी सभा का अर्धशताब्दी का इतिहास, वक्तव्य, पृष्ठ 1
6. नागरी प्रचारिणी सभा का प्रथम वार्षिक विवरण, 1893–94ई., पृष्ठ 18
7. नागरीप्रचारिणी सभा का तृतीय वार्षिक विवरण, 1896–97, पृष्ठ 21
8. नागरीप्रचारिणी सभा का तृतीय वार्षिक विवरण, 1895–96ई.
9. नागरीप्रचारिणी सभा का तृतीय वार्षिक विवरण, 1895–96ई., पृष्ठ 35
10. नागरीप्रचारिणी सभा का चतुर्थ वार्षिक विवरण, 1897–98ई., पृष्ठ 27
11. नागरीप्रचारिणी सभा का द्वितीय वार्षिक विवरण, 1894–95ई., पृष्ठ 15
12. नागरीप्रचारिणी सभा का तृतीय वार्षिक विवरण, 1895–96ई., पृष्ठ 15
13. नागरीप्रचारिणी सभा का चतुर्थ वार्षिक विवरण, 1896–97ई., पृष्ठ 19
14. दास, श्यामसुंदर सं. हिंदी–कोविद–रत्नमाला, पहिला भाग, पृष्ठ 15
15. नागरीप्रचारिणी सभा का तृतीय वार्षिक विवरण, 1895–96ई. पृष्ठ 14
16. नागरीप्रचारिणी सभा का चतुर्थ वार्षिक विवरण, 1896–97ई. पृष्ठ 8
17. वहीं, पृष्ठ 11
18. नागरीप्रचारिणी सभा का चतुर्थ वार्षिक विवरण, 1896–97ई. पृष्ठ 8
19. नागरीप्रचारिणी सभा का पंचम वार्षिक विवरण, 1896–98ई. पृष्ठ 2
20. नागरीप्रचारिणी सभा का तृतीय वार्षिक विवरण, 1896–96ई. पृष्ठ 35
21. नागरीप्रचारिणी सभा का पंचम वार्षिक विवरण, 1897–98ई. पृष्ठ 43
22. नागरीप्रचारिणी सभा का तृतीय वार्षिक विवरण, 1895–96ई., पृष्ठ 35
23. नागरीप्रचारिणी सभा का पंचम वार्षिक विवरण, 1897–98ई., पृष्ठ 8
24. भाषा सब कमेटी की रिपोर्ट, पृष्ठ 20–22
25. शास्त्री, वेदव्रत, काशी नागरीप्रचारिणी सभा का अर्धशताब्दी का इतिहास, पृष्ठ 39
26. नागरीप्रचारिणी सभा का 12वीं वार्षिक विवरण, 1904–05ई., पृष्ठ 22; शास्त्री, वेदव्रत, काशी नागरीप्रचारिणी सभा का अर्द्धशताब्दी का इतिहास, पृष्ठ 142
27. शास्त्री, वेदव्रत, काशी नागरीप्रचारिणी सभा का अर्धशताब्दी का इतिहास, पृष्ठ 183
28. वहीं, पृष्ठ 279
29. वहीं, पृष्ठ 163–64
30. नागरीप्रचारिणी सभा का 11वीं वार्षिक विवरण, 1903–04, पृष्ठ 54
31. वहीं, पृष्ठ 64
32. वहीं, पृष्ठ 70
33. वहीं, पृष्ठ 73
34. नागरीप्रचारिणी सभा का 11वीं वार्षिक विवरण, 1903–04, पृष्ठ 64
25. अग्रवाल, प्रेमनारयण, प्रवासी भारतीयों की वर्तमान समस्याएँ, मानसरोवर साहित्य निकेतन, मुरादाबाद, 1935, पृष्ठ 143
36. संन्यासी, भवानी दयाल, प्रवासी की आत्मकथा, राजहंस प्रेस, दिल्ली, 1948, पृष्ठ 27
37. स्वामी, नारायण, विदेशों में आर्य समाज, वैदिक यंत्रालय, अजमेर, 1933, पृष्ठ 37
38. वहीं, पृष्ठ 27
39. वहीं, पृष्ठ 49
40. संन्यासी, भवानी दयाल, प्रवासी की आत्मकथा, पृष्ठ 186
41. नागरीप्रचारिणी सभा का 12वीं वार्षिक विवरण, 1904–05ई., पृष्ठ 103
42. संन्यासी, भवानी दयाल, प्रवासी की आत्मकथा, पृष्ठ 169
43. शास्त्री, वेदव्रत, काशी नागरीप्रचारिणी सभा का अर्धशताब्दी का इतिहास, पृष्ठ 5
44. प्रवासी पत्रिका, वर्ष – 1, अंक – 2, नवंबर, 1947ई. , पृष्ठ 17
45. इंदु पत्रिका, कला – 5, खंड – 1, किरण – 6, जून, 1914, वाराणसी, पृष्ठ 600
46. सिंह, राजबहादुर, प्रवासी की कहानी, बाल साहित्य प्रकाशन समिति, कलकत्ता, 1939ई. , पृष्ठ 105
47. नागरीप्रचारिणी सभा का 32वीं वार्षिक विवरण, 1924–25ई. , पृष्ठ 26
48. नागरीप्रचारिणी सभा का 33वीं वार्षिक विवरण, सं. 1982, पृष्ठ 31
49. नागरीप्रचारिणी सभा का 50वीं वार्षिक विवरण, सं. 1999, पृष्ठ 121–22
50. नागरीप्रचारिणी सभा का 54वीं वार्षिक विवरण, सं. 2003, पृष्ठ 85
51. नागरीप्रचारिणी सभा का 54वीं वार्षिक विवरण, सं. 2003, पृष्ठ 86–87
52. हिंदी पत्रिका, वर्ष – 4, संख्या – 1 – 9, जनवरी – सितंबर, 1944, पृष्ठ 15–18
53. नागरीप्रचारिणी सभा का 59वीं वार्षिक विवरण, सं. 2008, पृष्ठ 66–69

rkdhistory@gmail.com

औपनिवेशिक कालीन भारतीय प्रवास एवं उनसे जुड़े कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य : वर्तमान में प्रासंगिकता

– डॉ. एन. के. चतुर्वेदी
राजस्थान, भारत

10वाँ विश्व हिंदी सम्मेलन 10–12 सितंबर, 2015 को भोपाल में आयोजित किया गया और सम्मेलन का मुख्य विषय 'हिंदी जगत : विस्तार एवं संभावनाएँ' रखा गया। इस सम्मेलन में जो 12 उपविषय रखे गये थे, उनमें 'गिरमिटिया देशों में हिंदी' प्रथम एवं एक अति महत्त्वपूर्ण विषय था, जो कि सीधे प्रवासी भारतीयों से जुड़ा हुआ था। इससे पूर्व जो नौ विश्व हिंदी सम्मेलन हुए उनमें प्रथम चार सम्मेलनों का विषय 'वसुधैव कुटुम्बकम्', पाँचवे का 'आप्रवासी भारतीय और हिंदी', छठे का 'हिंदी और भावी पीढ़ी', सातवें का 'विश्व हिंदी—नई शताब्दी की चुनौतियाँ, आ. ठवे का 'विश्व मंच पर हिंदी' एवं 9वें सम्मेलन का विषय 'भाषा के अस्मिता और हिंदी का वैश्विक संदर्भ' रखा गया और सभी सम्मेलन घनिष्ठ रूप से प्रवासी भारतीयों से जुड़े थे, क्योंकि भारत से बाहर प्रवासी भारतीयों की संख्या लाखों में है और उनके साथ हिंदी का भी अविच्छिन्न संबंध रहा है। इसलिए औपनिवेशिक कालीन भारतीय प्रवास एवं उनसे जुड़े कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का अध्ययन अति समीचीन होगा।

प्रवासी भारतवंशियों की समस्या ब्रिटिश भारतीय इतिहास में एक अत्यन्त विकट समस्या रही। यूरोपीय देशों की कॉलोनियों में रहते हुए तथा रंगभेद, नस्लभेद और अपनी अधम स्थिति का अनुताप सहते हुए भी प्रवासी भारतीयों द्वारा अपने देशवासियों को मोहनिद्रा से जगाने और उन्हें आगे बढ़ाने के लिए लगातार प्रयत्न किया गया। साथ ही भारत की आज़ादी की लड़ाई में भी प्रवासी भारतीयों ने अपनी मातृभूमि की स्वाधीनता के लिए भारी बलिदान दिया, परंतु प्रवासी भारतीयों की समस्या पर भारतीय विद्वानों एवं इतिहासकारों ने अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया, जिसके कारण प्रवासी भीरतीयों से जुड़े कई महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य आज तक आमजन के सामने न आ सके, जबकि प्रवासी भारतीयों ने भारतीय नवजागरण के साथ ही वृहत्तर भारत के निर्माण का उद्योग किया था।

प्राचीनकाल से ही भारतवासी प्रवास पर जाते रहे हैं, जिसका उद्देश्य व्यापारिक और धार्मिक था। प्राचीनकाल में जो प्रवास हुआ वह अत्यंत बुद्धिमत्तापूर्ण था, जिसके फलस्वरुप सम्पूर्ण विश्व में भारतीय कीर्ति फैली। जावा, सुमात्रा, श्याम, सिंहल, बाली इत्यादि दक्षिण–पूर्व एशियाई देशों में भारतीय धर्म, आदर्श, सभ्यता, साहित्य और कला–कौशल का प्रचार हुआ और भारत का गौरव बढ़ा, परंतु औपनिवेशिक काल में भारतवासियों का प्रवास मातृभूमि के लिए कलंक साबित हुआ और संसार में भारतीय अपकीर्ति का कारण बना। प्राचीनकाल में भारतीयों ने प्रवास अपनी इच्छा से किया था। परंतु आधुनिक भारत में प्रवास के सिरजनहार वे विदेशी सरकार और विदेशी वणिक थे, जिन्होंने अपने स्वार्थ की बेदी पर मनुष्यता की बलि चढ़ाने में तनिक भी संकोच नहीं किया, जिसके परिणामस्वरूप विदेशों में हिंदुस्तान 'कुलियों का देश' और हिंदुस्तानी 'कुलियों की जाति' के रूप में विख्यात हुई।

अंग्रेज़ भारत में आये तो थे व्यापारी बनकर, परंतु धीरे–धीरे वे यहाँ के शासक बन बैठे। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी की भारत विरोधी नीतियों के कारण यहाँ की कारीगरी और दस्तकारी नष्ट हुई और यहाँ के आर्थिक शोषण एवं लूट की आधारशिला पर लंकाशायर और मैन्चेस्टर के कारखानों की नींव पड़ी। इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति हुई और वहाँ खुशहाली का युग आरंभ हुआ। उसके विपरीत भारत में दरिद्रता और गुलामी का युग आया।

औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरुप इंग्लैंड और अन्य यूरोपीय देशों को अपने तैयार माल की निकासी और कच्चे माल की प्राप्ति हेतु साम्राज्य–प्रसार का सहारा लेना पड़ा। फलस्वरूप एशिया और अफ़्रीका के देशों पर अधिकार करने की प्रक्रिया आरंभ हुई। अफ़्रीका में अपने उपनिवेश स्थापित करने के लिए यूरोपीय जातियाँ लालायित हो रही थीं और इसके लिए अफ़्रीका का बंदरबाँट शुरु हुआ। इस बंदरबाँट में इग्लैंड ने अपनी शक्तिशाली नौसेना के बल पर सर्वाधिक क्षेत्रों पर अधिकार जमाया। अफ़्रीका क्षेत्रों पर कब्ज़े के बाद वहाँ पर यूरोपीय मालिकों द्वारा गन्ने की खेती, बागान और खानों को विकसित किया गया और ये समस्त काम गुलाम हब्शियों द्वारा कराया

जाता तथा उनपर पशुवत् अत्याचार किया जाता था।

यूरोप में 19वीं सदी के आरंभ में हुए सुधारवादी आंदोलनों एवं नेपोलियन के पतन के बाद आयोजित वियना कांग्रेस (1814–15 ई.) में दास–प्रथा को समाप्त करने का प्रस्ताव पास हुआ और यूरोप के देशों में दास–प्रथा समाप्त होनी आरंभ हुई। इंग्लैंड में भी 1833 के अधिनियम के तहत 1 अगस्त, 1834 ई. को दास–प्रथा का अंत कर दिया गया। गुलाम हब्शियों की आज़ादी से उपनिवेश के यूरोपीय किसानों की बरबादी होने लगी और उन्होंने भारत की कम्पनी सरकार से सहायता की याचना की। गुलामी तो दुनिया से उठ चुकी थी और भारत में उसकी पुनरावृत्ति करना कठिन था। इसलिए एक नई प्रथा प्रचलित हुई, जो मियादी गुलामी प्रथा या गिरमिटिया प्रथा (Indentured system) के नाम से जानी गई। गुलामी के युग में जहाँ हब्शी दास जीवन भर के लिए बिक जाते थे, वहीं शर्तबंदी प्रथा के अनुसार हिंदुस्तानी पांच साल के लिए बिकने लगे। यह दासता पहले से भिन्न थी, पर दोनों में बहुत अंतर नहीं था। इसलिए यह 'दासता की नई प्रथा' के नाम से भी मशहूर हुई।

1833ई. में इंग्लैंड ने दास–व्यवसाय का दाग धो डाला। परंतु उसके अगले ही साल भारत में परिवर्तित रूप में उसी व्यवसाय का घृणित पेशा अपनाया। विधि की विडंबना? बनैले और असभ्य हब्शी तो दासता के बंधन से मुक्त हुए– किंतु उनकी जगह भारत की सभ्य संतानें, राम और कृष्ण की संतानें शेरशाह और अकबर की औलादें गिरमिटिया प्रथा के रूप में विदेशों के बाज़ार में बेंची गईं। अतएव 1843 ई. में मॉरीशस, 1838 ई. में गुयाना, 1845 ई. में त्रिनीडाड, 1847 ई. में जमैका, 1854 ई. में मांटिनिग्रो, 1854 ई. में गुडलूप, 1856 ई. में ग्रेनाडा, 1858 ई. में सेंट लूसिया, 1860 ई. में दक्षिण अफ़्रीका, 1861 ई. में सेंट विंसेंट, 1873 ई. में सूरीनाम, 1879 ई. में फ़िजी, 1895 ई. में पूर्वी अफ़्रीका, 1899 ई. में सीचेल्स आदि उपनिवेशों के लिए भारत से शर्तबंद गुलाम भेजे जाने लगे, जहाँ उन्हें 20 पौण्ड (लगभग 300 रु.) में बेंचा जाता और उन्हें यूरोपियन मालिकों के खेतों में कड़े से कड़ा काम करना पड़ता था और उनपर पाशविक अत्याचार किया जाता था।

इस कार्य के लिए ईस्ट इंडिया कंपनी की ओर से भारत के सभी प्रमुख नगरों में गुलाम भर्ती करने के लिए डिपो (Depot) खुल गये, भोले–भाले भारतीयों को बहकाने और फँसाने के लिए अरकाटियों (जो अधिकांशतः भारतीय ही हुआ करते थे) की नियुक्ति हुई। कलकत्ता, मद्रास और बंबई के बंदरगाहों से इन अभागे नर–नारियों से लदे हुए जहाज़–पर–जहाज़ बाहर जाने लगे। भारत के पश्चिमि बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश, मद्रास और बम्बई के लोग, जिनमें हिंदू और मुसलमान दोनों थे, व्यापार के लिए गये।

जो भारतीय अफ़्रीका इत्यादि उपनिवेशों में ले जाये गये, उनकी सामाजिक अवस्था वहाँ पर अत्यन्त दयनीय रही, गोरे प्लाण्टरों के हाथों से अनेक प्रकार के अपमान सहने में, भारत में ही डिपो में, उपनिवेशों में खेतों पर, जहाज़ों पर–तात्पर्य यह कि पग–पग पर उन्हें किसी–न–किसी प्रकार के अनेक कष्ट सहने पड़े। उपनिवेशों में उन्हें नगरों से दूर मलिन बस्तियों में बॉड़ों में पशुओं की भाँति रखा जाता था और जीवित रहने के लिए जो मूल आवश्यकताएँ होती हैं, उससे भी उन्हें वंचित रखा जाता। परिस्थितियों से तंग आकर कितने लोगों ने समुद्र में छलांग लगा दी, कितनों ने फाँसी लगा ली और कितनों ने विषपान कर अपनी जीवनलीला समाप्त कर ली। प्रवासी भारतीयों का इतिहास भारतीय इतिहास का अत्यंत लज्जास्पद तथा करुणाजनक अध्याय रहा है। शायद ही किसी अन्य देश के मनुष्यों को परतंत्रता का ऐसा कटु फल चखना पड़ा हो।

अंग्रेज़ों द्वारा भारतवासियों को बलपूर्वक उपनिवेशों में मज़दूरों के रूप में ले जाने के ब्रिटेन और भारत पर प्रभाव अलग–अलग हुए। दासों के व्यापार से ब्रिटेन को तो लाभ हुआ पर भारतीय कीर्ति का बड़ा अपकर्ष हुआ। पूरी दुनिया इस सत्य को जानती है कि सन् 1600 ई. में जिस ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापन हुई थी, जिसकी एक प्रमुख हिस्सेदार, वहाँ की महारानी भी थीं और जिन्होंने उसे पूर्वी देशों के साथ व्यापार करने का आज्ञापत्र दिया था, उस कंपनी में आरंभ में एक भी शरीफ़ इंसान नहीं था, बल्कि छटे हुए बदमाश और लुटेरे थे। इससे पूर्व आर्मेदा की लड़ाई में, जिसने ब्रिटेन के विस्तार का मार्ग प्रशस्त किया, ब्रिटिश नौसेन के साथ ही वहाँ के समुद्री लुटेरों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। सरस्वती जैसी प्रतिष्ठित पत्रिका ने तो 'इंग्लैंड कैसे धनवान हुआ?' शीर्षक लेख में स्पष्टतः सिफ़्र दो बातों को उठाया है – 'इंग्लैंड द्वारा विभिन्न देशों एवं सागर में लूटमार और दासों का व्यापार'। इस प्रकार दासों के व्यापार से इंग्लैंड समृद्ध होता चला गया। परंतु अंग्रेज़ों के इस कार्य से भारत की छवि बहुत खराब हुई और विश्व की प्राचीनतम् सभ्यता

के वासी और पूरी दुनिया को सभ्यता और ज्ञान का पाठ पढ़ाने वाले भारतीय विदेशों में कुली और गुलाम देश के निवासी कहे जाने लगे। अमेरिका के लोग तो कहा करते थे कि "India is a mine of coolies and labourers" अर्थात् 'भारत मज़दूरों और कुलियों की खान हौ।'

औपनिवेशिक कालीन भारतीय प्रवास एवं उससे जुड़ी भारतीयों की समस्या के पूरे इतिहास का अध्ययन करने पर कुछ अति महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य उभरकर सामने आते हैं, जिन्हें आज जानना प्रत्येक भारतीय एवं प्रवासी भारतीयों के लिए अत्यावश्यक है। प्रथम महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि क्यों औपनिवेशिक काल में प्रवासी भारतीयों के साथ ऐसा अमानवीय व्यवहार किया गया और आज भी क्यों विदेशों में कभी–कभी भारतीयों के साथ श्वेत नस्ल के लोगों द्वारा अभद्र टिप्पणियाँ एवं नस्लीय भेदभाव किया जाता है? इसका कारण यह है कि स्वतंत्र देश के नागरिकों पर किसी देश की सरकार किसी प्रकार का न तो प्रतिबंध लगा सकती है और न ही अमानवीय व्यवहार कर सकती है, क्योंकि ऐसा करने से उसके अपने देश के नागरिकों के साथ भी दूसरे देशों में वैसा ही व्यवहार किया जा सकता है। इसके विपरीत जब संसार से दासता उठ गई, उस समय भारत गुलामी की ज़ंजीरों में बँधा था और इसी कारण भारत में ही नहीं, विदेशों में भी भारतीयों के साथ बड़ा अमानवीय व्यवहार किया गया और पश्चिम की यह नस्लभेदी परंपरा भारतीयों के प्रति इतनी बलवती होती गयी कि उसका असर आज भी दिखलायी पड़ता है।

प्रवासी भारतीयों से जुड़ा एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि आखिर क्यों उन्हें उपनिवेशों में असह्य अपमान एवं दारुण दुःख सहने पड़े? इसका कारण यह है कि अंग्रेज़ी द्वारा पढ़े–लिखे और चतुर व्यक्तियों की अपेक्षा गाँवों के ऐसे स्त्री–पुरुष चुन–चुन कर उपनिवेशों में ले जाये गये, जो किसी भी दृष्टि से प्रवास के योग्य नहीं थे। प्राचीन काल में जो भारतवासी प्रवास पर गये वे भारत के बौद्धिक एवं कौशल प्रधान वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे। औपनिवेशिक काल में भारत से अनपढ़ लोगों मनुष्यों का विदेश गमन भारत की प्रतिष्ठा के लिए घातक सिद्ध हुआ, जिसके लिए भारतवासियों को युग–युगांतर तक पश्चातप करना पड़ेगा।

अंग्रेज़ों द्वारा भारत के अनपढ़, अल्पशिक्षित, अकुशल एवं ग्रामीण क्षेत्रों से लोगों को पकड़ कर उपनिवेशों में भेजा गया, तो उनके साथ उनकी संस्कृति भी गयी। भारतीयों ने उपनिवेशों में अपनी मेहनत के बल पर वहाँ का एवं धीरे–धीरे स्वयं अपना भी कायापलट कर लिया। अपनी संस्कृति के प्रति वे सचेत रहे और उसे संरक्षित किया जिसका एक उत्तम उदाहरण प्रवासी भारतीयों द्वारा हिंदी भाषा में लिखा गया आरम्भिक साहित्य एवं लोकगीत है, जो कि बहुत श्रेष्ठ एवं परिष्कृत नहीं कहा जा सकता, फिर भी उसी के कारण उनकी संस्कृति सुरक्षित रह सकी। प्रवासी भारतीय अपनी परंपरा को जिस भाँति बनाये रखा उसका असर आज की इस अत्याधुनिक 21वीं सदी में भी उनके नामों में ही दिखलायी पड़ जाता है, जो कि विविध क्षेत्रों में तो चोटी पर पहुँचे हुए हैं पर उनके नाम अति परम्परावादी, अपरिवर्तनशील एवं 19वीं सदी के भारतीय ग्रामीण समुदाय की परम्परा को संजोये हुए हैं। उदाहरण के लिए सर शिवसागर रामगुलाम, कमला प्रसाद बिसेसर, सरिता बुधू, लीला देवी दुखन लछुमन, गंगाधर सिंह, गुलशन सुखलाल, कमला रामलखन इत्यादि रेखांकित शब्द स्वतः स्पष्ट करते हैं।

पूरे औपनिवेशिक काल में जो भारतीय भारत के विभिन्न क्षेत्रों से ले जाये गये, वे सभी केवल तीन बन्दरगाहों – कलकत्ता, बम्बई और मद्रास से ले जाये गये। इस कारण उपनिवेशों में जो लोग कलकत्ता बंदरगाह से गये, वे 'कलकत्तिया'; जो बम्बई से गये, वे 'बम्बईया' और जो मद्रास से गये, वे सभी सामान्य रूप से 'मदरासी' कहलाये।

यह तथ्य कम लोगों को ज्ञात होगा कि प्रवासी भारतीयों की समस्या को भारत में उठाने का प्रथम प्रयास आर्य समाज का रहा, जिसकी स्थापना 10 अप्रैल, 1875ई. को स्वामी दयानन्द सरस्वती ने की थी। आर्य समाज के जो दस नियम निर्धारित हुए उनमें, अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करना, संसार का उपकार करना और सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझना, इत्यादि बातें शामिल थीं। प्रवासी भारतीयों में अपनी सभ्यता, संस्कृति, भाषा, वेश, साहित्य, धर्म, शिक्षा एवं संस्कार के प्रचार एवं उनमें आपसी एकता स्थापित करने का प्रथम प्रयास आर्य समाज एवं उसके प्रचारकों का ही था। साथ ही भारतीय जनसमुदाय को भी प्रवासी भारतीयों की समस्या से परिचित कराने का प्रारंभिक श्रेय आर्य समाज को ही है।

प्रवासी भारतीयों की समस्या को सर्वप्रथम उठाने एवं उनके समाधान के लिए कार्य करने का प्रथम प्रयास आर्य समाज का

रहा, परन्तु इसे व्यापकता और सुदृढ़ आधार हिंदी पत्र–पत्रिकाओं ने प्रदान किया। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध एवं 20वीं सदी मध्य तक, जबकि हिंदी खुद अपना अधिकार पाने के लिए संघर्ष कर रही थी, प्रवासी भारतीयों की समस्या को भी प्रमुखता से उठाया और इस समस्या से आमजन को परिचित कराने का महत्त्वपूर्ण कार्य हिंदी पत्रकारिता ने किया।

यह आश्चर्य की बात है कि आर्य समाज एवं हिंदी पत्र–पत्रिकाओं ने तो प्रवासी भारतीय समस्या को व्यापक पटल पर उठाया, पर पूरे राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान सम्पूर्ण भारतवर्ष के लोगों का राजनीतिक नेतृत्व करने का दावा करने वाली अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने संपूर्ण 19वीं और 20वीं सदी के दो दशकों से अधिक समय तक प्रवासियों की समस्या पर कोई ध्यान नहीं दिया। कांग्रेस की एक अपील पर लाखों रुपये प्रवासी भारतीयों ने 'तिलक स्वराज्य फंड' में दिये थे और अन्य मदों में भी मदद से कभी मुँह नहीं मोड़ा। इसके विपरीत कांग्रेस ने प्रवासियों की समस्या पर कोई ध्यान नहीं दिया, उल्टे अनेक कांग्रेस वाले प्रवासी भारतीयों के प्रश्न को एक अमोघ उत्तर से हल कर देते थे कि 'जिसका घर में मान नहीं, उसे बाहर कौन पूछेगा। जब तक हमें यहाँ स्वराज्य प्राप्त नहीं होता तब तक प्रवासी भारतीयों के लिए आंदोलन करना व्यर्थ है।' उन्होंने यह नहीं सोचा कि प्रवासी भारतीयों के आंदोलन से स्वराज्य के आंदोलन में भी बड़ी सहायता मिल सकती थी। जबकि यह सर्वविदित है कि विदेशों में रहकर कितने ही भारतीयों ने भारत की आज़ादी की लड़ाई लड़ी थी और प्रवासी भारतीयों ने जो सहयोग दिया था, वह जग ज़ाहिर ही है, पर फिर भी कांग्रेस इस बड़ी समस्या पर लगभग चार दशकों तक मौन रही।

प्रवासी भारतीयों के पूरे इतिहास पर दृष्टिपात करने पर एक अति महत्त्वपूर्ण तथ्य उभरकर सामने आता है कि आज तक किसी भी भारतीय ने प्रवासी भारतीयों के पूरे इतिहास को न तो रेखांकित किया और न ही संकलित, बल्कि यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न इतिहासकारों और विद्वानों की दृष्टि से वंचित ही रहा, जबकि 1928 ई. में ही सी. एफ. ऐण्ड्रूज ने लिखा था कि भारत को अपने स्वाधीनता–संग्राम के साथ ही जिन कठिन प्रश्नों का सामना करना पड़ेगा, उनमें से एक प्रश्न होगा भारतीय प्रवास की स्वतंत्रता को कायम रखना। भविष्य में जब इतिहास लेखक भारत का इतिहास लिखेंगे तब उन्हें भारतीय प्रवास पर एक महत्त्वपूर्ण अध्याय अवश्य रखना पड़ेगा। अंग्रेज़ी में सीली ने 'इंग्लैंड का विस्तार' नामक जो पुस्तक लिखी है, उससे मिलती–जुलती पुस्तक भारतवर्ष के विस्तार के विषय में लिखनी पड़ेगी।' भारत में आज़ादी से पहले एवं पश्चात् कितने ही इतिहासकारों ने भारतवर्ष का इतिहास लिखा, परन्तु प्राचीन भारतीय इतिहास से संबंधित यदि कुछ पुस्तकों को छोड़ दिया जाय, तो किसी भी विद्वान ने औपनिवेशिक काल में हुए भारतीय प्रवास पर ऐतिहासिक रूप से लगभग कुछ नहीं लिखा। आज प्रवासी भारतीय काफ़ी सशक्त हैं और विविध क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं, फिर भी कुछ कथा–कहानी, उपन्यास और एकांकी को छोड़कर प्रवासी भारतवंशियों से संबंधित अनुसंधानपरक ऐतिहासिक कार्य आज भी नहीं किया जा रहा है, जबकि आज उसकी नितांत आवश्यकता है।

प्रवासी भारतीय एवं हिंदीः

औपनिवेश कालीन भारतीय प्रवास से संबंधित एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि इसी के साथ हिंदी विश्व के अन्य देशों में गयी और उसका विस्तार बढ़ता ही गया। गिरमिटिया की गांठों में बंधकर जब भारतवासी उपनिवेशों में ले जाये गए और वहाँ आबाद होने लगे तब उन में परस्पर विचार–विनिमय की समस्या उत्पन्न हुयी। गिरमिटिया मजदूरों के रूप में तो मुख्य रूप से पश्चिमी बिहार एवं पूर्वी उत्तर प्रदेश के हिंदी भाषी (कलकत्तिया) एवं मद्रासी गए और उनके पीछे व्यापार–व्यवसाय के निमित्त गुजरात, राजस्थान, पंजाब इत्यादि प्रान्तों के लोग स्वतंत्र रूप से और इस प्रकार वहाँ पर विविध भारतीय भाषाभाषी जा पहुँचे। उन में कोई हिंदी या उसकी बोलियाँ–भोजपुरी या अवधी बोलता तो कोई गुजराती, मराठी या राजस्थानी; कोई तमिल बोलता तो कोई तेलुगू, मलयालम या कन्नड और इस प्रकार वे एक–दूसरे की भाषा नहीं समझ पाते थे और इस कारण एक सार्वजनिक भाषा की नितान्त आवश्यकता उपस्थित हुई। पर इस समस्या के हल के लिए न कोई सभा–सम्मेलन हुआ और न ही कोई सार्वजनिक चर्चा, बल्कि सभी ने अपने अंतर्मन से यह स्वीकार कर लिया कि आपस में व्यवहार की भाषा हिंदी होनी चाहिए। इस प्रकार हिंदी प्रवासी भारतीयों की संपर्क

भाषा बन गयी। इस बात का अंदाज़ा इसी से लगाया जा सकता है कि दक्षिण अफ्रीका के नेटाल में मद्रासियों की संख्या हिंदी भाषियों से अधिक थी, पर आर्यभाषा हिंदी से एकदम भिन्न द्रविड़ भाषी मद्रासियों ने हिंदी को शीघ्र ही सीख लिया। इस सन्दर्भ में प्रवासी भवानी दयाल संन्यासी की ये पंक्तियाँ इस बात को और प्रमाणित कर देती हैं कि ''जिन–जिन उपनिवेशों में हमारे देशवासी गिरमिट की प्रथा में गए हैं, यद्यपि वे एक–दूसरे से हज़ारों कोस दूर हैं, कोई प्रशांत महासागर के तट पर है, तो कोई हिन्द महासागर के किनारे, कोई अमेरिका के दक्षिणीय भाग में है, तो कोई अफ्रीका के दक्षिणीय भाग में, तो यह देखकर विस्मय होता है कि उन सभी देशों के प्रवासी भारतीयों ने पारस्परिक व्यवहार के लिए एकमत से हिंदी को ही राष्ट्रभाषा स्वीकार किया – उसी से अपनी तत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति की।'' हिंदी को जो संपर्क भाषा का स्थान मिला वह स्थायी न हो सका और प्रवासी भारतीयों की अगली पीढ़ी पर अंग्रेज़ियत एवं स्थानीय भाषाओं का प्रभाव स्थापित हो गया एवं साथ ही उनमें अनेक विसंगतियाँ भी घर कर गयीं । ऐसी स्थिति में उपनिवेशों में हिंदी का प्रचार कार्य आर्य समाजी प्रचारकों ने किया, जिसका आरम्भ 1905 ई. से होता है, जब दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतवासियों के अनुरोध पर दयानन्द कालेज, लाहौर के प्रधानाचार्य महात्मा हंसराज ने भाई परमानन्द को केवल 27 वर्ष की उम्र में आर्यसमाजी प्रचारक के रूप में नेटाल भेजा। भाई परमानन्द ने वहाँ जाकर नेटाल, मेरित्सबर्ग, लेडीस्मिथ, डंडी, ट्रांसवाल, प्रिटोरिया, केपटाउन, इत्यादि नगरों में आर्य आदर्श और प्राचीन वैदिक धर्म का उपदेश अधिकांशतः हिंदी भाषा में दिया। भाई परमानन्द के बाद उपनिवेशों में आर्यसमाजी प्रचारकों के जाने का एक क्रम आरंभ हुआ, जिसमें स्वामी शंकरानन्द, भवानी दयाल सन्यासी, पं. ईश्वरदत्त जी विद्यालंकार, साईदासजी, ठाकुर प्रवीन सिंहजी, डॉ. भगत. रामजी सहगल इत्यादि ने दक्षिण अफ्रीका में; पं. पूर्णानन्दजी, महारानी शंकरजी, स्वामी स्वतंत्रानन्दजी, पं. बालकृष्ण शर्माजी, पं. मणिशेखरजी, महता जैमिनीजी इत्यादि ने ब्रिटिश पूर्वीय अफ्रीका के देशों–कीनिया, जंजीबार, युगांडा और टंगेनिका में, डॉ. मणिलाल, डॉ. चिरंजीव भारद्वाज, सुमंगली देवी, महता जै. मिनीजी तथा पं. नारायणदत्तजी इत्यादि ने मॉरिशस में; स्वामी राम मनोहरानन्द , गोपेन्द्र नारायणजी पथिक, प. श्रीकृष्णजी, महता जैमिनीजी इत्यादि ने फ़िजी में, महता जैयमिनी, पं. लक्ष्मण प्रसाद, पं. गिरजा दयालजी शर्मा इत्यादि ने सुरीनाम, गयाना और ट्रिनिडाड इत्यादि देशों में आर्यसमाज का प्रचार किया। इन प्रचारकों ने अधिकांशतः हिंदी भाषा में ही प्रचार–कार्य किया, क्योंकि यह भाषा कमोबेश सभी भारतीय समझ सकते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि उपनिवेशों में प्रवासी भारतीयों द्वारा आर्य समाजी संस्थाएँ तो स्थापित हुई ही, साथ ही हिंदी प्रचारिणी सभा, नागरी प्रचारिणी सभा, हिंदी साहित्य सम्मलेन, हिंदी विद्यालय एवं पुस्तकालय सदृश संस्थाएँ एवं कई हिंदी अखबार एवं पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हुईं और इसी के साथ ही शुरू हुआ प्रवासी भारतीयों द्वारा हिंदी में विविध साहित्य का लिखा जाना, जिनमें से कुछ उपनिवेशियों से प्रकाशित हुए, तो कुछ भारत वर्ष से। उपनिवेशों की आज़ादी के बाद भी यहाँ रह रहे भारतीयों ने काफ़ी मात्रा में हिंदी भाषा में साहित्य तैयार किया और वह आज भी प्रगति कर रहा है और आज जिस हिंदी भाषा को संयुक्त राष्ट्रसंघ की आधिकारिक भाषा बनाने का प्रयास किया जा रहा है, उस में प्रवासी भारतवासियों का अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण योगदान एवं समर्थन निहित है। औपनिवेशिक कालीन भारतीय प्रवास एवं उनसे जुड़े तथ्यों का अध्ययन करने पर निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि प्रवासी भारतवंशियों की समस्या पूरे औपनिवेशिक काल में अत्यधिक जटिल रही और भारत की आज़ादी के बाद भी यह पूरी तरह से समाप्त नहीं हुई है। यद्यपि आज प्रवासी भारतवासी स्वतंत्र है और सभी क्षेत्रों में पहले से काफ़ी अधिक सशक्त हुए हैं फिर भी उनसे जुड़ी कुछ मूल समस्याओं पर विचार एवं अनुसंधान किये जाने की नितांत आवश्यकता है, तभी एक वृहत्तर भारत के निर्माण की कल्पना साकार हो सकती है और जिस हिंदी भाषा को संयुक्त राष्ट्रसंघ की आधिकारिक भाषा बनाने का आन्दोलन किया जा रहा है, उसे भी काफ़ी बल मिलेगा।

स्त्रोत :

1. भवानी दयाल संयासी, प्रवासी की कहानी, बाल साहित्य प्रकाशन समिति, कलकत्ता, 1939 ई.।
2. तोताराम सनाढ्य, फ़िजी द्वीप में मेरे 21 वर्ष, रापूत ऐंगलो ओरियंटल प्रेस, आगरा, सं. 1971 वि.।
3. सेठ गोविन्ददास, हमारा प्रधान उपनिवेश, सरस्वती प्रकाशन मन्दिर,

इलाहबाद, सं. 1997 वि.।
4. हरिभाऊ उपाध्याय, वीर सत्याग्रही पं. भवानी दयाल की जीवनी, औदुम्बर कार्यालय, बनारस, 1918 ई.।
5. प्रेम नारायण अग्रवाल, प्रवासी भारतीयों की वर्तमान समस्याएँ, मानसरोवर साहित्य निकेतन, मुरादाबाद, 1935 ई।
6. हिंदी पत्रिका, अक्टूबर, 1924, जगरानी प्रेस, जेकोब्स, नेटाल, दक्षिण अफ़्रीका।
7. विशाल भारत पत्रिका, 1928–1932 ई. तक, विशाल भारत कार्यालय, प्रवासी प्रेस, कलकत्ता।
8. शिवचरण लाल, विदेशों में आर्यसमाज, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, देहली ई.।

nkchat19@gmail.com

हिंदी के विरोध का कोई भी आन्दोलन राष्ट्र की प्रगति में बाधक है।

– सुभाषचन्द्र बोस

हिंदी एक जानदार भाषा है। वह जितनी बढ़ेगी, देश का उतना ही नाम होगा।

– जवाहर लाल नेहरू

स्वाधीनता आंदोलन में हिंदी

– श्री उमेश चतुर्वेदी
भारत

1857 का स्वाधीनता संग्राम भले ही असफल रहा, लेकिन इसने भारत में नवजागरण की नई भूमिका रची। इसके बाद ही देश को सबसे पहले जागरूक बनाया गया और उसमें अपनी भाषा की भूमिका को ठीक से रेखांकित किया गया। हालांकि उसके पहले भी अपनी संस्कृति को लेकर जागरूकता कम नहीं थी। धर्मपाल की पुस्तक 'द ब्यूटीफुल ट्री' के मुताबिक तब देश भर में करीब पाँच लाख पाठशालाएँ चल रही थीं, जिनकी पढ़ाई का माध्यम या तो फ़ारसी था या फिर संस्कृत। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के लिए लोगों में आलोड़न पैदा करने के पीछे इन पाठशालाओं के ज़रिए बनी भारतीय सोच की भी बड़ी भूमिका थी। 1835 में मैकाले ने भारत के लिए जो शैक्षिक योजना बनाई, उसने तब के जागरूक नागरिकों के मन में शक की गुंजाइश बढ़ा दी। लोगों को लगने लगा कि अंग्रेज़ी शिक्षा के ज़रिए ईस्ट इंडिया कंपनी सरकार भारतीय सभ्यता को नष्ट करना चाहती है। इसके बाद ही गाँव–गाँव तक लोग कंपनी राज के खिलाफ़ उठ खड़े हुए। वह आंदोलन भले ही नाकाम हुआ, लेकिन उसकी नाकामी ने अंग्रेज़ों को अपनी तरह की शिक्षा–व्यवस्था को लागू करने और धीरे–धीरे उसे अंग्रेज़ी उन्मुखी बनाने की व्यवस्था भारत पर लादने का मौका दे दिया, जिसका असर आज भारत में अंग्रेज़ी के स्थापित होते प्रभुत्व के रूप में नज़र आ रहा है।

प्रथम स्वाधीनता संघर्ष के दिनों में ही हम देखते हैं कि हिंदी अपना रूप गढ़ने की ओर बढ़ने लगी थी। इसी दौर में ब्रज भाषा के प्रभाव से मुक्त होने की ओर हिंदी बढ़ती दिखती है। इसमें राजा शिवप्रसाद सिंह सितारे हिंद, लक्ष्मण सिंह और भारतेंदु हरिश्चंद्र सामने आते हैं। हालांकि इन रचनाकारों पर प्रगतिशील विचारधारा के लोग आरोप लगाते हैं कि उस दौर के रचनाकारों की रुझान अंग्रेज़ सरकार की प्रशंसा की ओर थी। बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, प्रताप नारायण मिश्र, राजा शिवप्रसाद सिंह सितारे हिंद और भारतेंदु हरिश्चंद्र पर भी ऐसा असर था। लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि उस दौर में इन लेखकों ने अपनी भाषा, अपनी सोच और अपनी परंपराओं को लेकर गहरी चिंता जताने में भी कंजूसी नहीं दिखाई। राजा शिवप्रसाद सिंह सितारे हिंद में हिंद की माटी को लेकर दर्द नहीं होता, तो वे नहीं कहते कि शिक्षा के प्रसार के लिए नागरी लिपि का सर्वत्र प्रचार आवश्यक है। भारतेंदु यह नहीं कहते कि 'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल'।

पहले स्वाधीनता आंदोलन की असफलता के बाद ब्रिटेन की सत्ता का भारत पर सीधे नियंत्रण होने का भारत को एक लाभ यह मिला कि भारतीयों ने समंदर पार करने की अपनी धार्मिक परंपरा को तिलांजलि दे दी और पढ़ाई के लिए वे यूरोप का रुख करने लगे। पढ़ाई के लिए ही की गई इन यात्राओं ने जहाँ स्वाधीनता को लेकर नई सोच विकसित करने में बड़ी भूमिका निभाई, वहीं इन यात्राओं के ज़रिए प्राप्त अनुभवों ने तत्कालीन भारतीयों को अपनी एक राष्ट्रीय भाषा की ज़रूरत की दिशा में भी सोचने को विवश किया। ब्रह्म समाज से जुड़े रहे केशव चंद्र सेन बहुत नफ़ीस अंग्रेज़ी बोलते थे। कहा जाता है कि ब्रिटेन में उनका भाषण सुनने के लिए अंग्रेज़ों का हुजूम उमड़ पड़ता था। लेकिन भारतीय स्वाधीनता संग्राम के इतिहास के संभवतः वे पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने 1875 में पहली बार सार्वजनिक तौर पर स्वीकार किया था कि हिंदी में ही आज़ाद भारत की राष्ट्रभाषा बनने की क्षमता है। उन्हीं दिनों कलकत्ता के धर्मतल्ला में उनकी मुलाकात आर्यसमाज के संस्थापक दयानंद सरस्वती से हुई। प्रख्यात हिंदी विद्वान पंडित कृष्णबिहारी मिश्र ने अपनी पुस्तक 'हिंदी साहित्य की बंगीय भूमिका' में लिखा है कि दयानंद सरस्वती उन दिनों अपने मशहूर ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश को संस्कृत में लिख रहे थे। धर्मतल्ला की मुलाकात में दयानंद सरस्वती को केशव चंद्र सेन ने ही सत्यार्थ प्रकाश को हिंदी में लिखने का सुझाव दिया था। केशव चंद्र सेन से संवाद के बाद दयानंद सरस्वती को भी कहना पड़ा कि हिंदी द्वारा सारे भारत को एक सूत्र में पिरोया जा सकता है।

हिंदी को लेकर इसी दौर में मोटा–मोटी यह विचार बनने लगा कि भारतीयों को जोड़ने के लिए वह कड़ी का काम

कर सकती है। हिंदी की इस ताकत को दक्षिण भारत के भी विद्वान और राजनेता स्वीकार करने लगे थे। आज हिंदी को लेकर दक्षिण भारत के जिस तमिलनाडु राज्य में विरोध के स्वर उठने लगे हैं, वहाँ के विद्वान और राजनेता अनंत शयनम अयंगार ने दक्षिण में हिंदी की स्थिति को इन अर्थों में स्वीकार किया है, ''अहिंदी भाषा–भाषी प्रांतों के लोग भी सरलता से टूटी हिंदी बोलकर अपना काम चला लेते हैं।'' अनंत शयनम् अयंगार की यह सोच ही थी कि उन्होंने संविधान सभा में भारत की भावी राजभाषा के तौर पर प्रतिष्ठा के लिए भरपूर पैरवी की। कृ. रंगनाथ पिल्लयार ने भी कुछ ऐसा ही कहा है। उनका कहना था कि भारत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक हिंदी भाषा कुछ–न–कुछ सर्वत्र समझी जाती है।

स्वाधीनता आंदोलन के संदर्भ में हिंदी की दो भूमिकाएँ दिखती हैं। हिंदी खुद नवजागरण की वाहक भाषा बनती है, फिर वह भावी राष्ट्र और राजभाषा की भूमिका निभाने के लिए खुद को तैयार करने लगती है। हिंदी की भावी ताकत को खुद अंग्रेज़ सरकार भी स्वीकार करने लगी। तभी उसने भारतीय अधिकारियों को प्रशिक्षण देने के लिए कोलकाता के फोर्टविलियम कॉलेज में हिंदी के दो विद्वानों लल्लू लाल और सदल मिश्र की नियुक्ति की। तब भारत, खासकर उत्तर भारत में तैनात किए जाने वाले प्रशासनिक अधिकारियों के लिए हिंदी का ज्ञान ज़रूरी कर दिया गया था। उन अधिकारियों को ये दोनों विद्वान ही पढ़ाते रहे। यहाँ याद दिला देना ज़रूरी है कि लल्लू लाल ने प्रेमसागर और सदल मिश्र ने सुखसागर जैसे ग्रंथों की रचना की, जो कालांतर में हिंदू परिवारों में धर्मग्रंथों की तरह समादृत हुए। वैसे पश्चिम बंगाल की धरती पर पैदा हुए महान क्रांतिकारी अरविंद घोष को स्वाधीनता आंदोलन में हिस्सेदारी के बाद समझ में आने लगा कि बिना हिंदी के भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में सफलता नहीं मिल सकती। उन्होंने कहा है, ''भारत के विभिन्न प्रदेशों के बीच हिंदी प्रचार द्वारा एकता स्थापित करने वाले सच्चे भारत बंधु हैं।''

हिंदी के प्रति बढ़ती यह सोच ही है कि बाद के दौर में भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में सक्रिय बाल गंगाधर तिलक भी हिंदी को ही राष्ट्रीय संपर्क भाषा के तौर पर देखने लगते हैं। 1905 में काशी नागरी प्रचारिणी सभा के वार्षिक कार्यक्रम को मुख्य अतिथि के तौर पर संबोधित करते हुए उन्होंने जो कहा था, उसके एक–एक शब्द पर गौर करने की ज़रूरत है। तिलक ने तब कहा था,

''मैं समझता हूँ कि हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को पूरे देश के लिए एक आम भाषा की ज़रूरत है। एक आम भाषा का होना राष्ट्रीयता का महत्त्वपूर्ण तत्व है। वह आम भाषा ही होती है, जिसके द्वारा आप अपने विचारों को दूसरों तक पहुँचाते हैं। इसलिए यदि हम देश को एक साथ लाना चाहते हैं, तो सबके लिए एक आम भाषा से बढ़कर दूसरी कोई ताकत नहीं हो सकती और यही सभा (नागरी प्रचारिणी सभा) का उद्देश्य भी है।''

यहाँ ध्यान दिया जाना चाहिए कि तिलक तब मराठी में केसरी नाम से अखबार निकाल रहे थे और इसके ज़रिए लोक जागरण करते हुए स्वाधीनता आंदोलन की चिंगारी को शोला बनाने में लगे हुए थे। इसके पहले बलिया के ददरी मेला के ऐतिहासिक मंच से 1893 में भारतेंदु हरिश्चंद्र अपना प्रसिद्ध व्याख्यान 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है' देकर भारत और उसके लोक की बात के साथ ही, उसकी चिंताएँ ज़ाहिर कर चुके थे। इसी दौर में उभरे लेखकों बाबू श्याम सुंदर दास, पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आदि ने हिंदी की ताकत को स्वीकार किया और हिंदी में रचनाधर्मिता को बढ़ावा देना शुरू किया। इसी दौर में हिंदी को मांजने और उसे भारत की भावी राष्ट्रभाषा के तौर पर तैयार करने की कोशिशें भी शुरू हुईं। इसी दौर के लेखक माधव राव सप्रे भी हिंदी की ताकत को स्वीकार करने से अपने को रोक नहीं पाते। वे कहते हैं, ''मैं महाराष्ट्रीयन हूँ, परंतु हिंदी के विषय में मुझे उतना ही अभिमान है, जितना किसी हिंदी भाषी को हो सकता है।''

इस सोच का असर स्वाधीनता आंदोलन में दिखने लगा। महात्मा गांधी के भारतीय राजनीति में उभार के बाद इसे और गति मिली। उन्होंने खुद स्वीकार किया है कि राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र गूंगा है। हिंदी की ताकत को गांधी ने गहरे तक समझा। गांधी को स्वाधीनता भी नज़र आने लगी थी। इसलिए उन्होंने हिंदी को दक्षिण भारत में प्रचारित करने की योजना बनाई। उनकी ही प्रेरणा से 1918 में डॉक्टर एनी बेसेंट और डॉ सीपी रामास्वामी अय्यर प्रेरित हुए थे। फिर दक्षिण के लोगों में हिंदी के प्रचार–प्रसार का कार्य शुरू हुआ। इस संस्था से सी राजगोपालाचारी भी जुड़े रहे। गांधी जी की प्रेरणा से ही केरल में 1934 में केरल हिंदी प्रचार सभा, आंध्र में 1935 में हिंदी प्रचार सभा, हैदराबाद और कर्नाटक

में 1939 में कर्नाटक हिंदी प्रचार समिति, 1943 में मैसूर हिंदी प्रचार परिषद् तथा 1953 में कर्नाटक महिला हिंदी सेवा समिति की स्थापना हुई। इन संस्थाओं के ज़रिए दक्षिण के उन इलाकों में हिंदी को फैलाने की कोशिश हुई, जहाँ इसकी पहुँच सीमित थी। जहाँ दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा के निदेशक पद पर जमनालाल बजाज के अनुरोध पर चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने 1928 से लेकर 1938 तक काम किया था।

ब्रिटेन में रह रहीं भारत विद् फ्रांचेस्का आर्सिनी ने भारतीय समाज पर स्वाधीनता आंदोलन के दौरान पड़े प्रभाव को लेकर एक किताब ही लिखी है, 'हिंदी का लोकवृत्त'। इस शोध पुस्तक में उन्होंने साबित किया है कि स्वाधीनता आंदोलन में हिंदी और उनके पत्रों–मर्यादा, माधुरी, प्रभा, वीणा, सरस्वती, जागरण, हंस आदि ने बड़ी भूमिका निभाई। हिंदी समाज में आज अछूतोद्धार, नारी समानता, बाल विवाह का विरोध, नारी शिक्षा, सबको शिक्षा आदि प्रगतिशील विचारों को बढ़ावा देने और इन्हें लेकर सामाजिक मूल्य रचने में हिंदी पत्रकारिता ने बड़ी भूमिका निभाई है। फ्रांचेस्का के अध्ययन का दायरा 1920 से 1940 तक के दौर की हिंदी पत्रकारिता ही रही है। यह अध्ययन ही साबित करता है कि हिंदी के ज़रिए स्वाधीनता का आंदोलन लड़ा गया, स्वाधीन भारत के लिए मूल्य रचे गए और हिंदी ने भी अपना विकास किया।

यह हिंदी को महत्त्व देना ही था कि गांधीजी की प्रेरणा से 1925 में काँग्रेस ने यह प्रस्ताव पास किया कि कांग्रेस का, काँग्रेस की महासमिति का और कार्यकारिणी समिति का कामकाज आमतौर पर हिन्दुस्तानी में चलाया जायेगा। गांधी जी की प्रेरणा से हिंदी सेवा के लिए कितने ही लोग आगे आए। इनमें से एक नाम काका कालेलकर का भी है। उन्होंने कहा था, ''यदि भारत में प्रजा का राज चलाना है, तो वह जनता की भाषा में चलाना होगा।'' कालेलकर दक्षिण भारत में हिंदी प्रचार के अगुआ रहे। उन्होंने गुजरात में रहकर हिंदी प्रचार का कार्य किया और 1942 में वर्धा में हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की स्थापना में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इसके बाद उन्होंने हिंदी के प्रचार के लिए पूरे देश का भ्रमण किया। हिंदी सेवी के तौर पर पुरुषोत्तम दास टंडन का नाम भी आदर के साथ लिया जाता है। उन्होंने वाराणसी की नागरी प्रचारिणी सभा के प्रांगण में 10 अक्टूबर 1910 को हिंदी साहित्य सम्मेलन की स्थापना की। इसके बाद 1918 में उन्होंने'हिंदी विद्यापीठ' और 1947 में'हिंदी रक्षक दल' की स्थापना की। टण्डन जी हिंदी को देश की आज़ादी के पहले आज़ादी प्राप्त करने का और आज़ादी के बाद आज़ादी को बनाये रखने का साधन मानते थे।

शुरू में हिंदी स्वाधीनता आंदोलन में विचारों की वाहक बनती रही। बाद में इसमें साहित्य रचा जाने लगा। सुभद्रा कुमारी चौहान जो खुद स्वतंत्रता सेनानी भी थीं, ने झांसी की रानी पर कविता ही लिख डाली। इस कविता की पंक्तियाँ – बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी, खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी – आज तक स्वाधीनता और वीरता का पर्याय बनी हुई है। रानी लक्ष्मी बाई के ही चरित्र पर वृंदावन लाल वर्मा ने झांसी की रानी नाम से उपन्यास लिखा। उसमें वे एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, ''रानी स्वराज्य के लिए लड़ी, स्वराज्य के लिए मरी, और अपने आपको स्वराज्य की एक नींव का एक पत्थर बना दिया।'' प्रेमचंद ने जुलूस, सुराज जैसी कहानियाँ, रंगभूमि और कर्मभूमि जैसे उपन्यास ही लिख डाले। इस दौरान जयशंकर प्रसाद ने ऐतिहासिक पात्रों पर केंद्रित कहानियाँ और नाटक लिखकर ना सिर्फ़ हिंदी को समृद्ध किया, बल्कि साहित्य के ज़रिए स्वाधीनता के भावोद्रेक को बढ़ाने में अहम् कार्य किया। उनके नाटक चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि स्वाधीनता की भावना का ही प्रशस्तिगान करते हैं। चंद्रगुप्त नाटक में उनका गीत ''अरूण यह मधुमय देश हमारा, जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा'' आज के दौर में भी रोंगटे खड़े कर देता है। स्वाधीनता और गणतंत्र दिवस के मौके पर उनका लिखा एक गीत अब भी कानों में भारतीयता की अलख जगाते प्रतीत होता है, ''हिमाद्रि तुंग श्रृंग से प्रबुद्ध–शुद्ध भारती, स्वयंप्रभा समुज्जवला स्वतंत्रता पुकारती''। छायावाद के दूसरे प्रखर कवि निराला तो ज्ञान की देवी सरस्वती से लोगों के सुरों में स्वाधीनता के रव ही भरने की माँग करने लगते हैं, ''वर दे वीणावादिनी वर दे/ प्रिय स्वतंत्र–रव अमृत–मंत्र नव भारत में भर दे'' अपनी एक और कविता में वे कहते हैं, ''भारती जय विजय करे'' भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में जैसे–जैसे गांधी का प्रभाव बढ़ता जाता है, हिंदी लगातार स्थापित होती जाती है और हिंदी की रचनाधर्मिता जैसे स्वाधीनता आंदोलन का पर्याय बनती जाती है। इसकी कुछ बानगियों पर इस संदर्भ में ध्यान दिया जाना चाहिए। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने ''भारत–भारती'' में देशप्रेम की भावना को

सर्वोपरि मानते हुए आह्वान किया—

''जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं, नर पशु निरा है और मृतक समान है।''

देश पर मर मिटने वाले वीर शहीदों के कटे सिरों के बीच अपना सिर मिलाने की तीव्र चाहत लिए सोहन लाल द्विवेदी ने कहा—

''हो जहाँ बलि शीश अगणित, एक सिर मेरा मिला लो।''

इसी तरह ''पुष्प की अभिलाषा'' कविता में माखनलाल चतुर्वेदी देश पर मर मिटने वाले सैनिकों के मार्ग में बिछ जाने की अदम्य इच्छा व्यक्त करने लगते हैं,

''मुझे तोड़ लेना बनमाली ! उस पथ पर देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जायें वीर अनेक।''

इसी तरह बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' 'विप्लव गान'में कहते हैं,

''कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल—पुथल मच जाये
एक हिलोर इधर से आये, एक हिलोर उधर को जाये
नाश नाश! हाँ महानाश की!
प्रलयंकारी आँख खुल जाये।''

इसी दौर में श्यामनारायण पांडेय 'हल्दीघाटी' के ज़रिए देशप्रेम के प्राण लोगों में फूँकते हैं...हल्दीघाटी के महाराणा प्रताप का घोड़ा भी वीरता और स्वाधीनता का प्रतीक यूँ बनता है,

''रणबीच चौकड़ी भरभरकर, चेतक बन गया निराला था,
राणा प्रताप के घोड़े से, पड़ गया हवा का पाला था,
गिरता न कभी चेतक तन पर, राणा प्रताप का घोड़ा था,
वह दौड़ रहा अरि मस्तक पर, या आसमान पर घोड़ा था।''

इसके साथ ही राधाचरण गोस्वामी, बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन, राधाकृष्ण दास, श्रीधर पाठक, माधव प्रसाद शुक्ल, नाथूराम शर्मा शंकर, गया प्रसाद शुक्ल स्नेही (त्रिशूल), सियाराम शरण गुप्त, शिवमंगल सिंह 'सुमन', रामनरेश त्रिपाठी, रामधारी सिंह 'दिनकर' आदि ने भी स्वाधीनता की चेतना से ओतप्रोत रचनाएँ लिखीं और इसके ज़रिए स्वाधीनता प्राप्ति के लिए लोगों को प्रेरित किया।

हिंदी की जयगाथा को सुभाष चंद्र बोस ने भी समझा था। उन्होंने कहा था, ''प्रान्तीय ईर्ष्या द्वेष को दूर करने में जितनी सहायता हिंदी—प्रचार से मिलेगी, उतनी दूसरी किसी चीज़ से नहीं मिल सकती। अपनी प्रान्तीय भाषाओं की भरपूर उन्नति कीजिए, उसमें कोई बाधा नहीं डालना चाहता और न हम किसी की बाधा को सहन ही कर सकते हैं। पर सारे प्रान्तों की सार्वजनिक भाषा का पद हिंदी या हिन्दुस्तानी को ही मिला है। हिंदी के विरोध का कोई भी आन्दोलन राष्ट्र की प्रगति में बाधक है।''

हिंदी की आज़ाद भारत में क्या स्थिति होगी, इसका संदेश गांधी ने आज़ादी के फ़ौरन बाद नोआखाली में बीबीसी संवाददाता को दे दिया था। उन्होंने तब कहा था कि पूरी दुनिया से कह दो कि गांधी अंग्रेज़ी नहीं जानता। लेकिन दुर्भाग्यवश, आज़ाद भारत की सरकारों ने गांधी के इस संदेश को नहीं पकड़ा। इसलिए आज़ादी के आंदोलन के दौरान आंदोलन का प्रतीक रही, हिंदी को वह स्थान नहीं मिल पाया, जिसका आज़ाद भारत में वह अधिकारी है और जिसका सपना आज़ादी के रणबांकुरों और विचारकों ने देखा था।

uchaturvedi@gmail.com

हिंदी भाषा अपनी अनेक धाराओं के साथ प्रशस्त क्षेत्र में प्रखर गति से प्रकाशित हो रही है।

— छविनाथ पांडेय

हिंदी : विशेष व्याख्यान

31. भाषा और अधिगम की प्रक्रिया :
स्वरूप और अंतर्संबंध पर एक दृष्टि - डॉ. आनंद कुमार सिंह

32. हिंदी में सृजनात्मक लेखन कार्यशाला के
उपलक्ष्य में वक्तव्य - डॉ. वेद रमण पांडेय

भाषा और अधिगम की प्रक्रिया : स्वरूप और अंतर्संबंध पर एक दृष्टि

– डॉ. आनंद कुमार सिंह
भोपाल, भारत

''भाषा विभेद के पार क्या कोई अभेद भाषिक सत्ता भी है? भाषा दर्शन कहता है– शब्द स्वयं ही एक ऐसी सत्ता है जिससे विद्ध होकर विश्व भासमान होता है–'अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वशब्देन भासके'' (वाक्पदीयं) ऐसी शब्द सत्ता जगत् रूप अर्थ से अभिन्न है जैसे जल और जल की तरगें –''गिरा अरथ जल वीचि सम...'। भारतीय धारणा की भावदृष्टि में जो कुछ भासमान हो रहा है, वह सब कुछ भाषा ही है।'' –प्रमोद कुमार दुबे

(भारतीय भाषाओं की एकात्मता और हिंदी'', स्मारिका, 10वाँ विश्व हिंदी सम्मेलन, पृ 28)

अपने एक प्रसिद्ध वक्तव्य में ए.के. हॉलिडे नामक विद्वान ने भाषा और अधिगम की प्रक्रिया को लेकर तीन महत्वपूर्ण बातें कहीं थीं जो इस लेख में प्रकारांतर से अभिव्यक्त हुई हैं, वो निम्नानुसार हैं–

1. Learning Language अर्थात भाषा सीखना

2. Learning through Language अर्थात भाषा के द्वारा सीखना

3- Learning about Language अर्थात भाषा के बारे में सीखना

इन तीन उपर्युक्त बातों को समझने से ''भाषा और अधिगम की प्रक्रिया : स्वरूप एवं अंतर्संबंध'' का सार भी प्रकट हो जाता है। मोटे तौर पर एक शिशु सबसे पहले भाषा सीखता है। बच्चे से बड़ा होकर वह भाषा सीखकर उसके सहारे अपने पर्यावरण और जगत को समझता है। फिर समझदार होकर वह लौटकर भाषा के बारे में सीखता और समझता है। यह भाषा और अधिगम की पूरी प्रक्रिया है। उदाहरणार्थ हम हिंदी भाषी शिशु के रूप में जन्म लेकर पहले हिंदी सीखते हैं। हिंदी सीखकर उसके माध्यम से हम अन्य सभी विषयों का ज्ञान जिसमें दूसरी भाषाओं का ज्ञान भी शामिल है, सीखते हैं और अंततः परिपक्व होकर हम लौटकर फिर देखते हैं कि हिंदी भाषा का रूप–स्वरूप क्या है, उसका इतिहास और उसकी संस्कृति क्या है! इन्हीं अर्थों में भाषा हमें हमारे स्वरूप का बोध कराती है, जगत के स्वरूप का ज्ञान कराती है और अंत में हमें सक्षम बना देती है कि उसके बारे में हम विचार कर सकें कि वस्तुतः भाषा, मनुष्य और समाज तथा उन्हें जोड़ने वाली मूल चेतना क्या है?

हम जानते हैं कि कोई भी मनुष्य समाज भाषा के सामूहिक बोध के बिना अधूरा पंगु और जड़ है। भाषा का संबंध एकाकी अनुभवों से नहीं है, वही सबसे बड़ा प्रमाण है कि हम चेतना के एक गहरे धागे में एक साथ गुँथे हुए हैं। उसी से हमारी सामुदायिकता भी निर्धारित होती है और सामाजिक उत्तरदायित्व भी। उस चेतना को जो एक मानव समूह को भाषा की चेतना या संवेदना में पिरोकर तैयार करती है उसे 'राष्ट्री' कहा गया है– अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्। एक साथ चलने का भाव, संगमन करने का भाव, आदान–प्रदान करने का भाव भाषा की चेतना में उसकी नाभि से जुड़ा हुआ है।

इसलिए भाषा हमारी सांस्कृतिक चेतना और निधि है जो परम्परा के माध्यम से हमें मिलती है यानी उपलब्ध होती है। यह अलग बात है कि हरेक व्यक्ति को परम्परा प्रवाह से जुड़कर उसके प्रति नमित होकर उसे अर्जित करना पड़ता है और सीखना पड़ता है। इस प्रक्रिया में अनेक व्यवधान हो सकते हैं क्योंकि भाषा को सीखने–सिखाने की प्रक्रियाओं में यह होता ही है। यही नहीं बल्कि सीखने वाले समाज की इकाई जिसे हम व्यक्ति कहते हैं यह उसकी अपनी अर्जनशील अर्हता या पात्रता पर भी निर्भर है। प्रायः देखा जाता है कि एक ही भाषा बोलते हुए भी हम एक दूसरे से कितने भिन्न और अपूर्व विन्यास में अपनी बात कहते हैं। यह पार्थक्य बोध उस इकाई की पृथक उपस्थिति का बोध है जो उसे बाहर से ग्रहण करता है लेकिन उसे समृद्ध भी करता चलता है। इसलिए यह कहना भी उचित जान पड़ता है कि यद्यपि हम भाषा को अपने से पूर्व प्रतिष्ठित समाज से न केवल अर्जित भर करते हैं बल्कि उसमें योगदान भी करते हैं। लेखकों, विचारकों, अनुवादकों, साहित्यकारों और वक्ताओं के माध्यम से भाषा निरन्तर आकृत होती रहती है और यह प्रक्रिया सातत्य में गतिशील रहती है। जो समाज जितना अधिक चिंतनशील, नवोन्मेषी और सर्जनात्मक होगा उस समाज की विकास अवस्था में, उसके

सम्पूर्ण साहित्य में और उसकी अभिव्यक्ति में उतना ही प्रभविष्णु संयम, गरिमा, मानवीय औदात्य, पावनता और मानवीयता की अब तक अनजानी सुगंध भी विद्यमान होगी। इन्हीं अर्थों में हम देखें तो पाएँगे कि हमारी भाषा हिंदी भी पिछले एक हज़ार वर्षों में अनेकानेक परिवर्तनों, सुधारों, संस्करणों से होती हुई सुप्रसिद्ध की भाँति बहती हुई हम तक आयी है। उसने अपने सुरसरि समान अवतरण की प्रक्रिया में घाट–बाट पर अनेक तीर्थ रचे हैं जिनसे पता चलता है कि हमारे सामूहिक चित्त की दशा पिछले हज़ार वर्ष में किस प्रकार से उठती–गिरती हुई हम तक आयी है। तंत्रशास्त्र में कहा गया है कि मनुष्य के भीतर मातृ का रूप में सभी वर्ण बीजावस्था में पड़े रहते हैं, जप और पाठ से वे ही स्फूर्त होने लगते हैं। फ्रैंकफ़र्ट स्कूल के एक प्रसिद्ध समाज वैज्ञानिक जुगेन हैबरमास ने भी कहीं पर कहा है कि मनुष्य के दिमाग की बहुकोशीय संरचना में संस्कृति और समाज नाभिनाल रूप से जुड़े होते हैं। तकनीकी या औद्योगिक समाजों में भाषा और समाज का सहअस्तित्व जब विच्छिन्न हो जाता है तभी अमानवीकरण की प्रक्रिया धीरे–धीरे शुरू होने लगती है। आज इस बात को हम अपने समाज में भी देखते हैं कि जब किसी बच्चे को शिक्षा के लिए कॉन्वेंट स्कूल में भेजने के बाद उसकी परम्परा से उसका वियोगीकरण कितनी तेज गति से और कितने आत्मविश्वासपूर्ण ढंग से होने लगता है। इसी लिए भाषा समय की सम्पूर्ण चेतना का ही रूप है। वह केवल बोली–बानी भर ही नहीं है।

भाषा वैज्ञानिकों ने जबसे इस प्रश्न पर विचार करना छोड़ दिया कि दरअसल भाषा की उत्पत्ति किस प्रकार से होती है तब से यह मूल बात भी बिसरा दी गयी कि दरअसल भाषा मनुष्य के अवचेतन तल से प्रकट हुई है और जिसे हम मनोविज्ञान में 'लर्निंग' या 'अधिगम' कहते हैं वो प्रकृति की आपाततः दृश्यमान जड़ता के भीतर ही छिपी हुई कोई अपूर्वानुमेय चेतना की विशिष्ट उपस्थिति है। बचपन में किसी भाषा को सीखना समझना सुनना और बोलना जितना आसान होता है उतना प्रौढ़ होकर नहीं। इसका कारण क्या हो सकता है– यह सोचने का विषय है। हमारे अवचेतन में भाषा को पकड़ने का कोई जैविक यंत्र या फ्रेम है जिस पर भाषा चढ़ जाती है। उसे अपना स्थान बचपन से ही बनाना होता है और वह बनने लगती है। एक छोटा शिशु जिसकी चेतना का विकास नहीं हुआ है उसका अवचेतन विस्तृत होता है और उसकी सुप्त क्षमताएँ अत्यंत बहुधर्मी और विराट होती हैं।

एक शिशु भाषा को कैसे पकड़ता है? क्या वह व्याकरण को सीखता है तब भाषांतर पकड़ पाता है या पहले भाषा की संरचना ही उसके अचेतन में उतर जाती है? ये कई प्रश्न हैं जो अल्प–उत्तरित हैं। ऐसा नहीं है कि इन प्रश्नों के उत्तर नहीं ढूँढे गए हैं। लेकिन भाषाशास्त्रियों में भी अधिगम की प्रक्रिया को लेकर अनेक मतभेद हैं। स्वयं मनोविज्ञान में सीखने की प्रक्रिया को अचेतन प्रक्रिया ही माना गया है। स्पेक्ट्रम साइकोलॉजी ने तो यहां तक कहा कि भाषा जन्मांतरीय अनुभवों के क्षेत्र से पैदा होती है। वह सबकी यानी एक समान रहने–बोलने–खाने–पीने और जीने वाले लोगों की अचेतन सामूहिकता में विद्यमान अपने विशेष स्वरूप की पहचान की गहन कामना की सचेत अभिव्यक्ति है!

तब, फिर यह प्रश्न भी खड़ा होता है कि दुनिया भर में इतनी भाषाएँ कैसे उत्पन्न हुई हैं? इसका सरल उत्तर तो यही है कि प्राचीन काल में सामूहिकताएँ ऐतिहासिक क्रम में जहाँ –जहाँ अपने स्वबोध की पहचान की ओर या विकास की प्रक्रिया में ज्ञान–विज्ञान की ओर बढती चली हैं वहाँ पर भाषा के जन्म लेने की प्रक्रियाएँ भी एक निश्चित क्रम में धीरे–धीरे ही घटित हुई हैं। उनका संरचनात्मक रूप जटिल सदैव जटिल रहा और उनके भाषाई स्थिरीकरण की प्रक्रिया बहुत ही टेढ़ी–मेढ़ी रही है। एक समूह विशेष ने अपने श्रुति–स्मृति बोध से उसे संग्रहीत किया है और उसके अनेक उपाय और जतन किये हैं। लेकिन हम यह भी देखते हैं कि अत्यंत प्राचीन काल में उन गौरवमय भाषाओं का विकास सामूहिक अचेतन की कितनी गंभीर और क्लिष्ट प्रक्रिया से हुआ होगा। संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, स्लाव, स्पैनिश, फ़्रांसीसी अंग्रेज़ी आदि भाषाओं को देखने से इस प्रतिभा का अनुमान होता है। आज इक्कीसवीं सदी में मानव ने युनिवर्सल भाषा के रूप में कंप्यूटर की भाषा का का विकास किया है लेकिन उसमें सर्जनात्मकता का बहुत अभाव है। यह भी सच है कि अभी इस तकनीकी भाषा विकास की प्रक्रिया भी पूरी नहीं हुई है। भाषाशास्त्रियों ने साठ के दशक में मानव जाति के लिए जिस 'एस्पेरैंटो' नामक बोलचाल की सार्वदेशिक भाषा का गठन करने की प्रक्रिया अपनायी थी वह आगे चल नहीं सकी। उसका मुख्य कारण यही था कि वह हमारी चेतना के अत्यंत गहन अज्ञात और अचेतन रूप से क्रियाशील स्तरों से नहीं बल्कि ज्ञात के क्षेत्रों से प्रकट हो रही थी, जिसमें सृजनात्मकता का गुण नहीं था। कोई

भी जीवित भाषा अपना पुनर्सृजन करती चलती है क्योंकि उसका रूप अस्थिर है। वह उसके उपयोक्ता के स्तर पर जाकर उससे संवाद भी करती है और उसकी रूपात्मक संरचना में सहयोग भी। भाषिक अवदान या सहयोग तो भाषा के उपयोगकर्ताओं के मानसिक स्तर पर निर्भर करता है कि भाषा से वह क्या चाहता है? हमारे देश में बहुत प्राचीनकाल में ही यह बात समझ ली गयी थी कि भाषा कामधेनु की तरह वात्सल्यमयी है और अमृत प्रदान करने वाली है। 'धेनुर्वाक्सुष्टुतैतु'' कहकर इसी ओर संकेत किया गया है कि वाक की साधना ही जीवन की रसात्मक प्राप्ति है। वह समस्त अभिलाषी तत्वों को प्रदान करने वाली सवत्सा गौ की तरह हमारी समस्त कामनाओं की पूर्ति करने वाली है। शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा गया है कि भाषा की इकाई ''शब्द'' ही वह मूल आवेश है जो अंतरिक्ष में व्याप्त चैतन्य शक्ति को प्रकट कर देता है। 'शप्' का अर्थ होता है आवेश या विद्युत । इसी से शब्द बना है। इस एक शब्द ब्रह्म की साधना से ही जीवन में समस्त अर्थों की सिद्धि हो जाती है। कहा गया है कि भाषा में सुप्रयुक्त एक ही शब्द यानी जीवन में एक शब्द की साधना ही कामधुक यानी समस्त कामनाओं की सिद्धि करने वाला हो जाता है। इसलिए भाषा केवल भाषा नहीं है वह चेतना की जन्मभूमि से ही पैदा हुई है। वह न केवल एक सांस्कृतिक भौगोलिकता का निर्माण करती है बल्कि एक समूहबद्ध राष्ट्रीयता का विनिर्माण करने वाली मातृशक्ति भी है। इसी लिए व्यक्ति की पहली भाषा जो उसके अवचेतन यंत्र या फ्रेम पर आरूढ़ हो जाती है उसकी मातृभाषा कहलाती है।

कुछ नए चिंतन जो जेनेटिक कोड से प्रकट हुए हैं उनम. ें भी यह बताया गया है कि मानव मस्तिष्क में ही नहीं बल्कि उसके जीन या गुणसूत्र में ही विशिष्ट भाषा व्यवहार के सूत्र अन्तरवर्ती रूप से बँधे हुए हैं। वह आपसी अंतःक्रिया के माध्यम से सामाजिक गुणानुवंश पर आधारित एक सामाजिक ढाँचे को, उसकी चिंतन प्रक्रिया को तथा उसकी जीवन शैली को प्रभावित करते रहते हैं और उसकी मानव निर्मित परिस्थिति से अंतःक्रिया और संघर्ष करते हुए उसकी चेतना और फलस्वरूप उसकी भाषा को भी बदलते रहते हैं। आदिवासी समूहों की भाषा में परिवर्तन बहुत कम हुए हैं क्योंकि पारिस्थितिकी तंत्र से उन्होंने छेड़छाड़ नहीं की है। उनकी भाषाओं के रूप अधिक स्थिर माने गए हैं। इसलिए उनकी परम्पराएँ और जीवनबोध अपनी केन्द्रीयता में सुरक्षित हैं।

भाषा को केवल बोलने वालों के भौगोलिक और क्षेत्रीय अध्ययन की सुविधाओं से नहीं समझा जा सकता। वह अनेकरूपता को प्रकट करती हुई भी एक सूक्ष्म सांस्कृतिक तंतु से बंधी रहती है। उसे हम 'बानी' या 'बोली' कहते हैं। क्षेत्रिय आस्वादों की मान्य भूमिकाओं को सुरक्षित रखते हुए अपनी–अपनी स्वाभाविक भिन्नता को भाषाएँ अपनी उपभाषाओं और विभाषाओं के द्वारा प्रकट करती हैं। ''कोस –कोस पर बदले पानी चार कोस पर बानी'' जैसी लोकोक्तियों की चेतना में भी यही बात है। सार्वभौम मनुजता की पहचान कराने के लिए प्राचीन काल के ऋचतकों ने भी यह माना था कि महत्वपूर्ण हमारी भाषिक विभिन्नताएँ नही हैं बल्कि वह तत्व अधिक महत्वपूर्ण है जो भाषा, भूषा, भोजन, भजन की विविधताओं के बावजूद सबको धारण किये हुए चल रहा है। यह एक बहुत बडी और संगमनशील अस्तित्वसिद्धि है जो पूरी मानवता को एक समान अभिव्यक्ति का भिन्नात्मक अवसर देती है। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है कि सर्जनात्मक रूप से जब ज्ञान या वेद विस्तृत होने लगता है तो उसे पहुँचाने वाली भाषा भी अपना रूप बदलने लगती हैः

तहाँ बेद अस किरन राखा
भजन प्रभाव भाँति बहु भाषा ।।

भाषा की विविधता मानव जीवन की विविधता की प्रतिपूर्ति करती है। वह इस बहुलता की भी परिचायक है कि यह पृथ्वी अत्यंत प्राचीन काल से ही अनेक प्रकार के भाषाभाषियों, अनेक प्रकार के मत–मतान्तरों के उपासकों और अनेक प्रकार के जातीय मनुष्यों को धारण करने वाली है। अथर्ववेद में कहा गया है :

जन्म विभ्रती बहुधा विवाचसं
नाना धर्मांन्धता पृथिवी यथौकसं।
सहस्र धारा द्रविणस्य मे दुहां
ध्रुवैव धेनुरनपस्फुरंती।।

–अथर्ववेद

अर्थात यह पृथ्वी अनेक भाषाओं के बोलने वालों, अनेक धर्मों के उपासकों और नाना प्रकार के मनुष्यों को धारण करने वाली है।

2

इस बात को न समझने के कारण ही बाहर से भारत आकर भारत की भाषाओं का और इस बहाने अत्यंत प्राचीनकालीन परम्पराओं का अध्ययन करने वाले विदेशियों ने समझदारी की मनमानियां की और उन्हें हमारे ऊपर ही अधिरोपित कर दिया। उन्हीं के द्वारा संचालित कॉलेजों में उन्हीं की किताबें का अध्ययन कर हम भी उनकी तरह ही भाषा और सामाजिक अधिगम का उल्लंघन करते हुए अपने स्वरूप को ही भुला बैठे। इसका एक उदाहरण देखने योग्य है। हिंदी भाषा और हिंदुस्तान के बारे में जो मत अब अमान्य हो चुका है वो ग्रियर्सन का है। जार्ज ग्रियर्सन ने 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑफ़ हिंदुस्तान' की भूमिका में लिखा है कि हिंदुस्तान से उनका आशय क्या है– I may add that by Hindustan I mean Rajputana and the valleys of the Jamuna and of the Ganges as far east as the river Kosi] and that I do not include under that term either the Punjab or the lower Bengal- जार्ज ग्रियर्सन भारत की विशालता से अपरिचित ही लगता है जब वह कहता है: The vernacular languages dealt with may roughly be considered as three in number, Marwadi, Hindi and Bihari.

वह मारवाड़ी और बिहारी को और उनकी उपभाषाओं –विभाषाओं को भी हिंदी नहीं मानता। कहने का आशय यह कि भाषा जो एक सांस्कृतिक स्वरूप को जन्म देती है उसे बिना समझे हुए हम किसी देश की परम्परा और उसके अवदान को नहीं समझ सकते। इस बात को न समझने के कारण ही प्राच्यवादियों ने जितना लाभ किया उससे कहीं अधिक जाने –अनजाने नुक़सान किया। यही कारण है कि ग्रियर्सन ने 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इंडिया' में जो भाषिक आधार प्रस्तुत कर दिया उसे ही गिलक्राइस्ट ने भी माना और भारत की चेतना को हिंदी–उर्दू विवाद में कुछ इस तरह द्विराष्ट्रीय बनाकर प्रस्तुत किया जिससे भाषा का बँटवारा आगे चलकर संस्कृति और राष्ट्र के बँटवारे में बदल गया। तभी से भाषा आगे चलने लगी और ज्ञान की प्रक्रिया उसकी अनुवर्तिनी हो गयी। यह अंग्रेज़ी शिक्षा पद्धति की देन थी जिसने विलोम प्रत्यय रच कर संस्कृत और प्राकृत में भी विभेदीकरण कर दिया। ग्रियर्सन ने लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इंडिया की भूमिका में लिखा कि '' प्राकृत का अर्थ है संस्कृत से भिन्न यानी नक़ली से भिन्न सहज भाषा।'' वह कहना यह चाहता है कि जो वेदमंत्र हैं वे मूलतः प्राकृत में रहे होंगे, पंडितों ने उन्हें संस्कृत या नकली भाषा में सुरक्षित कर लिया। जबकि वास्तविकता यह है कि पाणिनि ने कहा है कि प्राकृत और संस्कृत एक ही वर्णमाला की भाषाएँ हैं। राम विलास शर्मा ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ''भाषा और समाज'' में ग्रियर्सन के छल को उजागर किया है। आर्य बनाम अनार्य, संस्कृत बनाम प्राकृत, हिंदी बनाम उर्दू के विद्वेषों के कारण आज भारत की सभी सामाजिक इकाइयाँ तरह–तरह के विभेदीकरण और अलगाववाद की राजनीति की शिकार हैं।

आज हमें यह देखना होगा कि भाषा केवल व्याकरण मात्र नहीं है जो हमारी अभिव्यक्ति को सामने लाती है बल्कि उससे कहीं बहुत आगे वह हमारे सामुदायिक मन की पारंपरिक अभिव्यक्ति है जो सूक्ष्म संस्कारों के माध्यम से यह बताती है कि भाषा को सीख लेने के बाद आप भाषा के साथ ही भाषाभाषियों के समुदाय के अचेतन भाग हो जाते हैं और उसे अपनी चेतना से प्रभावित भी करते हैं। यानी सुनने–बोलने से लेकर उसके प्रातीकिक चिह्नांकन के आगामी रूपों लिखने और पढ़ने तक पहुँच कर अधिगम की प्रक्रिया केवल भाषा के व्याकरण और बोलचाल के रूपों तक ही सीमित नहीं रहती वह उसका अतिक्रमण करती हुई मनश्चेतना की कारक बन जाती है। यही वह अन्तरसंबंध है जिसे हम समाज में भाषा के माध्यम से रचते हुए विकसित होते हैं और भाषिक अधिगम करते हुए संसार को समझने का परिप्रेक्ष्य ग्रहण करते हैं।

संदर्भ

1. The modern Vernacular Literature of Hindustan, Grierson, George Abraham,1880, Asiatic Society, Calcutta
2. Linguistics Survey of India, Vol. VI Indo–Aryan Family,Kalpak Publication, Delhi, Indian Reprint 2017
3. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल प्रकाशन, पचना, 1977
4. स्मारिका, 10 वाँ विश्व हिंदी सम्मेलन, विदेश मंत्रालय, भारत सरकार

aanandksingh@gmail.com

हिंदी में सृजनात्मक लेखन कार्यशाला के उपलक्ष्य में वक्तव्य

– डॉ. वेद रमण पांडेय

विश्व हिंदी सचिवालय मेरी जानकारी में हिंदी भाषा और साहित्य का पूरे विश्व में एक मात्र स्मारक केंद्र है। शायद किसी भाषा का और उसके साहित्य का ऐसा स्मारक केंद्र और कहीं नहीं है। विश्व में हिंदी का स्वरूप कैसा है और कैसा होना चाहिए इसका स्वप्न केंद्र भी है। हिंदी आकाश की बुलंदियों को कैसे छूए, इसका प्रक्षेपण केंद्र भी है। यह लॉन्चिंग पैड है। यह विश्व हिंदी सचिवालय मॉरीशस सरकार और भारत सरकार का पूरे विश्व को एक अनमोल तोहफ़ा है। मनुष्य का जो शरीर है, इसी शरीर से कलाएँ निकली हुई हैं। अगर हम चलते–चलते लय से चलने लगें तो नृत्य होता है। अगर बोलते–बोलते लय से बोलने लगें तो गीत होता है। लिखते–लिखते लय से लिखने लगे तो कविता होती है। कुछ उकेरते–उकेरते लय से उकेरने लगें तो चित्र होता है। ये शरीर जब लय के साथ जुड़ जाता है, तो सारी कलाएँ निकलती हैं। साहित्य भी एक कला है। और अक्सर लोग सवाल करते है कि साहित्य का लेखन क्यों? साहित्य में सृजन क्यों? साहित्य ज़रूरी है क्योंकि अगर जाड़े के मौसम में हमारे शरीर को ठंडक लग रही है, तो हम दुशाला ओढ़ लेते हैं। जूते पहन लेते हैं, लेकिन जब आत्मा को ठंडक लगने लगे तब साहित्य मनुष्य की आत्मा को गरमी देता है। इसलिए साहित्य का सृजन ज़रूरी है। हम जन्म लेते हैं, लेकिन मनुष्यत्व का भाव यहाँ पृथ्वी पर आकर अर्जित करते हैं। साहित्य वह घर है जहाँ आकर किसी को पहली बार अपने मनुष्यत्व का बोद्ध होता है। मनुष्य धरती पर आता है और चला जाता है, लेकिन साहित्यकार आता है जाता नहीं है। तुलसीदास अभी भी हैं। रबीन्द्रनाथ ठाकुर अभी भी हैं। मनुष्य आता है तो उसके आने के हस्ताक्षर किसी कागज़ पर होते हैं। जो सृजन होता है वह समय पर किया हुआ उसके हस्ताक्षर होते हैं, जो अमिट हैं। अभिमन्यु अनत भले ही दैहिक रूप से हमारे बीच न हों लेकिन वे हमारे बीच हैं। हमारे जीवन में कैसे लय हो, हम कैसे अधिक सुसंस्कृत हों, हम और बेहतर मनुष्य कैसे बनें यह साहित्य बताता है और विश्व हिंदी सचिवालय साथ में महात्मा गांधी संस्थान ये दोनों संस्थाएँ मिलकर इस दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रयास कर रही हैं। मैं उस धरती पर खड़ा हूँ, जिस धरती पर महात्मा गांधी आए और रवीन्द्रनाथ ठाकुर को न आने का आजीवन अफ़सोस रहा। जिस धरती को रबीन्द्रनाथ ठाकुर देखना चाहते थे, हम कितने भाग्यशाली है, ऐसी भूमि पर आकर, ऐसी भूमि पर बने एक स्वप्न केंद्र में खड़े होकर हिंदी के विश्व और विश्व में हिंदी, इन दोनों का विस्तार, यह एक स्वप्न से गुज़रने जैसा है और इसे साकार करने में मॉरीशस सरकार, यहाँ की संस्थाएँ और यहाँ के हिंदी प्रेमी एक साथ सक्रिय हैं। मुझे उम्मीद ही नहीं पूरा विश्वास है कि विश्व हिंदी सचिवालय पूरी दुनिया का बल्कि कहें तो हिंदी का एक ऐसा तीर्थ स्थल बनेगा, जहाँ सभी आना चाहेंगे। मैं इस पुण्य भूमि और इस तीर्थ स्थल दोनों को सादर प्रणाम अर्पित करता हूँ।

ved.hindi@presiuniv.ac.in

हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य को सर्वांगसुंदर बनाना हमारा कर्त्तव्य है।

– डॉ. राजेंद्रप्रसाद

हिंदी : आज के प्रश्न

33. विश्व हिंदी अभियान से भारतविदों को जोड़ने की आवश्यकता - श्री सुरेश कुमार श्रीचंदानी

34. कब सजेगी हिंद के माथे पर हिंदी की बिंदी? - श्री गोवर्धन यादव

विश्व हिंदी अभियान से भारतविदों को जोड़ने की आवश्यकता

– श्री सुरेश कुमार श्रीचंदानी
अजमेर, भारत

हालांकि भारत विद्या के अध्ययन और अध्यापन के विशिष्ट उद्देश्य एवं लक्ष्य हैं फिर भी यदि विषयों के परस्पर संबंधों पर गहराई से विचार किया जाए तो अनेक विषय एक दूसरे के पूरक दिखलाई पड़ते हैं। इस नाते यह विचार कि क्यों न विश्व हिंदी अभियान में भारतविदों की भूमिका को विस्तार देकर उनके सक्रिय सहयोग और सकारात्मक अभिप्रेरण का मार्ग प्रशस्त किया जाए – कई अर्थों में महत्त्वपूर्ण है। पिछले लगभग चार दशकों से विश्व भाषा के रूप में हिंदी को प्रतिष्ठित करने के लिए नियोजित प्रयासों के अंतर्गत जिन अभियानों, कार्यक्रमों एवं मंचों आदि का सहारा लिया जाता रहा है, उनमें भारतविदों की भूमिका को इस परिप्रेक्ष्य में विस्तार देने को उतना महत्त्व नहीं दिया जा रहा है, जितना कि दिया जाना चाहिए। इस संबंध में विश्व हिंदी संगठनों और सम्मेलनों में इसके निमित्त विधिवत रूप से न केवल औपचारिक प्रस्ताव पारित करने की आवश्यकता है, अपितु उस पर ठोस कार्रवाई करने के नाते अनेकानेक अनुकूल प्रयास करने की आवश्यकता भी है, जो कि प्रकारांतर से विश्व में हिंदी के फलक की व्याप्ति बढ़ाने में कारगर सिद्ध हो सकेगी।

वर्तमान में लगभग सभी विकसित देशों की महत्त्वपूर्ण शिक्षण संस्थाओं, विश्वविद्यालयों, अकादमिक शाखाओं और अन्य निकायों में भारत विद्या प्रकोष्ठ या विद्यापीठ किसी–न–किसी रूप में क्रियाशील हैं। आधे से अधिक विकासशील देशों के कई सरकारी या निजी शैक्षणिक संस्थानों एवं अन्य सांस्कृतिक संगठनों के स्तर पर भारत विद्या एकांश संचालित हो रहे हैं। अविकसित देशों में से भी कुछ गिने–चुने देशों में भारत विद्या की किरणों का प्रस्फुरण हो रहा है। भारतीय डायस्पोरा के देशों में इसके लिए अत्यंत अनुकूल वातावरण है। वैश्विक स्तर पर भारतविद्या के समरूप पाठ्यक्रम में न केवल विश्व हिंदी अभियान का परिचय दिया जा सकता है, अपितु भारत विद्या के पठन–पाठन में उसके सकारात्मक पहलुओं को भी उजागर किया जा सकता है और नवीनतम अवसरों और सम्भावनाओं के दृष्टिगत विश्व में हिंदी को बढ़ावा देने के प्रयासों के संदर्भ में भारत विद्या के वास्तविक स्वरूप की पुनः व्याख्या के द्वार भी खोले जा सकते हैं।

भाषा के रजिस्टर यानी प्रयोग विशेषतः बोलने के स्तर पर विश्व में प्रथम स्थान रखने वाली हिंदी भाषा के साथ घोर विडम्बना की स्थिति ही कही जाएगी कि जहाँ एक ओर इससे कमत्तर प्रयोग की भाषाएँ विश्व भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हैं जबकि हिंदी को औपचारिक रूप से विश्व भाषा होने की मान्यता नहीं दी जा रही है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि वैज्ञानिक भाषा होने और अन्य कई गुणों से सम्पन्न होने से ही विश्व में हिंदी का प्रयोग बढ़ रहा है, इसकी प्रगति में भारतविद अपना महत्त्वपूर्ण और निर्णायक योगदान दे सकते हैं। पिछले कुछ दशकों में उपलब्ध होने वाले महत्त्वपूर्ण गौरव ग्रन्थों, हिंदी क्षेत्र में ज्ञान और सूचना के विस्फोट तथा अन्य भाषाओं के शब्दों और कृतियों के हिंदी रूप आसानी से सुलभ होने लग गए हैं। अगर विश्व जनमानस को इनका वांछित उपयोग करने में समर्थ बनाने की परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी जायें तो यह अपने आप में महत्तम विश्व–कल्याण का कार्य होगा।

इस बात में कोई संदेह नहीं कि वैश्विक स्तर पर हिंदी भाषा के प्रयोग की असीम सम्भावनाएँ हैं। हिंदी भाषा का संस्थापन, अनुरक्षण और विकास जैसी अवस्थाओं में भारतविदों की विविध क्षमताओं का उपयोग किए जाने के लिए विभिन्न विश्वस्तरीय संस्थाएँ अपने कार्यक्रम बना सकती हैं अथवा अपने मौजूदा कार्यक्रमों में ऐसे परिवर्तन कर इसकी विशिष्ट प्रणाली विकसित कर सकती हैं। वैश्विक संगठन इस पर विशेष संदर्भ में विचार कर सकते हैं और तदन्तर रूप से स्थायी नीति या विशेष योजनाएँ बना सकते हैं। भारत विद्या क्षेत्र से ही यह ज्ञात हो सकेगा कि विविध भाषाओं के साहित्य के परस्पर आदान–प्रदान के प्रयासों को अधिक लाभदायी कैसे बनाया जाए। अगर इस दिशा में भारतविदों का योगदान प्राप्त किया जाए, तो ऐसा योगदान इसे उचित तार्किक परिणति तक पहुँचाने में सफल हो सकता है। हिंदी भाषा भारत विद्या के विकास में सकारात्मक

भूमिका निभा सकती है, तो भारत विद्या विषय भी कई क्षेत्रों में हिंदी के संस्थापन की अवस्था को सुदृढ़ आधार प्रदान कर सकता है।

अगर भारत विदों का सतत् सहयोग हिंदी के वैश्विक प्रचार–प्रसार की दिशा में मिलने लगे, तो इस दिशा में बाधा बनने वाली राजनीतिक और आर्थिक कठिनाइयों को पार करने में भी आसानी हो सकती है। तब हिंदी की अखंड ज्योति अनेक अंध कूपों को आलोकित करती चली जाएगी और हिंदी की विकास यात्रा का रथ नए–नए सोपान तय करता रहेगा। भारतविद् ही अपने कार्यक्षेत्रों में हिंदी के संस्थापन की सम्भावनाओं को खोजेंगे तथा वे उन क्षेत्रों में हिंदी की जड़ को गहरा पैठा देंगे तथा उनसे जुड़ने वाले गैर हिंदी भाषी भी उस पौधे को सींचने के लिए मचल उठेंगे। हिंदी की ऐसी दिग्विजय का आधार 'बल प्रयोग' न होकर हिंदी की गुणवत्ता, हिंदी की प्रयोजनशीलता और हिंदी की नैसर्गिक सुगंधि का फैलाव होगा।

भारत की सामासिक संस्कृति, विश्व के विराट स्वरूप के दर्शन की संकल्पना और कण–कण घट–घट में विश्वात्मा के दर्शन का भाव रखने से हिंदी का निकट संबंध रहा है। हिंदी के माध्यम से ही ज्ञान की विभिन्न शाखाओं एवं संस्कृतियों के अन्तःसम्बन्धों को जानने में कई सफलताएँ प्राप्त होती रही हैं। जब जर्मनी के भारतविद् श्री गुस्ताव रॉथ को हिंदी भाषा की सहायता से जैन दर्शन की श्वेताम्बर शाखा में वर्णित धान के व्यापारी से संबंधित पाँच चावल के दानों की उपमा का ज्ञान प्राप्त हुआ और उन्हें ऐसी समतुल्य उपमा हिब्रू भाषा के ल्यूक मैथ्यु की कथा में दिखलाई दी तभी उन्हें विश्व में दोनों उपमाओं की समतुल्यता और संस्कृतियों की विविधता में एकता का प्रचार–प्रसार करने में सफलता मिल सकी। इसे भी अप्रत्यक्ष रूप में हिंदी का प्रचार–प्रसार ही माना जाना चाहिए। ऐसे उदाहरणों से विश्व की विभिन्न भाषाओं के साहित्य की अंतर्निहित एकता को खोजने के द्वार खुलते रहते हैं। ऐसी खोज में सफलता प्राप्त होने पर महान् भारतविद् श्री गुस्ताव रॉथ की यह धारणा बलवती हुई कि भारत की संस्कृति का अध्ययन विश्व की अन्य प्राचीन संस्कृतियों के संदर्भ में करना विश्व के लिए कल्याणकारी है। ऐसा एक अन्य उदाहरण जर्मन के भारतविद् डीटर शिलनग्लाफ को प्राप्त अनुभव के रूप में है। उनके एक शोध से यह निष्कर्ष निकला कि ईसाई धर्म के जोसाफ़त और बौद्ध धर्म के बोधिसत्व समतुल्य हैं। इसी प्रकार एकसिंघा की पौराणिक कल्पना बौद्ध धर्म, यूनानी विद्या और ईसाई धर्म में समान रूप से विद्यमान है।

ऐसे ही अनेक उदाहरण भारतविदों को अपने क्षेत्र में विविध नवोन्मेष सुलभ करने में सहायक हो सकते हैं, लेकिन ऐसा तब होगा जब वे हिंदी की विराट शक्ति को अनिवार्य रूप से पहचानें और उससे तदनुकूल परिणाम प्राप्त करने में प्रयासरत रहें। हिंदी के वैश्विक स्वरूप के भली–भांति निर्धारण के लिए भारतविदों के सामर्थ्य को उचित महत्त्व दिया जाना चाहिए।

गैर नियोजित रूप में हिंदी के वैश्विक प्रसार के दृष्टिगत इस समय विश्व स्तर पर जितनी भी अशासकीय संस्थाएँ, मंच और समितियाँ आदि हिंदी को वाजिब स्थान पर प्रतिष्ठित करने के लिए प्रयासरत हैं, उन्हें नई वैश्विक व्यवस्था के अंतर्गत भारतविदों के लिए ऐसी सकारात्मक भूमिका का निर्धारण करना होगा, जिससे कि वे हिंदी की अमरबेल को वितान देते रहें। इक्कीसवीं शताब्दी के वरदान सूचना प्रौद्योगिकी के विकास और हिंदी भाषा से इसके तालमेल से भी ऐसे अवसरों और सम्भावनाओं में बहुगुणकीय परिणाम प्रत्याशित हैं। इससे भी भारतविदों की नई भूमिका की रचना हो सकती है। वहीं हिंदी के प्रसार के उत्तरदायित्व की संलग्नता भी उनकी दक्षता की वृद्धि में सहायक योगदान दे सकती है। विश्व की हिंदी संस्थाओं को इस स्तर पर हिंदी के विकास की राह खोजनी होगी।

अतः अगर भारतविदों की भूमिका को हिंदी की विश्व प्रतिष्ठा की यात्रा की धुरी बना दिया जाए, तो हिंदी विश्व बंधुत्व का संदेश अधिक कारगर रूप में एवं अधिक आसानी से प्रसारित कर सकेगी।

shrichandani3@gmail.com

कब सजेगी हिंद के माथे पर हिंदी की बिंदी ?

– श्री गोवर्धन यादव
छिन्दवाड़ा, भारत

हिंदी भाषा हमारा राष्ट्रीय गौरव है। हमारी पहचान है। हमारा स्वाभिमान है। हमारी अस्मिता है। यह मात्र एक भाषा भर नहीं हैं। इसमें मिठास है, मिट्टी की सोंधी खुशबू है। माँ का प्यार है... हमारी आन–बान–शान है, एक जीवन–धारा है, एक सभ्यता है, हमारा गौरव है, एक जीवन शैली है, विचारों का लहलहाता सागर है, संवेदनाओं की झील है, हमारा कंठहार है और भगीरथी गंगा है। यह वह भाषा है जो सुदूर कश्मीर से कन्याकुमारी, अटक से लेकर कटक तक लोगों को एकसूत्र में बाँधे हुई है। यह वह भाषा है, जिसमें हमारे शूरवीर, क्रांतिकारियों ने धूर्त अंग्रेज़ों को ललकारा था। यह वह भाषा है, जिसमें आज़ादी के दीवानों ने जोशीले तराने गाए थे।

यह वह भाषा है, जिसके माध्यम से देश को सांस्कृतिक एकसूत्रता प्रदान करने की आवाज़ बंगाल के राजा राममोहन राय, बंकिमचन्द्र चटर्जी तथा विद्यासागर जैसे दूरदर्शी नेताओं ने उठाई थी। उधर गुजरात में हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का आन्दोलन स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आरंभ किया और संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित होते हुए भी सारे ग्रंथ हिन्दी में लिखे। कालान्तर में महात्मा गांधी ने हिंदी आंदोलन के अध्यक्ष बनकर राष्ट्रभाषा हिन्दी को बल प्रदान किया। यही कार्य गोविन्द रानाडे तथा गोपाल हरि देशमुख ने किया। हालाँकि पंजाब प्रांत में उर्दू, फ़ारसी का बोलबाला था, किन्तु आर्य समाज की स्थापना के साथ हिन्दी अध्ययन तथा हिन्दी के प्रचार–प्रसार की योजनाएँ बनीं।

जलियांवाला बाग हत्याकांड के पश्चात् जब अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन आयोजित किया गया तब स्वागताध्यक्ष के पद से स्वामी श्रद्धानन्दजी ने अपना स्वागत–भाषण हिंदी में दिया। कांग्रेस के मंच से दिया गया यह प्रथम हिंदी भाषण था।

1893 में काशी में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। सभा ने जहाँ हिंदी की रक्षा और प्रचार का काम किया, वहीं सरकारी कामकाज में हिंदी के प्रयोग का समर्थन किया। महामना मदनमोहन मालवीय जी का सहयोग इस सभा को मिला और संयुक्त प्रान्त के सरकारी दफ़्तरों में हिंदी का प्रयोग होने लगा। 1910 में हिंदी साहित्य सम्मेलन की स्थापना के साथ ही हिंदी के राष्ट्रव्यापी प्रचार को बल मिला।

आज विश्व में सर्वाधिक समझी और बोली जाने वाली हिंदी को महात्मा गांधी, मदनमोहन मालवीय, नेताजी सुभाषचन्द्र बोस, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, राजर्षि टंडन, डा. राममनोहर लोहिया और सेठ गोविन्ददास जी ने राष्ट्रीय आंदोलन का एक हिस्सा बना दिया था। परिणामस्वरूप ही देश के कोने–कोने में राष्ट्रीय चेतना व्याप्त हो गई क्योंकि वे जानते थे कि अंग्रेज़ी के माध्यम से कुछ प्रतिशत ही लोगों तक पहुँच सकते थे।

हिंदी में कबीर, सूर, तुलसीदास, रहीम, रसखान, जयशंकर प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी वर्मा, मैथिलिशरण गुप्त, सोहनलाल द्विवेदी, हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, मुंशी प्रेमचन्द आदि अनेक कवियों और लेखकों ने इसे समृद्ध बनाया।

भारत एक अद्भुत देश है, जहाँ बहुजातीय, बहुभाषी और बहुधर्मी मानव–समुदाय परस्पर मेल–मिलाप और सौहार्द के साथ मिलकर रहते हुए एक गौरवशाली राष्ट्र का निर्माण करते हैं। इन सबकी मिली–जुली सामाजिक संस्कृति ही भारत की शक्ति है।

भाषा का निर्माण टकसाल में न होकर सड़कों पर होता है, चौपालों में होता है, गाँव के गलियारों में होता है और उसका शिल्पी देश का आमजन है। भाषा की समृद्धि एवं संपन्नता जन–जन की भाषा के प्रति सजगता, सक्रियता एवं जागरुकता पर निर्भर करती है। भाषा के विनाश एवं विकास में वही एकमात्र जिम्मेदार होता है। आज वह जिम्मेदारी खतरे में पड़ी नज़र आती है। सबसे पहले मुगलों ने हिंदी के साथ अन्य भाषाओं का संयोग–समन्वय किया। इससे हिंदी भाषा का विभाजन नहीं हुआ, बल्कि उसकी विविधता में विकास ही हुआ। हिंदी में उर्दू और फ़ारसी आदि भाषाओं का सुन्दर गठजोड़ हुआ। भाषा कई आयामों में विकसित हुई। विकास के इन मूल कारणों को अंग्रेज़ों की अंग्रेज़ी ने कुठाराघात किया और इसे कमज़ोर करते हुए हिंदी के स्थान

पर अंग्रेज़ी को प्रतिष्ठित करने का कुचक्र रचा। काफ़ी हद तक यह कुचक्र सफल हुआ, जिसका परिणाम हम सब के सामने है कि हम हिंदी से अधिक अंग्रेज़ी बोलने में गर्व अनुभव करते हैं।

संविधान निर्माताओं ने 14 सितम्बर 1949 को हिंदी को राजभाषा घोषित किया। राजभाषा का आशय था – राजकाज की भाषा के रूप में हिंदी का प्रयोग। केन्द्र सरकार के कार्यालयों की भाषा के रूप में हिंदी को अपनाया जाना। इसे ''आफ़िसियल लैंग्वेज'' का नाम दिया गया। अंग्रेज़ी को सहभाषा बनाते हुए उन्होंने सोचा था कि देश में अंग्रेज़ी का प्रयोग धीरे–धीरे कम करके भारतीय भाषाओं और हिंदी का प्रयोग होने लगेगा, क्योंकि अंग्रेज़ी देश को दो हिस्सों में बाँटती है। एक वर्ग है, जो अपने को आम जनता से अलग कर अंग्रेज़ी भक्त होने के कारण स्वयं को खास कहता है। जबकि दूसरा वर्ग हिंदी प्रेमी है। वह जानता है कि हिंदी राष्ट्रीय चेतना, राष्ट्रीय सम्मान और राष्ट्रीय एकता का माध्यम है।

2 जनवरी 1950 को भारत के संपूर्ण जनतंत्रात्मक गणराज्य बनने के साथ ही संघ की राजभाषा ''हिंदी'' तथा लिपि ''देवनागरी'' घोषित की गई। यह संकल्प लिया गया कि अंग्रेज़ी का प्रयोग सरकारी कामकाज की भाषा के रूप में 26 जनवरी, 1965 में सिमट जाएगा। ऐसा नहीं हुआ, हिंदी राष्ट्रभाषा के रूप में अपना स्थान बना नहीं सकी। 1967 में ''राजभाषा संशोधन विधेयक–1967'' के माध्यम से अंग्रेज़ी के प्रयोग को अनिश्चितकाल के लिए बढ़ा दिया गया, जिससे हिंदी सिर्फ़ राजभाषा विभागों में सिमटकर रह गई। इससे पहले 7 जून 1955 को श्री बी.बी. खेर की अध्यक्षता में राजभाषा घोषित किया गया। संविधान सभा के संकल्प के बावजूद हिंदी वास्तविक राजकाज की भाषा न बनकर सिर्फ़ ''आफ़िसियल लैंगवेज'' के दायरे में सिमट कर रह गयी। खेर आयोग के बाद ही केन्द्रीय हिंदी समिति प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में बनी और फिर एक और समिति सरकारी प्रयोजनों के लिए हिंदी के प्रगामी प्रयोगों से संबंधित मामलों पर भारत सरकार को सलाह देने के लिए गृहमंत्री की अध्यक्षता में गठित की गई। इसके बाद गृह मंत्रालय के राजभाषा विभाग के सचिव के अधीन एक और समिति का गठन किया गया। संसद की समितियों की कड़ी में संसदीय समिति भी गठित की गई। यह सब हिंदी को राजकाज की भाषा के रूप में बढ़ावा देने के लिए किया गया। इसके बाद भी हिंदी राजभाषा के रूप में ''हिंदी दिवस'' ''हिंदी पखवाड़ा'' या फ़िर ''हिंदी मास'' तक ही सिमटी हुई है।

हिंदी के मूल में अंग्रेज़ों के कुठाराघात के बाद फिर से एक और प्रहार हो रहा है – भूमंडलीकरण का। भूमंडलीकरण के इस भयावह दौर में किसी स्वाधीन, संपन्न और आत्मनिर्भर राष्ट्र में दूसरे देश की भाषा विकास का पैमाना बने, यह कैसे स्वीकार्य होगा? यह भी सच है कि विश्व के किसी देश में भाषा की स्वाधीनता–स्वतंत्रता और उसकी निजता को इतने व्यापक विस्तार और बारीकी से नहीं लिया गया, जितना हमारे देश में और यह घटना आज भी जारी है।

बाज़ारवादी व्यवस्था में हिंदी की अस्मिता, अस्तित्व और निजता के लिए उत्तरदायी लोगों की अभिरुचि ऐसे गंभीर और बुनियादी सवालों पर नहीं है। वे इस भाषा को विश्वव्यापी बनाने, वर्तमान समय में अन्य भाषाओं के समान विकसित एवं समृद्ध करने में कोई दिलचस्पी नहीं दिखा रहे हैं। वे तात्कालिकता पर इतना अधिक विश्वास करते हैं कि ये महाप्रश्न उनके लिए बेईमानी और निरर्थक हो गये हैं। उन्हें भाषागत स्वाभिमान की बात बेकार एवं गैरज़रुरी लगती है। इस प्रकार एक ओर जहाँ भाषा का शिल्पी आमजन निष्क्रिय, निस्तेज है, वहीं दूसरी ओर इसे व्यापक बनाने वाले मूर्धन्य शिल्पकार घोर उदासीन नज़र आते हैं।

बाज़ारवाद तात्कालिक आवश्यकता को सर्वाधिक अहमियत देता है। वह ऐसी संकर भाषा निर्मित करता है, जिससे केवल उसका हित संवर्धित हो सके। वह अपने लाभ के लिए आज हिंदी भाषा का, जितना सर्वनाश कर सकता है, कर रहा है और इसके प्रति हमारी घोर उदासीनता ने हमारी पहचान को प्रश्न के घेरों में ला खड़ा कर दिया है। चांदी के चंद सिक्कों में हम अपनी पहचान खोने लगे हैं। अगर ऐसा नहीं है, तो हमें अपनी हिंदी एवं अन्य मातृभाषा बोलने में और लिखने में संकोच क्यों होता है? ऐसा संकोच तो चीनी रूसी, जर्मन एवं फ़्रांस के लोग नहीं करते, वे अपनी ही भाषा को प्राथमिकता देते हैं। आँकड़ों की ओर नज़र डालें, तो पता चलता है कि चीनी बोलने वाले 90 करोड़, अंग्रेज़ी बोलने वाले 80 करोड़ और हिंदी बोलने वाले 70 करोड़ हैं।

मेरिट रलेन की पुस्तक ''ए गाईड टु दि वर्ल्ड लैंग्वेज'' (स्टेनफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1987) के अनुसार अकेले चीन में एक बिलियन लोग मंदारिन बोलते हैं और लगभग एक बिलियन

ही अंग्रेज़ी। तीसरे स्थान पर हिंदी –उर्दू बोलने वाले चार सौ बिलियन ही हैं। स्पेनिश और रूसी के तीन–तीन सौ मिलियन, चीन की पूरी आबादी मैंडरिन बोलती है। कुछ भाषाविद् चीन के इस सर्वेक्षण को सही नहीं मानते, क्योंकि शंघाई, कैंटन, फ़ुकीन, हक्का, तिब्बती और तुर्की आदि नगरों में अन्य भाषाएँ भी बोली जाती हैं। इस प्रकार चीन में 80 प्रतिशत लोग मंदारिन बोलते हैं।

इस संदर्भ में डॉ. जयंती प्रसाद नौटियाल का एक सर्वेक्षण महत्त्वपूर्ण है। वे व्यापक दृष्टिकोण वाले थे। वे उर्दू को भी हिंदी में शामिल करके देखते थे। इतना ही नहीं वे विभिन्न प्रदेशों की बोलियों को भी हिंदी में सम्मिलित मानते थे। जैसे – ब्रज, अवधी, राजस्थानी आदि, परन्तु यह विषय भाषाविदों के लिए एक चुनौती है। हिन्दुस्तान में हिंदी को कैसे परिभाषित किया जाए? यही बड़ी समस्या बन गई है। क्या ब्रजभाषा, बुंदेली, मगही, भोजपुरी, मैथिली, पंजाबी, गुजराती बोलने वाला हिंदी भाषी नहीं है? क्या उर्दू को अलग रखा जाए, जबकि इसकी व्याकरण संरचना एक जैसी है तथा वाक्य विन्यास समान है। इन भाषाओं के बीच संवाद की समस्या भी नहीं है, ऐसे में हिंदी की व्यापकता एवं संकीर्णता दोनों सामने आते हैं। भाषाविद कहते हैं कि इन बोलियों के साथ हिंदी की समृद्धि और एकाकी हिंदी को खड़ा करना संकीर्णता है। हमें अपनी भाषा को बोलने में गर्व होना चाहिए। भाषा की श्रेष्ठता तो इसके विचारों में है।

बाज़ारवाद के घोर समर्थक एवं पक्षधर अंग्रेज़ी के प्रचार–प्रसार एवं विस्तार के लिए अधिक रुचि दिखाते हैं, क्योंकि इसी में उनका लाभ है। तीन प्रतिशत भारतीय जनों के लिए इतनी सजगता और सत्तानवे प्रतिशत जनता के लिए इतनी उपेक्षा क्यों? विदेशी भाषाओं को सीखने, समझने एवं व्यवहार करने में कोई समस्या नहीं है, परन्तु इन्हें अन्य भारतीय भाषाओं की तुलना में वरीयता प्रदान करना अत्यंत घातक एवं चिंताजनक है, अंग्रेज़ी अन्य भारतीय भाषाओं के उत्थान में संवाद की भूमिका निभाए तो स्वीकार है, परन्तु इस सिद्धांत एवं मान्यता के विरुद्ध भाषाविद कहते हैं कि ऐसा संभव नहीं है। अंग्रेज़ी भाषा के बाज़ारवादी कुचक्र एवं षड्यंत्र से सावधान रहना चाहिए और हमें हिंदी का सृजन, अध्ययन एवं प्रसार करना चाहिए। इस भाषा के हमारे देश और जनता के बीच मधुर संबंधों को फिर से उजागर करना चाहिए। हमारी तमाम मौलिकता अंग्रेज़ी की चकाचौंध में विनष्ट हो रही है। भाषा सीखनी चाहिए, परंतु प्रतिष्ठा एवं अहंकार के पोषण के लिए नहीं। हमारी मौलिकता एवं निजता की अभिव्यक्ति हमारी भाषा में निहित होती है, इसका ध्यान रखना चाहिए।

हिंदी भाषाई नेतृत्व की आशा–अपेक्षा प्रत्येक भारतीय भाषा के रचनाकार–साहित्यकार से है। उन्हें तमाम वैचारिक मतभेदों के बावजूद इस अहम तथ्य पर एकमत होना चाहिए। भारतीय भाषा अपनी प्रगतिशील परंपराओं का विकास करे और दूसरी भारतीय भाषाओं तथा विश्व की विकसित भाषाओं के साथ जातीय संवाद द्वारा संसार से अपेक्षित प्रतिष्ठा एवं समृद्धि उपलब्ध करे। इस तथ्य के समर्थन में हिंदी साहित्य के शिरोमणि मुंशी प्रेमचंद के शब्द हैं – ''राष्ट्र की बुनियाद, राष्ट्र की भाषा है। नदी, पहाड़ और समुद्र राष्ट्र नहीं बनाते। भाषा ही वह बंधन है, जो चिरकाल तक राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधे रहती है और इसे बिखरने, विखंडित एवं विभाजित होने से रोकती है''।

राष्ट्रभाषा के पुरोधा श्री अरविंद कहते हैं – किसी राष्ट्र अथवा मानवीय समुदाय की आत्मा के लिए यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि वह अपनी भाषा की रक्षा करे और उसे एक सशक्त और सजीव सांस्कृतिक चेतना बना ले। जो राष्ट्र, जाति अथवा जनसमुदाय अपनी भाषा खो देता है, वह अपना सम्पूर्ण एवं सच्चा जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। वे आगे स्पष्ट करते हैं कि भाषा का राष्ट्र के जीवन में महत्त्व है तथा सामान्य रूप से मानव जाति के लिए भी यह अत्यधिक उपयोगी है।

श्री अरविन्द के अनुसार भाषा जाति के सांस्कृतिक जीवन का प्रतीक एवं चिह्न है। उसके एक विचारगत और मनोगत आत्मा का संकेत है, जो उसके पीछे होती है तथा उसकी कर्मगत आत्मा को समृद्ध बनाती है। वह एक ऐसा बौद्धिक, सौंदर्यात्मक तथा अभिव्यंजक बंधन है, जो जहाँ विभाजित होता है, वहाँ उसकी शक्ति बढ़ाता है और जहाँ एकता प्राप्त हो चुकी है, वहीं उसे पुष्टि एवं बल प्रदान करता है। विशेषकर यह राष्ट्रीय और जातीय एकता को स्वचेतना प्रदान करता है।

सांस्कृतिक प्रतीक चिह्न हिंदी भाषा की रक्षा हमें करनी होगी और उसके लिए उसकी अपनी सांस्कृतिक विविधताओं का इस प्रकार नवनिर्माण करना होगा कि उसके प्राचीन स्वरूप को अधिक तेजस्वी, अधिक घनिष्ट एवं पूर्ण रूप में अभिव्यक्ति दी जा सके। फिर उसे समस्त जगत् के ऊपर आरोपित कर देना

चाहिए, जैसा कि उसने सुदूर युगों में अधिकार किया था अथवा कम–से–कम प्रकाश प्रदान किया था। आज हिंदी भाषा को ऐसा नूतन स्वरूप उपलब्ध कराना है, जिसके विराट एवं व्यापक अंतःस्थल में सभी भाषाएँ समा जाएँ, पर विनष्ट न हों, बल्कि पुष्ट एवं विकसित हों। भाषा के प्रति ऐसी सुरक्षा एवं समर्पण हो कि किसी भी प्रकार का कुचक्र एवं षड्यंत्र काम न कर सके। ऐसे समर्पण से हम अपनी मातृभाषा की रक्षा एवं विकास कर सकेंगे, जिसके विकास में राष्ट्र, जाति एवं संस्कृति का भविष्य निर्भर है।

आश्चर्य तो इस बात पर होता है कि कभी वह समय था जब देश में अंग्रेज़ों के प्रति नफ़रत का भाव आलोड़न ले रहा था, उन्हें देश से निकाल बाहर करने के लिए आंदोलन पर आंदोलन किए जा रहे थे। अंग्रेज़ तो खैर चले गए लेकिन अंग्रेज़ी छोड़ गए। यह बात समझ से परे है कि अंग्रेज़ों के प्रति नफ़रत और उनकी भाषा के प्रति इतना लगाव आखिर क्यों? आज हिंदी न सिर्फ़ भारत में, वरन् विश्व के कोने–कोने में बड़ी संख्या में बोली जा रही है। इतना ही नहीं विश्व के लगभग 155 देशों के विश्वविद्यालयों में पढ़ाई भी जा रही है। इसे देखते हुए कहा जा सकता है कि हिंदी आज भारत की राष्ट्रभाषा भले ही नहीं बन पायी, लेकिन विश्वभाषा ज़रूर बन गयी है।

इतना सब कुछ हो जाने के बाद भी अभी बहुत कुछ किया जाना बाकी है। यदि सरकार हिंदी को प्रोत्साहित करेगी तथा सभी विभाग व संस्थान हिंदी में काम करने में हिचकेंगे नहीं, तो शेष के लोग भी हिंदी को अपनाने में झिझक महसूस नहीं करेंगे। हिंदी दिवस पर केवल लंबे–चौड़े भाषण झाड़ना पर्याप्त नहीं होगा। इस दिशा में गंभीरता से कुछ कर दिखाने की ज़रुरत है। हिंदी को विज्ञान व तकनीक की भाषा बनाने के लिए ठोस कदम उठाए जाने चाहिए। हिंदी अपनाने वाले लोगों को तथा सरकारी कर्मचारियों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। मातृभाषा में शिक्षा देने वाले स्कूलों को विशेष सुविधाएँ दी जानी चाहिए और हिंदी को दलगत राजनीति का मुद्दा न बनाकर देश की गरिमा के तौर पर उभारा जाए, तो हिंदी को राष्ट्र की बिंदी बनते देर नहीं लगेगी।

goverdhanyadav44@gmail.com

हिंदी उन सभी गुणों से अलंकृत है जिनके बल पर वह विश्व की साहित्यिक भाषाओं की अगली श्रेणी में सभासीन हो सकती है।

– मैथिलिशरण गुप्त

श्रद्धांजलि

35. इस इतने बड़े शहर में एक कवि का होना - डॉ. संजय कुमार
36. श्रद्धांजलि 2019 - विश्व हिंदी सचिवालय

इस इतने बड़े शहर में एक कवि का होना

– डॉ. संजय कुमार
दिल्ली, भारत

मैं सन् 1988 में राँची से जे.एन.यू., नई दिल्ली आया – एम.ए. (हिंदी) में दाखिला लेने। उन दिनों राँची एक सुंदर पहाड़ी शहर था; आजकल की तरह भीड़–भाड़ और चिल्लपों इतना अधिक नहीं था। जे.एन.यू. भी किसी पहाड़ी शहर का एक छोटा–सा टुकड़ा जान पड़ता था–थोड़ा अधिक सुंदर और व्यवस्थित।

उन दिनों जे.एन.यू. के हिंदी विभाग में तीन बड़े लेखक और अध्यापक थे जिनकी ख्याति दूर–दूर तक फैली हुई थी – नामवर सिंह, केदारनाथ सिंह और मैनेजर पांडेय। जे.एन.यू. आने के पूर्व हिंदी के एक महत्त्वपूर्ण कवि के रूप में केदार जी का नाम तो सुना था, पर कविताएँ नहीं पढ़ी थीं। इसलिए मैंने उन्हें अध्यापक के रूप में पहले जाना, फिर धीरे–धीरे एक कवि के रूप में। सबसे पहले उनकी 'प्रतिनिधि कविताएँ' पढ़ीं। उनकी कविताओं का रचाव मुझे मोहक लगा। ऐसी सहज, सरल और बोलचाल की हिंदी, लेकिन अपनी तराश और चुस्ती के कारण इतनी विशिष्ट। भाषिक सहजता और कलात्मकता का ऐसा विलक्षण संयोग हिंदी में दुर्लभ है। काव्यभाषा का यह एक नया और मोहक अनुभव था। मुझे लगा हिंदी गद्य की दुनिया में जिस तरह का कलात्मक सौंदर्य निर्मल वर्मा रचते हैं, कुछ उसी तरह का सौंदर्य हिंदी कविता के संसार में केदारनाथ सिंह रचते हैं। फ़र्क यह ज़रूर है कि केदार जी की कविता में लोक और नागरता का जो सहज मेल दिखाई पड़ता है, वह निर्मल वर्मा में नहीं है। निर्मल वर्मा की सौंदर्याभिरुचि नागर किस्म की है।

केदार जी की काव्यभाषा बोलचाल की हिंदी से बुनी गई है, इसलिए उनकी कविताएँ पढ़ने में सहज और सरल जान पड़ती हैं। पर वास्तव में अर्थ–बोध के मामले में ये कविताएँ सरल नहीं हैं। इनका रचाव अक्सर जटिल और बहुस्तरीय है। इन कविताओं में अगर मानवीय संवेदना की उष्मा है, तो साथ–ही गहरी विचारशीलता भी। इसलिए इन कविताओं के साथ लंबी वैचारिक यात्रा की जा सकती है। मेरे ज़ेहन में उस दिन का अनुभव आज भी ताज़ा है, जब मैंने केदार जी की कविताएँ पहली बार पढ़ी। मैं जे.एन.यू. में अक्सर रात के भोजन के बाद अकेले टहलने के लिए निकल जाता था। मैं हमेशा उस सड़क को चुनता था, जिसपर बसें नहीं चलती थीं। जे.एन.यू. में फैले हुए जंगल के पास से गुज़रती हुई वह सड़क एकांत और निर्जनता का अहसास कराती थी। जे.एन.यू. की सभी सड़कों पर बिजली के खंभे कतार में सजे हुए थे, इसलिए उन पर कभी अंधकार नहीं रहता था। पर उस रात जब मैं टहल रहा था, तब अकेला नहीं था, केदार जी की कविताएँ मेरे साथ थीं, विशेष रूप से 'प्रतिनिधि कविताएँ' संग्रह की पहली कविता 'महानगर में कवि'। यह कविता अर्थ–बोध के स्तर पर मेरे लिए उलझन पैदा कर रही थी। इस कविता में कवि कहता है कि 'इस इतने बड़े शहर में' एक कवि रहता है। वह कभी कुछ नहीं कहता, सिर्फ़ कभी–कभी बेचैन हो जाता है – ''कहीं से ढूँढ़कर ले आता है एक खड़िया/ और सामने की साफ़ चमकती दीवार पर/ लिखता है 'क'।'' यह छोटा–सा 'क' समूचे शहर में गूँजता है। '' 'क' माने क्या/ सारा शहर पूछता है''। और कविता के अंत में –

और इस इतने बड़े शहर में
कोई नहीं जानता
कि वह जो कवि है
हर बार ज्यों ही
उठाता है हाथ
ज्यों ही उस साफ़ चमकती दीवार पर
लिखता है 'क'
कर दिया जाता है कत्ल !

बस इतना ही सच है
बाकी सब ध्वनि है
अलंकार है
रस–भेद है

मैं इससे अधिक उसके बारे में
कुछ नहीं जानता
मुझे खेद है।

मेरे लिए यह तो स्पष्ट था कि यहाँ 'क' कविता के अर्थ में आया है। पर मन में प्रश्न यह उठ रहा था कि कविता लिखते ही कौन कवि का 'कत्ल' कर देता है? क्यों कर देता है? ज़ाहिर है यहाँ 'कवि' भी व्यक्तिवाचक नहीं जातिवाचक संज्ञा है। इसलिए 'कवि' शब्द का अभिप्राय सिर्फ़ केदारनाथ सिंह नहीं है, बल्कि कवियों की पूरी जाति है। 'कत्ल' भी यहाँ व्यंजक शब्द है, इसलिए इसे भी सिर्फ़ शारीरिक हत्या के अर्थ में नहीं लिया जा सकता। क्योंकि यहाँ कवि जब भी कविता लिखता है उसकी हत्या कर दी जाती है, किसी के शरीर की हत्या तो एक बार ही की जा सकती है, बार–बार नहीं। अतः यह मानसिक हिंसा का भी संकेतक हो सकता है। इसे कवि की संवेदनशीलता की हत्या के अर्थ में भी शायद लिया जा सकता है। या यह कविता लिखने में अंतर्निहित जोखिम का भी सूचक हो सकता है। क्या इस 'कत्ल' का संबंध कवि की रचना–प्रक्रिया से है? क्या यह 'कत्ल' वास्तव में वह 'आत्मबलिदान' है, जिसकी चर्चा टी. एस. इलियट ने अपने मशहूर लेख 'परंपरा और वैयक्तिक प्रतिभा' में की है – ''होता यह है कि क्षण विशेष में व्यक्ति स्वयं जैसा भी है उसका सतत समर्पण वह किसी मूल्यवान वस्तु के प्रति करता जाता है। एक कलाकार की प्रगति एक अनवरत आत्मबलिदान है, व्यक्तित्व का निरंतर निर्वापण।'' पर इस कविता में कवि का कत्ल कोई और करता है, यह स्वैच्छिक आत्मबलिदान नहीं है। फिर क्या है इसका अर्थ? इसी उधेड़बुन में अचानक मुक्तिबोध की लंबी कविता 'अँधेरे में' का एक अंश याद आया –

प्रश्न थे गंभीर, शायद खतरनाक भी,
इसलिए बाहर के गुंजान
जंगलों से आती हुई हवा ने
फूँक मार एकाएक मशाल ही बुझा दी
कि मुझको यों अँधेरे में पकड़कर
मौत की सज़ा दी !
किसी काले 'डैश' की घनी काली पट्टी ही
आँखों पर बँध गई,
किसी खड़ी पाई की सूली पर मैं टाँग दिया गया,
किसी शून्य बिंदु के अँधियारे खड्डे में
गिरा दिया गया मैं
अचेतन स्थिति में !

कविता के इस बंद के ठीक पूर्व प्रश्नों की एक पूरी श्रृंखला है। 'अँधेरे में' कविता के काव्यनायक के इन्हीं गंभीर और खतरनाक प्रश्नों के कारण उसे 'मौत की सज़ा' दी जाती है। यहाँ भी 'मौत की सज़ा' वास्तविक नहीं उसका अहसास भर है। यहाँ भी इसे अभिधा में नहीं व्यंजना में ग्रहण करने की ज़रूरत है। पर मुक्तिबोध की इस कविता में 'मौत की सज़ा' का वस्तुगत संदर्भ अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट है। इसलिए 'अँधेरे में' के काव्यनायक को मौत की सज़ा क्यों मिलती है? इस प्रश्न का उत्तर भी अधिक स्पष्ट है। असल में 'सत्ता' या प्राधिकारी को प्रश्न पूछा जाना पसंद नहीं आता। विशेष रूप से ऐसे प्रश्न जो सत्ता के वास्तविक चरित्र और उसके षडयंत्र को उद्‌घाटित करते हों। प्राधिकारी न सिर्फ़ ऐसे प्रश्नों को सख्त नापसंद करता है, बल्कि प्रश्नकर्ता के खिलाफ़ दमन और उत्पीड़न का भी सहारा लेता है। इस काम के लिए पूरी सरकारी मशीनरी, सारे सरकारी संस्थान उसके पास होते हैं। सत्ता का तंत्र वास्तव में दमन और उत्पीड़न का भी तंत्र होता है। जबकि एक अच्छी कविता अक्सर सत्ता से कड़े सवाल पूछती है। रघुवीर सहाय ठीक कहते हैं, ''...सत्ता की राजनीति और रचना का तो बिल्कुल छत्तीस का संबंध है। प्रत्येक रचना सत्ता के खिलाफ़ होती है।'' (लिखने का कारण, पृ. 150) केदार जी की उपर्युक्त कविता सत्ता से सवाल ही तो पूछती है – 'क' माने क्या? यह सवाल लोगों को उचित और आवश्यक मालूम होता है, इसलिए लोकप्रिय हो जाता है। फिर यह सवाल पूरा शहर पूछता है – 'क' माने क्या? ध्यान रहे कविता का शीर्षक है – 'महानगर में कवि'। महानगर प्रायः सत्ता का केंद्र भी होता है। तो पानी में रहकर मगरमच्छ से बैर? इसलिए कवि को प्रश्न पूछने का परिणाम भुगतना पड़ता है, उसका कत्ल कर दिया जाता है। अर्थात कवि जब भी कविता लिखता है, उसे दमन और उत्पीड़न का शिकार होना पड़ता है। ...अचानक मुझे लगा कतार में सिर झुकाए खड़े बिजली के खंभों की रोशनी क्षण भर के लिए बुझकर फिर जल उठी। जैसे सब ने मिलकर एक साथ प्रश्न

किया हो – 'क' माने क्या? पर अब इस प्रश्न का उत्तर मैं जानता था, इसलिए मुस्कराते हुए अपने होस्टल की ओर लौट पड़ा।

जे.एन.यू. में केदार जी से धीरे–धीरे परिचित होते हुए बार–बार इस बात का भी अहसास हो रहा था कि उनके वास्तविक व्यक्तित्व और काव्य–व्यक्तित्व में एक हद तक समानता है। वे मझोले कद के थे। रंग गोरा और नाक–नक्श तीखे। चौवन–पचपन की उम्र में भी स्थूलता का कहीं कोई निशान नहीं। इस उम्र में भी उनका शरीर छरहरा दिखाई पड़ता था। केदार जी सुंदर थे और जब हँसते तो और भी अधिक सुंदर दिखाई पड़ते। मेरे पास राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित उनकी प्रतिनिधि कविताओं का दूसरा संस्करण था, इसके मुखपृष्ठ पर खिलखिलाकर हँसती हुई उनकी बहुत सुंदर तस्वीर थी। मुझे लगता था कि फ़ोटोग्राफ़र ने उनके व्यक्तित्व के सबसे सुंदर क्षण को कैद कर लिया है। केदार जी के एक प्रिय छात्र सुबोध कुमार ने एम.ए. फ़ाइनल बैच के विदाई समारोह में जैसे सभी छात्रों के मन की बात को एक सुंदर रूपक में ढालते हुए कहा – ''क्या आप लोगों ने क्वार में हरसिंगार को झड़ते हुए देखा है? अगर नहीं देखा, तो क्वार का इंतज़ार करने की ज़रूरत नहीं, केदार जी की हँसी को देख लीजिए।'' (बनास जन, अंक–30, पृ. 9) जैसे केदार जी के व्यक्तित्व में स्थूलता नहीं थी कुछ उसी तरह से उनकी कविता में भी भाषिक शिथिलता नहीं थी। उन्हीं की तरह उनकी कविता भी छरहरी, सुंदर और चमकदार दिखाई पड़ती थी। जैसे उनकी जादुई हँसी अपने आस–पास प्रकाश और सौंदर्य बिखेरती थी कुछ उसी तरह से उनकी कविता भी कलात्मक सौंदर्य का जादुई संसार निर्मित करती थी।

केदार जी के पढ़ाने का ढंग भी विशिष्ट था। बाकी सभी शिक्षक क्लास में बने पोडियम के ऊपर रखे लेक्चर स्टैंड के पीछे खड़े होकर भाषण देते थे, पर केदार जी को कुर्सी पर बैठकर पढ़ाना पसंद था। नामवर जी और केदार जी दोनों कविता पढ़ाते थे, लेकिन उन दोनों के पढ़ाने की शैली बिलकुल भिन्न थी। नामवर जी किसी कवि की कविता पढ़ाने के पहले जैसे हिंदी कविता का मानचित्र निर्मित करते थे, फिर उस मानचित्र में उस विशेष कवि को उसकी सही जगह पर स्थित करते थे। इसके बाद पाठ्यक्रम में निर्धारित उस कवि की कविता की गहराई में उतरकर उसका विश्लेषण करते थे। केदार जी किसी कविता में सहज भाव से सीधे प्रवेश करते थे। हिंदी कविता की परंपरा में उस विशेष कवि का स्थान, अपने युग के कवियों के साथ उसकी तुलना वगैरह प्रसंगवश चलती रहती थी। किसी कविता के साथ केदार जी सहज और आत्मीय रिश्ता बना लेते थे। यह सहजता और आत्मीयता हमेशा क्लास में भी बनी रहती थी। पर केदार जी की अध्यापन–कला के बारे में सिर्फ़ इतना भर कह देने से बात बनती नहीं। असल में केदार जी की अध्यापन–कला बहुत विलक्षण थी। उनके काव्य–पाठ से ही कविता का अर्थ खुलने लगता था। वे जैसे कविता में डूबकर कविता की व्याख्या करते। उन्हें डूबकर तैरने की कला आती थी। वे सहज पर सधी हुई आवाज़ में बोलते थे। उनका चेहरा संवेदनशील था। कविता के अर्थ के साथ–साथ उनके चेहरे की भाव–भंगिमा भी किसी कुशल अभिनेता की तरह बदलती रहती थी। उनकी आवाज़ के आरोह–अवरोह के साथ उनकी उँगलियाँ निराले ढंग से नृत्य करती रहती थीं। वे जैसे संगत का राग–धर्म निभाती थीं। जैसे पंडित जसराज गा रहे हों और सोनल मानसिंह नृत्य कर रही हों। मुझे लगता जैसे उनकी उँगलियाँ इंद्रजाल रचती हैं, कविता का एक जादुई संसार..., जहाँ सिर्फ़ केदार जी होते और हम होते। पूरी क्लास जैसे सम्मोहन की अवस्था में गुज़रती...। और जब क्लास खत्म होती, तब हम कविता के इंद्रजाल का रहस्य समझ चुके होते। और केदार जी अपना जादुई संसार समेटते हुए क्लास से बाहर चल देते।

केदार जी दिल्ली में होनेवाले सेमिनारों और गोष्ठियों में एक वक्ता के रूप में भाषण देते हुए कम ही नज़र आते। कभी–कभार ही उन्हें सुनने का अवसर मिला है। पर जब कभी उन्हें भाषण देते हुए सुना, अच्छा लगा। वे अच्छे वक्ता थे। लेकिन क्लास वाला जादुई प्रभाव वे सेमिनारों में नहीं रच पाते। वहाँ उनकी उँगलियाँ उस तरह से थिरकती हुई नज़र नहीं आतीं। इसके लिए जैसे क्लास के वातावरण का होना ज़रूरी था। क्लास हो, विद्यार्थियों का एक झुंड शांति से बैठा हुआ हो और केदार जी के सामने निराला की कविता हो। तब देखिए केदार जी की अध्यापन–कला का जादू। वैसे भी हर जादूगर के लिए मंच की सज्जा उसके अनुरूप होना आवश्यक है। केदार जी के लिए भी उनका अपने

क्लास में होना ज़रूरी था। क्लास के बाहर उनका जादू नहीं चल पाता था।

अध्यापन–कला के संदर्भ में बरबस एक प्रसंग याद आ रहा है। यह सन् 2003 की घटना है। मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा चार सप्ताह की लंबी अवधि तक चलने वाले उन्मुखीकरण कार्यक्रम (Orientation Programme) में एक प्रतिभागी के रूप में शामिल था। एक दिन दिन–भर (10 बजे से शाम 5 बजे तक) रीसोर्स पर्सन के रूप में जो भी वक्ता आए वे हम प्रतिभागियों को यही समझाते रहे अपने अध्यापन को प्रभावशाली बनाने के लिए किन तकनीकों या तरीकों का उपयोग करना चाहिए। जैसे कक्षा में प्रवेश करते ही सबसे पहले ब्लैक बोर्ड पर अध्यापन का विषय लिखना चाहिए। फिर उस विषय से संबंधित शुरुआती प्रश्न छात्रों से पूछना चाहिए। इससे विद्यार्थी विषय की ओर उन्मुख होंगे, आदि–आदि। दिन–भर इन बातों को सुनते हुए मैं ऊब चुका था। अपनी खीझ को दबाते हुए मैंने प्रश्न पूछा – ''सर! प्रोफ़ेसर नामवर सिंह और केदारनाथ सिंह हिंदी साहित्य के सर्वोत्तम अध्यापकों में गिने जाते हैं, पर वे कभी इन तकनीकों का प्रयोग नहीं करते जिनकी चर्चा आप कर रहे हैं। इस तर्क से तो वे अच्छे अध्यापक नहीं माने जायेंगे?'' मेरी उम्मीद के विपरीत वक्ता का उत्तर सटीक और लाजवाब करने वाला था – ''हम लोग एक औसत अध्यापक को ध्यान में रखकर यह चर्चा कर रहे हैं। नामवर सिंह और केदारनाथ सिंह जैसे महान अध्यापकों पर यह लागू नहीं होता।''

केदार जी की अध्यापन–शैली की प्रशंसा तो सभी विद्यार्थी करते थे, पर दो–तीन छात्र ऐसे भी थे, जो उनकी शैली की नकल करने की कोशिश करते थे। लेकिन नकल तो नकल होता है। और नकल अक्सर हास्यास्पद जान पड़ते हैं। जे.एन.यू. में हिंदी के छात्रों ने एक लेखक संघ भी बना रखा था – जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय लेखक संघ। गोपाल प्रधान संयोजक और मैं सह–संयोजक। महीने में किसी एक दिन उसकी बैठक होती थी। जे.एन.यू. के किसी कवि या कथाकार का उसमें रचना–पाठ होता था, या फिर किसी ज्वलंत विषय पर कोई आलेख पढ़ा जाता था और फिर उस पर चर्चा होती थी। हमारे एक वरिष्ठ साथी थे, जो उन दिनों केदार जी के ही निर्देशन में पी–एच.डी. कर रहे थे। संयोग से वे कवि भी थे। वे नियमित रूप से लेखक संघ की बैठक में आते थे। पर वे जब कभी बोलते केदार जी की शैली की नकल करने की कोशिश करते। वे बातचीत में भी केदार जी की तरह अपनी उँगलियों को नचाने की कोशिश करते। पीठ पीछे लोग उनका मज़ाक उड़ाते। हमारा एक सहपाठी था – प्रदीप तिवारी। कुशाग्र बुद्धि पर थोड़ा–सा दुष्ट स्वभाव। वह तो उनके सामने भी उनका मज़ाक उड़ाता था। एक बार उसने उन वरिष्ठ साथी के जाने के बाद कहा, ''आजकल ये अपनी कविता में चिड़िया बहुत उड़ा रहे हैं। मैंने तो इनके काव्य–संग्रह का नाम भी सोच लिया है – 'चुनमुन चिड़िया और मैं'।'' मैंने बात आगे बढ़ाई – ''आजकल कई कवि अपनी कविताओं में चिड़िया उड़ा रहे हैं। और प्रायः उस चिड़िया का न तो कोई नाम होता है और न ही कोई रूप, चिड़िया सिर्फ़ चिड़िया होती है।'' जिन वरिष्ठ साथी का यहाँ उल्लेख किया गया है, वे अब एक कॉलिज में अध्यापक हैं। उम्मीद करता हूँ कि उनकी केदार–नुमा अध्यापन–शैली से उनके छात्र प्रभावित होते होंगे, पीठ पीछे उनका मज़ाक नहीं उड़ाते होंगे, क्योंकि वे छात्र शायद असल केदारनाथ सिंह को नहीं जानते होंगे। इसलिए इस मामले में उन्हें असल और नकल के बीच का फ़र्क पता नहीं होगा। ...आज गुरुवर केदारनाथ सिंह नहीं रहे, तो मन में यह बार–बार आता है कि अपने 'वरिष्ठ साथी' का ही व्याख्यान कभी–कभार जाकर सुन लिया करूँ। असल न सही नकल ही सही।

केदार जी को 1989 में 'अकाल में सारस' कविता–संग्रह के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला। जे.एन.यू. लेखक संघ ने यह तय किया कि हम केदार जी के सम्मान में एक छोटा–सा आयोजन करेंगे। प्रश्न उठा कि आयोजन का स्वरूप क्या होगा? हमने यह सोचा कि अगर हम उनकी कविताओं पर भाषण देंगे तो अच्छा नहीं लगेगा, इसलिए हम लोग उनकी चुनी हुई कविताओं का उन्हीं के सामने वाचन करेंगे और अपने अध्यापकों से यह आग्रह करेंगे कि वे केदार जी की कविता पर संक्षेप में अपनी बात रखें। आयोजन अच्छा रहा और केदार जी को पसंद भी आया। डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने उस दिन केदार जी की कविता की विशेषता बताते हुए जिस रूपक का प्रयोग किया था वह आज भी मुझे याद है। उन्होंने कहा, ''केदार जी के ड्रॉइंग रूम में बया पक्षी

का घोंसला टँगा हुआ है। मेरे मन में यह प्रश्न उठा कि क्या इस घोंसले का कोई संबंध केदार जी की कविता के साथ बनता है?'' फिर अपने ही उठाए प्रश्न का जवाब देते हुए उन्होंने कहा, ''गौर से देखें तो संबंध बनता है। केदार जी की कविता बया के घोंसले की तरह ही सुंदर और मज़बूत है।'' यह भी कहा जा सकता है कि जिस अद्‌भुत कौशल के साथ बया पक्षी अपना घोंसला बुनता है, कुछ उसी तरह की कुशलता और बारीकी के साथ केदार जी भी अपनी कविता बुनते थे।

आज केदार जी हमारे बीच नहीं हैं। उन्हें यह विश्वास था कि यह पृथ्वी हमेशा रहेगी, प्रलय के बाद भी बची रहेगी। 'यह पृथ्वी रहेगी' कविता में वे लिखते हैं –

यह रहेगी प्रलय के बाद भी मेरे अंदर
यदि और कहीं नहीं तो मेरी ज़बान
और मेरी नश्वरता में
यह रहेगी

और एक सुबह मैं उठूँगा
मैं उठूँगा पृथ्वी–समेत
जल और कच्छप–समेत मैं उठूँगा
मैं उठूँगा और चल दूँगा उससे मिलने
जिससे वादा है
कि मिलूँगा।

अगर यह पृथ्वी हमेशा रहेगी, तो क्या इसे चित्रित और निरूपित करने वाला कवि भी इसके साथ–साथ जीवित नहीं रहेगा? अपनी देह की नश्वरता के बावजूद?

sanjaykrsamyak@gmail.com

विश्व हिंदी सचिवालय की ओर से वर्ष 2019 में हिंदी संसार के दिवंगत महानुभावों को भावपूर्ण श्रद्धांजलि

विश्व हिंदी सचिवालय

श्रीमती सुषमा स्वराज

माननीया श्रीमती सुषमा स्वराज की स्मृति में श्रद्धांजलि सभा

6 अगस्त 2019 को भारत की पूर्व विदेश मंत्री और भारतीय जनता पार्टी की वरिष्ठ नेता माननीया श्रीमती सुषमा स्वराज का निधन हो गया। 7 अगस्त 2019 को शाम चार बजे दिल्ली में उनका अंतिम संस्कार किया गया। श्रीमती स्वराज विदेश मंत्री के रूप में विश्व हिंदी सचिवालय की शासी परिषद् की सह अध्यक्षा रह चुकी हैं।

12 अगस्त 2019 को विश्व हिंदी सचिवालय के सभागार, फ़ेनिक्स में श्रीमती सुषमा स्वराज की स्मृति में एक श्रद्धांजलि सभा का आयोजन किया गया। सभा के आरम्भ में पुण्यात्मा की शांति के लिए 2 मिनट का मौन धारण किया गया तथा उपस्थित सहृदयों एवं हिंदी प्रेमियों ने श्रीमती स्वराज के चित्र पर पुष्प अर्पण करते हुए उनको श्रद्धांजलि दी। तत्पश्चात् श्रीमती स्वराज की मॉरीशस यात्रा, 11वें विश्व हिंदी सम्मेलन में उनकी गरिमामयी उपस्थिति एवं सक्रिय भागीदारी और हिंदी के प्रति उनके भावोद्‌गार की कुछ झलकियाँ एक वीडियो के माध्यम से प्रस्तुत की गईं।

इस अवसर पर शिक्षा व मानव संसाधन तृतीयक शिक्षा एवं वैज्ञानिक अनुसंधान मंत्रालय के पूर्व वरिष्ठ कार्यकारी अधिकारी श्री रामप्रकाश रामलगन, भारतीय उपउच्चायुक्त श्री जनेश केन, इंदिरा गांधी भारतीय सांस्कृतिक केंद्र की निदेशिका आचार्य प्रतिष्ठा, विश्व हिंदी सचिवालय की शासी परिषद् के सदस्य डॉ. उदय नारायण गंगू, महात्मा गांधी संस्थान परिषद् के अध्यक्ष श्री जयनारायण मीतू, महात्मा गांधी संस्थान में आई.सी.सी.आर. हिंदी पीठ डॉ. वेद रमण पांडेय, महात्मा गांधी संस्थान के भारतीय अध्ययन संकाय की अध्यक्षा डॉ. राजरानी गोबिन एवं हिंदी विभागाध्यक्ष डॉ. विनय गुदारी, मानव सेवा न्यास के प्रधान श्री प्रकाश बहादुर, हिंदी प्रचारिणी सभा के अध्यक्ष श्री धनराज शम्भु, आर्य सभा के प्रधान श्री हरिदेव रामधनी, हिंदी संगठन के अध्यक्ष श्री सुरेश रामबर्ण, भोजपुरी संगठन की अध्यक्षा डॉ. सरिता बुधु, मुम्बई भारतीय जनता पार्टी युवा मोर्चा के महासचिव श्री राकेश मिश्र, ओवर्सीज़ फ्रेंड्स ऑफ़ बी.जे.पी. की उपप्रधाना श्रीमती निवेदिता नाथू, हिंदी शिक्षक, प्राध्यापक तथा हिंदी प्रेमी उपस्थित थे।

विश्व हिंदी सचिवालय के महासचिव प्रो. विनोद कुमार मिश्र ने अपने उद्‌बोधन में कहा कि "विदेश मंत्री के रूप में दुनिया भर में लोगों से जुड़ी हुई समस्याओं का समाधान ढूँढने वाली, भावशून्यता को भावों से भर देने वाली, ऐसी नेत्री कहाँ मिलेगी? वे समाजवादी आन्दोलन से निकली हुई नेत्री थीं। इस सचिवालय का भवन भी उनकी देन है, सचिवालय उनके कार्यकाल में निर्गुण से सगुण बना। महिला नेत्री के रूप में अगर देखें तो इंदिरा गांधी के बाद संसद में इतना ओजस्वी व्यक्तित्व शायद सुषमा जी का ही रहा है।"

श्री जनेश केन ने श्रीमती स्वराज जी के साथ अपने अनुभवों और स्मृतियों को साझा किया। उन्होंने कहा "लोग जाते हैं, लेकिन ऐसे थोड़े ही लोग होते हैं, जिनको इतने प्रेम और आदर के साथ याद किया जाता है। सुषमा जी ने हमें सिखाया है कि अपना काम अच्छी तरह से करो और एक अच्छा मनुष्य बनने की कोशिश कभी भी रुकनी नहीं चाहिए। आज हमारा यहाँ मिलने के पीछे कारण यही है कि वे दिल से बहुत अच्छी थीं।"

श्री रामप्रकाश रामलगन ने श्रीमती स्वराज जी के साथ अपनी पहली भेंट की समृतियाँ साझा कीं। उन्होंने कहा कि अगस्त 2017 में भारत में आयोजित विश्व हिंदी सचिवालय की कार्यकारिणी बैठक में श्रीमती स्वराज के साथ उनकी पहली भेंट हुई थी। उनके अनुसार सुषमा जी मृदु भाषी थीं और हमेशा लोगों को प्रोत्साहित करती थीं। वे हिंदी भाषा की रक्षक थीं। इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण यह था कि उनके कार्यालय में हिंदी बोलना और सभी रिपोर्ट हिंदी में पेश करना अनिवार्य होता है। श्री रामलगन ने बताया कि स्वर्गीय श्रीमती सुषमा स्वराज जी

की प्रेरणा से 11वें विश्व हिंदी सम्मेलन की तैयारियों से संबंधित अपना प्रस्तुतीकरण उन्होंने हिंदी में दिया, भले ही तैयारी अंग्रेज़ी में हुई थी। इसके पश्चात् सम्मेलन की तैयारियों में श्रीमती स्वराज का भरपूर सहयोग प्राप्त हुआ।

डॉ. उदय नारायण गंगू ने कबीर की उक्ति 'आया है सो जाएगा, राजा रंक फ़कीर, एक सिंहासन चढ़ि चले, एक बांधे ज़ंजीर' से अपनी बात शुरू की। उन्होंने कहा "आप जब शासन करती थीं तब सिंहासन पर थीं और जाते समय भी सिंहासन पर गईं। महात्मा कबीर ने कहा है कि जन्म लेते हैं तो रोते हुए, लेकिन जब जाते हैं, तब हँसते हुए जाना चाहिए। आप जीवन भर हँसती—मुस्कुराती रहीं।" डॉ. गंगू ने भी श्रीमती स्वराज के साथ अपनी भेंट की समृतियाँ साझा कीं। अगस्त 2017 में भारत में जब विश्व हिंदी सचिवालय की कार्यकारिणी बैठक आयोजित हुई थी, तब उससे संबंधित एक घटना साझा करते हुए उन्होंने सुषमा जी के हिंदी प्रेम, समर्पण—भाव और भाषा के प्रति कटिबद्धता का प्रमाण रखा। डॉ. गंगू ने श्रद्धांजलि सभा में यह माँग की कि *"क्यों न प्रधान मंत्री से यह निवेदन किया जाए कि विश्व हिंदी सचिवालय सुषमा जी के नाम से हो। यह सचिवालय सुषमा जी का बालक है, अब प्रौढ़ हो रहा है, अतः नाम होना चाहिए "सुषमा स्वराज – विश्व हिंदी सचिवालय। यह उनके प्रति श्रद्धा की अभिव्यक्ति होगी।"*

आचार्य प्रतिष्ठा जी ने अपने संबोधन में कहा *"मैं बहुत सौभाग्यशाली हूँ कि बहुत नन्ही आयु से भारत के इस लौह स्त्री का वात्सल्य मुझे प्राप्त हुआ। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि आदरणीय सुषमा जी का जाना भारतीय राजनीति में तो बहुत बड़ा रिक्त स्थान छोड़ ही गया, साथ ही लोगों के हृदय में भी बहुत बड़ा रिक्त स्थान छोड़ गया है। एक आदर्श भारतीय नारी का जीवंत उदाहरण थीं सुषमा जी, जितनी कठोर उतनी विनम्र। एक ओर वात्सल्य की प्रतिमूर्ति तो दूसरी ओर एक कुशल प्रशासक। भाषा व संस्कृति के प्रति उनका रुझान अनोखा था। मॉरीशस के प्रति उनका प्रेम अनूठा था और उनकी भावना भी अनूठी थी।"*

श्री जयनारायण मीतू ने कहा कि सुषमा जी जब से भारत की विदेश मंत्री बनी थीं, तब से दो बार महात्मा गांधी संस्थान में उनका आगमन हुआ। नवम्बर 2014 में जब वे मॉरीशस सरकार द्वारा औपचारिक भेंट के लिए आमंत्रित थीं तब महात्मा गांधी संस्थान द्वारा आयोजित आप्रवासी सम्मेलन में मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित हुई थी। फिर 11वें विश्व हिंदी सम्मेलन के दौरान उन्होंने 19 अगस्त को महात्मा गांधी संस्थान में भारत सरकार द्वारा प्रायोजित पाणिनि भाषा प्रयोगशाला का उद्घाटन किया था। महात्मा गांधी संस्थान जीवन पर्यंत श्रीमती सुषमा स्वराज का नाम याद रखेगा।

डॉ. वेद रमण पांडेय ने सुषमा जी की याद में कहा *"सुषमा जी भारत में संपूर्ण क्रांति आन्दोलन के दौरान उपजी नेता थीं। यह आन्दोलन स्वर्गीय जयप्रकाश नारायण जी के नेतृत्व में चला था। सुषमा जी आपात काल के दौरान सत्ता से संघर्ष में जॉर्ज फ़रनान्दीस का सहयोग करने वाली नेता थीं। सुषमा जी पूर्व प्रधानमंत्री स्वर्गीय चन्द्रशेखर जी के सहयोग से हरियाणा सरकार द्वारा हरियाणा जनता की सेवा करने के लिए नियुक्त शिक्षा मंत्री थीं। बाद में स्व. अटल बिहारी वाजपेयी और श्री लालकृष्ण आडवाणी जी की भारतीय जनता पार्टी से जुड़कर उन्होंने भारतीय जनता की सेवा का बीड़ा उठाया। उसके पश्चात् श्री नरेंद्र मोदी की सरकार में विदेश मंत्री बनकर विश्व भर में फैली भारतीय जनता के हितों की सुरक्षा और उसका संरक्षण करना शुरू किया। लेकिन सुषमा जी यहीं तक ठहरने वाली नहीं थीं, विश्व से भी ऊपर ब्रह्मांड में अगर कहीं भारतीय जन दुःख में पड़ा हो, तो वहाँ भी पहुँचकर सुषमा जी उसकी सहायता करने का माद्दा रखने वाली नेता थीं। सुषमा जी सत्ता में रहते हुए भी जनता के लिए थीं।"*

श्री प्रकाश बहादुर ने कहा *"2014 में सुषमा जी जब मॉरीशस आई थीं, तब ह्यूमन सर्विस ट्रस्ट में उनके लिए एक कार्यक्रम रखा गया था। उन्होंने अपने संबोधन से सभी का दिल जीत लिया था। और 2018 में जब वे विश्व हिंदी सम्मेलन के लिए मॉरीशस आई थीं, तब सभी संस्थाओं के अधिकारियों से मिली थीं। हिंदी को आगे बढ़ाने में सुषमा जी का बड़ा हाथ रहा है। हम उनको हमेशा याद रखेंगे।"*

भारतीय जनता पार्टी युवा मोर्चा, मुम्बई के महासचिव श्री राकेश मिश्र ने इस अवसर पर अपने व्यक्तिगत अनुभव बाँटे। उन्होंने कहा कि सुषमा जी के साथ उनको दो बार काम करने का मौका मिला। भारतीय नारी की वह प्रतीक थीं। उनके अन्दर मातृत्व भी था और दुर्गा भी थीं। सुषमा जी का जाना केवल

राजनीति का नहीं बल्कि समाज का बहुत बड़ा नुकसान है।

ओवर्सीज़ फ्रेंड्स ऑफ़ बी.जे.पी. की उपप्रधाना श्रीमती निवेदिता नाथू ने कहा *"उनका व्यक्तित्व बहुत ही प्रभावशाली था। देखने में बहुत साधारण–सी दिखती थीं, छोटे कद की महिला, लेकिन अपने टीका, सिन्दूर और साड़ी से उन्होंने पूरी दुनिया को भारतीय नारी की शक्ति की पहचान कराई। यू.एन. में हो या किसी भी देश में हो, वे उच्च कोटि की प्रवक्ता थीं। उनका व्यक्तित्व ऐसा था कि उनको देखकर, उनको सुनकर आप प्रभावित हो जाएँगे।"*

मंच संचालन एवं धन्यवाद–ज्ञापन डॉ. माधुरी रामधारी ने किया।

विश्व हिंदी सचिवालय की रिपोर्ट

डॉ. नामवर सिंह

19 फ़रवरी, 2019 को हिंदी के शीर्षस्थ अध्येता, समालोचक तथा मूर्द्धन्य सांस्कृतिक–ऐतिहासिक विचारक लेखक, डॉ. नामवर सिंह का 92 वर्ष की आयु में निधन हो गया। आपका जन्म 28 जुलाई 1926 को बनारस (वर्तमान में चंदौली ज़िला) के एक गाँव जीयनपुर में हुआ था। हिंदी साहित्य में एम.ए. व पी–एच. डी करने के पश्चात् आपने 1953 से 1959 तक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य किया। इसके पश्चात् आपने सागर विश्वविद्यालय और जोधपुर विश्वविद्यालय में 1970 से 1974 तक हिंदी विभाग के प्रोफ़ेसर के रूप में अध्यापन किया। बाद में आपने जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में काफ़ी समय तक अध्यापन कार्य किया। अवकाश प्राप्त करने के बाद भी आप उसी विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केन्द्र में इमेरिट्स प्रोफ़ेसर रहे। आपने आगरा विश्वविद्यालय के क.मु. हिंदी विद्यापीठ के प्रोफ़ेसर निदेशक, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय दिल्ली में भारतीय भाषा केन्द्र के संस्थापक अध्यक्ष एवं प्रोफ़ेसर तथा महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति के रूप में भी कार्य किया। आपकी प्रमुख कृतियों में 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग', 'पृथ्वीराज रासो की भाषा' जैसे शोध, 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ', 'छायावाद', 'इतिहास और आलोचना', 'कहानी : नयी कहानी', 'कविता के नये प्रतिमान', 'दूसरी परम्परा की खोज' तथा 'वाद विवाद संवाद' जैसी आलोचनाएँ, 'कहना न होगा', 'बात बात में बात' तथा 'काशी के नाम' जैसे साक्षात्कार, 'आलोचना और संवाद', 'पूर्वरंग', 'द्वाभा', 'छायावाद : प्रसाद, निराला, महादेवी और पंत', 'रामविलास शर्मा', 'संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो', 1955 में 'पुरानी राजस्थानी' तथा 'चिन्तामणि भाग–3' जैसी सम्पादित पुस्तकें शामिल हैं। आपको 1971 में "कविता के नये प्रतिमान" के लिए 'साहित्य अकादमी पुरस्कार', 1991 में हिंदी अकादमी, दिल्ली की ओर से 'शलाका सम्मान', 1993 में उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान के 'साहित्य भूषण सम्मान', उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान की ओर से 'साहित्य भूषण सम्मान', 2010 में 'पाखी' तथा इंडिपेंडेंट मीडिया इनिशिएटिव सोसायटी की ओर से 'शब्दसाधक शिखर सम्मान', 2010 में 'महावीर प्रसाद द्विवेदी सम्मान' आदि से सम्मानित किया गया।

कृष्णा सोबती

25 जनवरी, 2019 को प्रसिद्ध साहित्यकार कृष्णा सोबती का 93 वर्ष की आयु में निधन हो गया। आपका जन्म 18 फ़रवरी 1925 को गुजरात में हुआ था। आपकी रचनाओं में महिला सशक्तिकरण और स्त्री–जीवन की जटिलताओं का ज़िक्र किया गया है। आप राजनीति–सामाजिक मुद्दों पर अपनी मुखर राय के लिए भी जानी जाती है। आपने हिंदी की कथा–भाषा को विलक्षण ताज़गी दी है। आपकी भाषा संस्कार के घनत्व, जीवन्त प्रांजलता और संप्रेषण ने हमारे समय के कई पेचीदा सत्य उजागर किये हैं। आपने अपनी उपन्यासों में स्त्री–जीवन की परतों और दुश्वारियों को खोलने की कोशिश की है। आपके पात्रों के किरदार यथार्थ के काफ़ी निकट होते हैं। आपकी रचनाओं में 'बादलों के घेरे' कहानी–संग्रह, 'डार से बिछुड़ी', 'मित्रो मरजानी', 'यारों के यार', 'तीन पहाड़', 'ऐ लड़की' और 'जैनी मेहरबान सिंह' जैसी कहानियाँ, 'सूरजमुखी अँधेरे के', 'ज़िन्दगीनामा', 'दिलोदानिश', 'समय सरगम' तथा 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान' जैसे उपन्यास, 'हम हशमत', 'सोबती एक सोहबत', 'शब्दों के आलोक में', 'सोबती वैद संवाद', 'मुक्तिबोध : एक व्यक्तित्व सही की तलाश में', 'लेखक का जनतंत्र' तथा 'मार्फ़त दिल्ली' जैसे विचार–संवाद–संस्मरण तथा 'बुद्ध का कमण्डल : लद्दाख'

यात्रा–आख्यान आदि प्रमुख हैं। आपको 1980 में 'साहित्य अकादमी पुरस्कार', 1981 में 'शिरोमणी पुरस्कार', 1982 में 'हिंदी अकादमी आवर्ड', 1996 में 'साहित्य अकादमी फ़ेलोशिप', 1999 में 'कछा चूड़ामणि पुरस्कार', 2000–2001 में 'शलाका पुरस्कार' तथा 2017 में 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' आदि सम्मान से सम्मानित किया गया।

अर्चना वर्मा

16 फ़रवरी, 2019 को हिंदी की प्रसिद्ध लेखिका श्रीमती अर्चना वर्मा का 72 वर्ष की आयु में निधन हो गया। आपका जन्म 6 अप्रैल,1946 को उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद में हुआ था। आपने उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद विश्वविद्यालय से हिंदी में एम.ए. की उपाधि प्राप्त की तथा दिल्ली विश्वविद्यालय के मिरांडा कॉलिज में हिंदी विभाग में शिक्षिका थीं। आपकी रचनाओं में 'कुछ दूर तक', 'लौटा है विजेता' जैसे कविता–संग्रह, 'स्थगित', 'राजपाट तथा अन्य कहानियाँ' जैसे कहानी–संग्रह, 'निराला के सृजन सीमांत : विहग और मीन' जैसी आलोचना, स्त्री–विमर्श पर आधारित 'अस्मिता विमर्श का स्त्री स्वर' आदि शामिल हैं। आपने 'कथादेश' पत्रिका का संपादन तथा प्रसिद्ध लेखक रघुवीर सहाय के संपादन में निकलने वाली पत्रिका 'दिनमान' में पुस्तक–समीक्षा भी की। इसके अतिरिक्त आप 1986 से लेकर 2008 तक हिंदी साहित्यिक पत्रिका 'हंस' पत्रिका की संपादन सहयोगी तथा 'कथादेश' की संपादक भी रही।

श्री गिरीश कर्नाड

10 जून, 2019 को भारत के जाने–माने समकालीन लेखक, अभिनेता, फ़िल्म–निर्देशक और नाटककार गिरीश कर्नाड का 81 वर्ष की आयु में निधन हो गया। आपका जन्म 19 मई, 1938 को महाराष्ट्र के माथेरान में हुआ था। 1958 में धारवाड़ स्थित कर्नाटक आर्ट कॉलिज से ग्रेजुएशन करने के पश्चात् आप आगे पढ़ाई के लिए इंग्लैंड चले गए जहाँ आपने रोड्स स्कॉलर के रूप में कार्य करते हुए ऑक्सफ़ोर्ड के लिंकॉन तथा मॅगडेलन महाविद्यालयों से दर्शनशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा अर्थशास्त्र में स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त की। 90 के दशक की शुरुआत में आप दूरदर्शन पर विज्ञान पत्रिका 'टर्निंग प्वाइंट' के प्रस्तोता, 1963 में ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी के स्टूडेंट यूनियन का अध्यक्ष, शिकागो विश्वविद्यालय के फ़ुलब्राइट महाविद्यालय में विज़िटिंग प्रोफ़ेसर, चेन्नई की ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस आदि में कार्य किया। आपने थियेटर और रंगमंच में भी भाग लिया। आप समकालीन अवधारणाओं पर लिखते हुए इतिहास और पौराणिक कथाओं का इस्तेमाल करने के लिए जाने जाते थे। आपने ऐतिहासिक तथा पौराणिक पात्रों से तत्कालीन व्यवस्था को दर्शाने का तरीका अपनाया। फ़िल्मों में आने से पहले वह कन्नड़ भाषा में नाटक लिखते थे। उनके चर्चित नाटकों में 1961 में 'ययाति', 1964 में 'तुगलक', 'हयवदना', 'अंजु मल्लिगे', 'अग्निमतु माले', 'नागमंडल' और 'अग्नि और बरखा' शामिल हैं। 'वंशवृक्ष' नामक कन्नड़ फ़िल्म से आपने निर्देशन की दुनिया में कदम रखा। इसके बाद आपने कई कन्नड़ तथा हिंदी फ़िल्मों का निर्देशन तथा अभिनय भी किया। 1975 में 'निशांत', 1976 में 'मंथन' और 2000 में 'पुकार' 'जीवन मुक्त', 'अमरजीत', 'एक था टाइगर' तथा 'टाइगर ज़िंदा है', आदि फ़िल्मों में आपने अभिनय किया। आपको 1978 में आई फ़िल्म 'भूमिका' के लिए 'नेशनल आवर्ड', 1972 में 'संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार', 1974 में 'पद्मश्री', 1992 में 'पद्मभूषण' और 'कन्नड़ साहित्य अकादमी पुरस्कार', 1994 में 'साहित्य अकादमी पुरस्कार', 1998 में 'कालिदास सम्मान' तथा 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' और 'प्रेसिडेंट गोल्डन लोटस आवर्ड' से सम्मानित किया गया है। इसके अतिरिक्त आपको 4 'फ़िल्मफ़ेयर आवर्ड', कन्नड़ फिल्म 'संस्कार' के लिए सर्वश्रेष्ठ निर्देशक का 'राष्ट्रीय पुरस्कार' तथा कई राज्य स्तरीय तथा राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त हैं।

डॉ. शेरजंग गर्ग

22 अप्रैल, 2019 को प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ. शेरजंग गर्ग का 82 वर्ष की आयु में निधन हो गया। आपका जन्म 29 मई, 1936 को देहरादून, उत्तराखंड में हुआ था। आप हिंदी भवन के निदेशक के रूप में कार्यरत थे। आप अपनी गज़लों में व्यंग्य की प्रहारक शक्ति के प्रयोग के लिए भी प्रसिद्ध हैं तथा आपकी गज़लों में वर्तमान व्यवस्था के विरुद्ध एक सार्थक आक्रोश दिखाई देता है। आपको हिंदी साहित्य में अपने शोध प्रबंध ''स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कविता में व्यंग्य''

हेतु जाना जाता है। इस ग्रंथ को हिंदी हास्य–व्यंग्य की विधिवत आलोचना का आरंभिक बिंदु माना जा सकता है। 'चंद ताज़ा गुलाब तेरे नाम', 'क्या हो गया कबीरों को' जैसे कविता–संग्रह, 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कविता में व्यंग्य', 'व्यंग्य के मूलभूत प्रश्न', 'बाज़ार से गुज़रा हूँ', 'दौरा अंतर्यामी का', 'सुमन बालगीत', 'अक्षर गीत', 'नटखट गीत', 'गुलाबों की बस्ती', 'शरारत का मौसम', 'पक्षी उड़ते फुर–फुर', 'पशु चलते धरती पर', 'गीतों के इंद्रधनुष', 'गीतों के रसगुल्ले', 'यदि पेड़ों पर उगते पैसे', 'गीता की आंख मिचौली', 'भालू की हड़ताल', 'सिंग बड़ी सिंग', 'चहक भी ज़रूरी महक भी ज़रूरी', 'गज़लें ही गज़लें' आपकी रचनाओं में शामिल हैं। डॉ. शेरजंग गर्ग ने गद्य और पद्य दोनों में समाज सापेक्ष तथा मानवीय मूल्यों पर आधारित रचनाएँ लिखी हैं। बाल–साहित्य के प्रति आपके योगदान के लिए बालकन बारी तथा बाल भवन द्वारा सम्मान, वर्ष 2018 में 'व्यंग्य यात्रा' द्वारा आयोजित कार्यक्रम में 'प्रथम रवीन्द्रनाथ त्यागी स्मृति शीर्ष सम्मान', हिंदी में उत्कृष्ट व्यंग्य–लेखन एवं शोधकार्य के लिए आपको पहला 'व्यंग्यश्री सम्मान', बाल–साहित्य के प्रति उनके योगदान हेतु हिंदी अकादमी दिल्ली द्वारा 'साहित्यकार सम्मान' व श्रेष्ठ बाल साहित्य के लिए दो बार पुरस्कृत तथा 'काका हाथरसी हास्य रत्न सम्मान' से आपको सम्मानित किया गया।

श्री हरिपाल त्यागी

1 मई, 2019 को प्रसिद्ध कथाकार, कवि, चित्रकार, लेखक, व्यंग्यकार, कला समीक्षक और 'जनता का कलाकार' कहे जाने वाले श्री हरिपाल त्यागी का 85 वर्ष की आयु में निधन हो गया। आपका जन्म 20 अप्रैल, 1934 को जनपद बिजनौर के ग्राम महुवा में हुआ था। आर.जे.पी. से इंटर पास करने के बाद आप दिल्ली आए और वहीं आपको चित्रकारी और कविताएँ लिखने में रुचि हुई। आप एक अखबार में कार्टूनिस्ट के रूप में काम करते थे तथा बाद में आपने कई शहरों में अपनी चित्रकारी की प्रदर्शनी लगाई। आपकी रचनाओं में 'दँरी', 'खुशी' तथा 'डाइनिंग टेबिल' जैसी कहानियाँ, 'बास्सा गल्लूगिर का चोगा' जैसे कहानी–संकलन 'हूँ तो' एवं 'गुज़रता हुआ दिन' जैसी कविताएँ, 'महानगर की अधूरी इबारत' जैसे आत्मकथा, 'ननकू का पाजामा' जैसे उपन्यास, 'सुबह का गायक', 'चमकीला मोती', 'स्पाटकिस का रूपांतरण' और 'अमरफल' जैसे बाल साहित्य की पुस्तकें, 'आदमी से आदमी तक' जैसे व्यंग्य–संकलन, 'भारतीय कला : उद्भव और विकास' नामक कला आलोचना पुस्तक तथा 'महापुरुष' पुस्तक आदि शामिल हैं। व्यंग्य पर आपकी गहरी पकड़ थी, इसीलिए आप चलताऊ व्यंग्य–लेखन के कटु आलोचक रहे। 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिंदुस्तान', सारिका के साथ–साथ साहित्य की अधिकांश पत्रिकाओं में आपकी रचनाएँ व चित्र छपते रहे।

श्री लक्ष्मीधर मालवीय

10 मई, 2019 को जापान में हिंदी साहित्य के दूत श्री लक्ष्मीधर मालवीय का 85 वर्ष की आयु में निधन हो गया। आपका जन्म 1934 में प्रयागराज में हुआ था। आपकी शिक्षा काशी हिंदू विश्वविद्यालय और इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हुई तथा 1960 में राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर में अध्यापन शुरू किया। 1966 में ओसाका विश्वविद्यालय में चयन होने के बाद आप जापान पहुँचे, जिसमें आप 1990 तक विज़िटिंग प्रोफ़ेसर रहे। अवकाश प्राप्ति के बाद आपने क्योटो विश्वविद्यालय में 7 साल तक तुलनात्मक संस्कृति पढ़ाई। 2004 में अपनी आत्मकथात्मक पुस्तक 'लाई हयात आए', 'कजा ले चली चलें', 1981 में 'हिम उजास', 1982 में 'शुभेच्छू', 1985 में 'फ़ंगस', 1995 में 'मक्रचांदनी', 2007 में 'स्फ़टिक' तथा 2016 में 'आइसबर्ग' जैसे कहानी संग्रह, 1978 में 'किसी और सुबह', 1981 में 'रेतघड़ी', 1983 में 'दायरा' एवं 1985 में 'यह चेहरा क्या तुम्हारा है?'जैसे उपन्यास आपकी रचनाओं में शामिल हैं। आपने 1999 में 'श्रीपति मिश्र ग्रंथावली', 2002 में 'देव ग्रंथावली', 2008 में 'बिहारीदास की सतसई', 2010 में 'उमराव कोश' एवं 2014 में 'शब्दों का रास' का संपादन भी किया।

श्री प्रदीप चौबे

12 अप्रैल, 2019 को प्रख्यात हास्य कवि श्री प्रदीप चौबे का 69 वर्ष की आयु में निधन हो गया। आपका जन्म 26 अगस्त, 1949 को महाराष्ट्र के चंद्रपुर में हुआ था। हास्य कवि होने के

साथ आप पहले बैंक में नौकरी करते थे। 'आलपिन, 'खुदा गायब है, 'चुटकुले उदास हैं' और 'हल्के—फुल्के' आपकी रचनाओं में शामिल हैं।

श्री रामेश्वर प्रशांत

6 जून, 2019 को क्रान्तिकारी कवि व एक्टिविस्ट श्री रामेश्वर प्रशान्त का 79 वर्ष की आयु में निधन हो गया। आपका जन्म 2 जनवरी, 1940 को बेगूसराय ज़िले के सिमरिया घाट में हुआ था। 1960 से आपने काव्य—सृजन आरम्भ किया। 1972 में आप बलिया की 'युवालेखन' के प्रधान संपादक बने। काव्य—संकलन 'सदी का सूर्यास्त' तथा लघु पत्रिका 'द्वाभा' आपकी रचनाओं में शामिल हैं। आपकी रचनाएँ कई पत्र—पत्रिकाओं में छपती रहीं तथा आकाशवाणी पटना व दरभंगा से प्रसारित होती रहीं। आपको जनवादी लेखक संघ से 2002 में 'शक्र साहित्य', 2010 में 'ग्राम गौरव सम्मान' सहित कई अन्य सम्मान प्राप्त हैं।